महावीर की साधना का रहस्य

युवाचार्य महाप्रज्ञ

महावीर की साधना का रहस्य

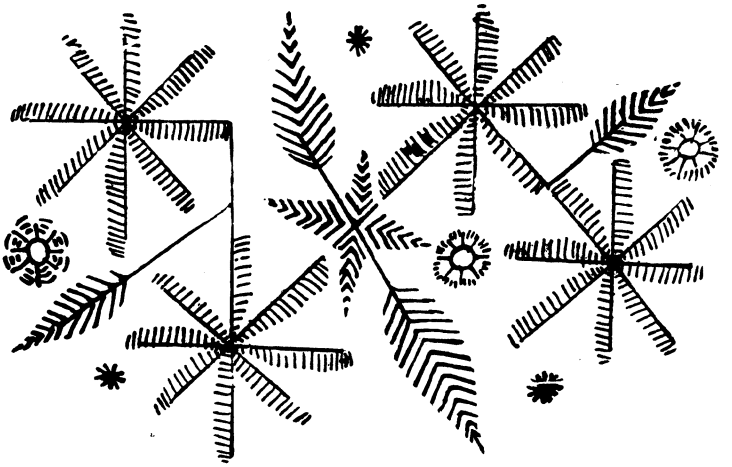

तुलसी अध्यात्म नीडम् प्रकाशन

महावीर की साधना का रहस्य

संपादक
मुनि दुलहराज

प्रकाशन सहयोग : मित्र परिषद्, कलकत्ता द्वारा स्थापित युवाचार्य महाप्रज्ञ साहित्य प्रकाशन कोश ।

चतुर्थ संस्करण : अगस्त, १९८५

मूल्य : पन्द्रह रुपये/**प्रकाशक** : तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती लाडनूं, नागौर (राजस्थान) / **मुद्रक** : जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं-३४१३०६ ।

MAHAVIR KI SADHANA KA RAHASYA
Yuvacharya Mahaprajna
Rs. 15.00

चतुर्थ संस्करण

प्रस्तुत ग्रन्थ का यह चौथा संस्करण है। इस दुनिया में कुछ आश्चर्य होते हैं। यह भी एक आश्चर्य है कि असंस्कार के लिए संस्कार का आलंबन लेना होता है। यदि कोई मनुष्य सहज ही संस्कार-शून्य हो जाए तो उसके लिए किसी संस्करण की जरूरत नहीं होती। किन्तु सहज ही ऐसा नहीं होता, इसलिए संस्करणों की जरूरत होती है। उसी जरूरत की पूर्ति प्रस्तुत ग्रन्थ कर रहा है, इसीलिए इसका चौथा संस्करण प्रस्तुत हो रहा है।

आमेट
२५ जुलाई, १९८५

युवाचार्य महाप्रज्ञ

प्राथमिकी

महावीर निश्चय और व्यवहार—दोनों नयों से सत्य का निरूपण करते थे। वे नहीं कहते थे कि भीतर ही सत्य है, बाहर सत्य नहीं है अथवा बाहर ही सत्य है, भीतर सत्य नहीं है। उन्होंने अन्तःकरण और संघ—दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित किया था। उनकी साधना का सूत्र था—भीतर को देखते हुए बाहर को देखो और बाहर को देखते हुए भीतर को देखो। सत्य का अतिक्रमण मत करो, साथ-साथ व्यवहार का भी अतिक्रमण मत करो। महावीर की हर बात में अनेकान्त होता था। साधारण पुरुष एकान्त को पसन्द करता है। इसलिए महावीर की बात को कम लोग पकड़ पाते हैं। भीतर की ओर देखने वाले इसलिए नहीं पकड़ पाये कि महावीर बाहर की ओर देखने की बात भी कहते हैं और बाहर की ओर देखने वाले इसलिए नहीं पकड़ पाये कि महावीर भीतर की ओर भी देखने की बात कहते हैं। महावीर के बाद कुछ साधकों ने केवल भीतर को ही मानदण्ड मान लिया इसलिए वे केवल अध्यात्म की भाषा में बोले। इन शताब्दियों के साधक बाहर को ही मानदण्ड मानकर व्यवहार की भाषा में बोल रहे हैं। भीतर और बाहर का सामंजस्य नहीं दिखाई देता, इसलिए अहिंसा और अपरिग्रह की परिभाषाएं जितना बाहर का स्पर्श करती हैं, उतना भीतर का नहीं करतीं। आज के बहुत सारे जैन लोग महावीर की ध्यान-पद्धति को नहीं जानते और बहुत सारे यह भी नहीं जानते कि जैन साधना-पद्धति में ध्यान का बहुत बड़ा स्थान रहा है। इतनी बड़ी विस्मृति का हेतु एकांगी दृष्टिकोण ही है।

जो अज्ञात है, वह सब रहस्य है। जो ज्ञात होने पर भी सार्वजनिक रूप से प्रकाशित नहीं होता, वह भी रहस्य होता है। साधना दोनों अर्थों में रहस्य है। भगवान् महावीर के युग में जो साधना-सूत्र ज्ञात थे, वे आज समग्रतया ज्ञात नहीं रहे, इसलिए वे अज्ञात हैं। साधना के कुछ सूत्र व्यक्तिशः ज्ञापनीय होते हैं, इसलिए वे सार्वजनिक रूप में ज्ञात नहीं हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन साधना-सूत्रों के स्पर्श का प्रयत्न है, जो अज्ञात से ज्ञात के तल पर आ गए हैं

और सबके लिए उपयोगी हैं। भगवान् महावीर की स्मृति का, मेरी दृष्टि में, यह सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। अर्हत् का ध्यान कर अर्हत् बनना या अर्हत् बनकर अर्हत् के स्वरूप को पहचानना ही साधना का रहस्य है।

साधना के क्षेत्र में शरीर, श्वास, वाणी और मन सबको साधना जरूरी है। इनकी साधना के कुछ मर्म हैं, जिनका प्रस्तुत पुस्तक में उद्घाटन किया गया है।

वि० सं० २०२८ में जैन विश्व भारती, लाडनूं द्वारा आयोजित साधना-शिविर में दिये गये वक्तव्य तथा कुछ निबन्ध भी इसमें संकलित हैं। आचार्यश्री तुलसी की सहज प्रेरणा इस दिशा में रही और वह फलवती बनी। अभी इस दिशा में बहुत करणीय है। पथ बहुत लम्बा है और बहुत चलना है। किन्तु पथ और जंघाबल प्राप्त हो तो गंतव्य दूर नहीं हो सकता। मुझे विश्वास है कि एक दिन निश्चित ही हम ध्यान के उस बिन्दु पर पहुंच जायेंगे, जिस पर भगवान् महावीर और उनके साधु अवस्थित थे।

जैन ध्यान-पद्धति के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार चल रहे हैं। कुछ लोग मानते हैं—जैनों की अपनी कोई मौलिक ध्यान-पद्धति नहीं रही। यह मान्यता इसलिए बन जाती है कि वर्तमान में जैन परम्परा में यर्दकिंचिद् ध्यान का प्रयोग चल रहा है, वह उत्तरकालीन ध्यान-पद्धतियों का प्रतिफलन है। गत वर्ष (सन् १९७४) दिल्ली में साहू शान्तिप्रसादजी जैन आचार्यश्री तुलसी के पास आए। मैं भी वहीं उपस्थित था। उक्त विषय पर चर्चा चली और जैन ध्यान-पद्धति का ऐतिहासिक विश्लेषण करने के लिए चार गोष्ठियों के आयोजन का निश्चय हुआ। आचार्यश्री के सान्निध्य में संपन्न उन गोष्ठियों के वक्तव्य भी इस संकलन में संकलित हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में संकलित निबन्धों और भाषणों का संकलन कर उन्हें पुस्तक का रूप मुनि दुलहराजजी ने दिया है। इनके सम्पादन का श्रम मेरे सारे श्रम को कम कर देता है। इस कार्य के लिए उन्हें साधुवाद देना पर्याप्त नहीं होगा।

आचार्यश्री की 'मनोनुशासनम्' और मेरी पुस्तक 'चेतना का ऊर्ध्वारोहण' के पठन से भगवान् महावीर की साधना के जिज्ञासु पाठकों में जो रुचि जागृत हुई, उसी के पूर्तिक्रम में प्रस्तुत पुस्तक का योग होगा।

ग्रीन-हाउस, सी-स्कीम,
जयपुर
२ अक्तूबर, १९७५

युवाचार्य महाप्रज्ञ

संकेतिका

१ : आत्मा का जागरण

१. साधना का अर्थ १
२. जागरिका १३
३. शरीर का मूल्यांकन ३२
४. शरीर का संवर ४३
५. प्राण ५६
६. श्वास-संवर ६५
७. इंद्रिय-संवर ७७
८. वाक्-संवर-१ ९०
९. वाक्-संवर-२ १००
१०. मन १११
११. मन का विलय ११९
१२. मनोविज्ञान और चरित्र-विकास १२६
१३. भोजन का विवेक १३८

२ : आत्मा का साक्षात्कार

१. ध्यान १४७
२. ध्यान और कायोत्सर्ग १५४
३. ध्यान-साधना का प्रयोजन १७५
४. ध्यान-साधना की निष्पत्ति १७७
५. आत्मा का साक्षात्कार १७९
६. साधना का मूल्य : आंतरिक जागरूकता १८८

३ : समाधि

१. सामायिक समाधि १९९
२. विनय समाधि २०९
३. ज्ञान समाधि २१९

४. तप समाधि २२९
५. दर्शन समाधि २४८
६. चारित्र समाधि (आध्यात्मिक प्राणायाम) २५५

४ : इतिहास के सन्दर्भ में

१. जैन परम्परा में ध्यान : एक ऐतिहासिक विश्लेषण-१ २६७
२. जैन परम्परा में ध्यान : एक ऐतिहासिक विश्लेषण-२ २७९
३. जैन परम्परा में ध्यान : एक ऐतिहासिक विश्लेषण-३ २८७
४. जैन परम्परा में ध्यान : एक ऐतिहासिक विश्लेषण-४ २९५
५. प्राणायाम : एक ऐतिहासिक विश्लेषण ३००

१
आत्मा का जागरण

१ साधना का अर्थ

शिष्य ने पूछा—"गुरुदेव ! आपको साधना करते बहुत लम्बा समय हो गया है। इतने लम्बे समय में आपने क्या पाया ?"

"कुछ भी नहीं"—गुरु ने उत्तर दिया, "बहुत कुछ खोया है, पाया कुछ भी नहीं।"

बड़ा विचित्र उत्तर था। सब कुछ खोया ही खोया। यह साधना के प्रति निराशा उत्पन्न करने वाला उत्तर है, क्योंकि हर आदमी पाने की चेष्टा करता है। जहां खोने की बात होती है, वहां जाना ही नहीं चाहता। गुरु का उत्तर दुनिया की आकांक्षा से बिलकुल उल्टा था। उन्होंने कहा—"आज तक मैंने जो साधना की उसमें खोया ही खोया। अब तक खोता चला जा रहा हूं। खोना ही मेरी साधना है।" यह समझ में आने वाली बात नहीं है। जो आदमी व्यवहार की बात सोचता है और व्यवहार की भाषा बोलता है, वह उसे समझ ही नहीं सकता। कोई समझ सके या न समझ सके किन्तु गुरु ने बहुत बड़े सत्य को छोटे से उत्तर में प्रकट कर दिया।

हमें पाना कुछ भी नहीं है। हम जो पाना चाहते हैं, वह हमारे पास है। वह हमारे भीतर पहले से ही विद्यमान् है। हमें बाहर से कुछ भी नहीं लेना है। जो बाहर से लेता है, वह खाली हो जाता है। आपने देखा होगा, रहट की डोलियां बाहर से पानी लेती हैं और थोड़ी देर बाद पानी को नीचे उंड़ेल देती हैं। वे भरती हैं और खाली हो जाती हैं। फिर भरती हैं और फिर खाली होती हैं। जो लेता है, उसे छोड़ना ही पड़ता है। हम खाते हैं तो हमें उत्सर्ग करना ही पड़ता है। हमारी उपलब्धि इतनी क्षणिक हो कि हमने कुछ पाया और कल ही उसे खो देना है तो उस उपलब्धि का हमारे लिए क्या उपयोग है ? हम क्षणिक के लिए जीवन का समर्पण नहीं कर सकते। उसका समर्पण शाश्वत के लिए ही किया जा सकता है। शाश्वत को पाने का एक ही मार्ग है और वह है—खोना और खोना यानी निर्जरा करना।

हम जानते हैं कि निर्जरा मोक्ष का मार्ग है, आत्मा को पाने का उपाय है। उसका अर्थ है—खोना, छोड़ना, त्यागना।

पानी तरल है। ठंड के एक बिन्दु पर वह बर्फ हो गया। पहले पानी था, अब बर्फ है। पानी और बर्फ—दोनों एक नहीं हैं। बर्फ पानी से बनी है, किन्तु पानी और बर्फ एक नहीं हैं। आप पानी के गिलास में बर्फ की एक डली को डालिए, पानी अलग रहेगा और बर्फ अलग रहेगी। वह डूबेगी नहीं, पानी के ऊपर रहेगी। बर्फ ऊपर है और पानी चारों ओर फैला हुआ है। बर्फ का स्वरूप अलग लग रहा है और पानी का स्वरूप अलग लग रहा है। हमारा मन भी न जाने कितनी बार एक बिन्दु पर पहुंचकर बर्फ बन जाता है। मन में कोई कल्पना उठती है। उसके बाद वह इच्छा बनती है। इच्छा आशा और आशा वासना बन जाती है। वासना बनी कि बर्फ बन गयी। फिर आदमी अलग हो गया। वासना अलग हो गयी। वह आदमी के भीतर है, पर आदमी अलग दिखाई देता है और वासना अलग दिखाई देती है। हर आदमी के दो रूप हैं—द्रव्यात्मा और भावात्मा। द्रव्यात्मा उसका अस्तित्व है। भावात्मा अस्तित्व के सागर में उठने वाली लहरें हैं। अस्तित्व के बिना परिणमन नहीं होता। जल न हो तो तरंगें नहीं हो सकतीं। तरंगें तब ही होती हैं जब कि जल है। आपने कभी नहीं देखा होगा कि जल तो नहीं है और तरंगें हैं। हमारा अस्तित्व न हो तो हमारी कोई परिणति नहीं हो सकती। हमारी परिणति होती है, हम बदलते हैं, उसका मूल है हमारा अस्तित्व। दुनिया में कोई भी अस्तित्व ऐसा नहीं है, जहां परिणमन न हो और कोई भी परिणमन ऐसा नहीं हैं, जिसके नीचे अस्तित्व न हो। अस्तित्व और परिणमन—दोनों साथ-साथ चलते हैं। अस्तित्व अव्यक्त रहता है और परिणमन व्यक्त होता है। जिसे हम देखते हैं, वह परिणमन है। अस्तित्व को हम इन चर्म-चक्षुओं से नहीं देख पाते। तो फिर हमारा साध्य क्या है—परिणमन या अस्तित्व ?

व्यक्ति के प्रति हमारे मन में जिज्ञासा नहीं हैं। उससे हम बहुत परिचित हैं। अस्तित्व से परिचित नहीं हैं। उसके प्रति हमारे मन में जिज्ञासा है। हम उसका साक्षात् करना चाहते हैं। हम बहुत रूपों में बदलते-बदलते श्रान्त हो चुके हैं। हम विश्रान्ति चाहते हैं। बहुत रूपों में होने की अपेक्षा केवल 'होना' चाहते हैं। अस्तित्व का अर्थ केवल 'होना' है और केवल 'होने' का मतलब शेष को खोना है। जब तक हम शेष को नहीं खो देंगे तब तक केवल 'होने' की स्थिति में नहीं पहुंच पाएंगे।

हमारा अस्तित्व वासना की शैवाल से ढंका हुआ है। भीतर के ज्योति-

कण बाहर को प्रकाशित नहीं कर पा रहे हैं और बाहर खड़े लोग भीतर की ज्योति को नहीं पहचान पा रहे हैं। ज्योति के होते हुए अंधकार है और उस अंधकार में वे सब लोग भटक रहे हैं जो 'होने' का रहस्य नहीं जानते, शैवाल को समाप्त करने का उपाय नहीं जानते।

हमारी परिणति बहुत विचित्र है। हम आंतरिक वासना से भी बदलते हैं और बाहरी प्रभावों से भी बदलते हैं। भीतर के द्वार भी खुले हैं और बाहर के द्वार भी खुले हैं। द्वार खुले होते हैं तब कोई भी आ-जा सकता है। द्वार से आदमी भी आ सकता है और गधा भी आ सकता है। हवा भी आ सकती है और धूल भी आ सकती है। हम अपने जीवन में हजारों-हजारों व्यक्तियों से प्रभावित होते हैं। हजारों घटनाओं, वस्तुओं और विचारधाराओं से प्रभावित होते हैं और इतने प्रभावित होते हैं कि उनकी धारा में बह जाते हैं। प्रभावित होने का क्रम निरन्तर चलता है, कभी नहीं रुकता। हमारे जीवन का एक क्षण भी ऐसा घटित नहीं होता कि जिसमें हम प्रभावित नहीं होते। जिससे हम प्रभावित होते हैं, वैसे ही बन जाते हैं। आदमी क्रोध करता है। हम समझते हैं कि आदमी क्रोध कर रहा है। यह स्थूल समझ है। सचाई नहीं है। सचाई यह है कि आदमी क्रोध नहीं करता। आदमी क्रोध होता है। आदमी अभिमान नहीं करता। आदमी अभिमान होता है। क्रोध करने वाला कोई दूसरा और क्रोध कोई दूसरा—ऐसा कभी घटित नहीं होता। आदमी और क्रोध अभिन्न हैं। आदमी स्वयं क्रोध है। और यदि आदमी क्रोध न हो तो क्रोध हो ही नहीं सकता। क्रोध की चेतना इतनी तन्मय होती है कि आदमी और क्रोध दो नहीं रहते। आदमी स्वयं क्रोध होता है, तभी उसमें क्रोध प्रकट होता है। हमारी जो भी परिणति होती है, वह चेतना की तन्मयता के साथ होती है। आचार्य भद्रबाहु ने स्थूलभद्र की बहनों से कहा—"तुम्हारा भाई गुफा में ध्यान कर रहा है। वहां जाओ, तुम उसे देख आओ।" वे गयीं। उन्होंने देखा, गुफा में सिंह बैठा है। भाई कहां है? बहुत घबरा गयीं। घबरायी हुयी आयीं और बोलीं—"गुरुदेव, अनर्थ हो गया।" "क्या हुआ?" गुरुदेव ने पूछा। वे बोलीं—"हमारे भाई को सिंह खा गया।" गुरु ने कहा—"यह कैसे हो सकता है? मैं उसे देख रहा हूं कि वह गुफा में ध्यान कर रहा है।" उन्हें विश्वास नहीं हुआ। वे अभी-अभी गुफा में सिंह को देखकर लौटी हैं। सिंह और भाई, दोनों एक साथ नहीं हो सकते। आदमी और सिंह—दोनों एक गुफा में कैसे रह सकते हैं? आचार्य ने कहा—"फिर जाओ,

तुम्हारा भाई मिल जाएगा।" वे फिर गयीं। उन्हें आश्चर्य हुआ कि गुफा में स्थूलभद्र ध्यान-मुद्रा में बैठा है। यह कैसे हुआ ? कुछ क्षण पहले गुफा में सिंह था, अब भाई है। सिंह कोई नहीं था। **स्थूलभद्र** ही तब का सिंह था और तब का सिंह ही अब **स्थूलभद्र** है।

मनुष्य की धारणा तन्मयता के उत्कृष्ट बिन्दु पर पहुंचती है तब मनुष्य वही बन जाता है जैसी उसकी धारणा होती है।

भगवान् महावीर ने कहा—"यह पुरुष अनेक चित्त वाला है। हजारों-हजारों चित्त हमारे पास होते हैं। एक चित्त से हम एक बात करते हैं तो दूसरे चित्त से हम दूसरी बात करते हैं।" पिता ने बच्चे से कहा—"घर से बाहर नहीं जाना है।" अब बच्चा क्या करेगा ? जैसे ही देखेगा कि पिता नहीं देख रहा है, वह बाहर चला जाएगा। उसका एक चित्त रुक रहा है कि घर के बाहर नहीं जाना चाहिए और दूसरा चित्त बाहर जाने को उत्सुक हो रहा है। वह दोनों चित्तों से काम लेता है। पिता देखता है तब घर से बाहर नहीं जाता और वह नहीं देखता तब घर से बाहर चला जाता हैं। हम अपने जीवन की हर घटना में देखें और विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि हम हजारों चित्तों का जीवन जीते हैं। डॉक्टर ने मनाही की—"मिठाई नहीं खानी है।" घर में मिठाई बनी है। सब लोग खा रहे हैं। जिसे मिठाई खाने की मनाही है, वह एक चित्त से मिठाई नहीं खा रहा हैं और दूसरे चित्त से मिठाई खा रहा है। यह टूटे हुए चित्त की स्थिति है। यह विभक्त व्यक्तित्व है। (जिनका मन एकाग्रता के बिन्दु पर नहीं पहुंचा है, वे सब लोग खण्डित जीवन जीते हैं) समग्रता का जीवन वे ही जी सकते हैं, जिन्होंने एकाग्रता की साधना की है। यदि मुझसे कोई पूछे कि साधना की परिभाषा क्या है, मैं इसका सीधा और सरल उत्तर दूंगा कि साधना की परिभाषा है—चित्त की अखण्डता का अभ्यास। खण्ड-खण्ड में बंटे हुए चित्त को जोड़कर अखण्ड कर लेना ही साधना है। चेतना की अखण्डता सधती है तब व्यक्ति के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। आज हमारी सारी उलझनें इसीलिए बढ़ रही हैं कि हमारी चेतना अनगिन खण्डों में विभक्त है। एक खण्ड इधर तानता है तो दूसरा खण्ड उधर। चित्त के अनेक खण्ड हैं और जितने खण्ड हैं, उतने ही आकर्षण। एक व्यक्ति भीतर बैठा है। उसने बाजे का शब्द सुना, तत्काल बरामदे में आकर खड़ा हो गया। वह आराम से भीतर बैठा था। बरामदे में धूप में आकर क्यों खड़ा हुआ ? चित्त के एक खण्ड ने उसे खींचा और वह बाहर

आ गया। कभी सुगन्ध खींचती है, कभी रस खींचता है और कभी स्पर्श। कभी प्रशंसा खींचती है तो कभी निन्दा। हजारों रस्सियों से बंधा हुआ मनुष्य कितना दयनीय है! जिस रस्सी का खिंचाव हुआ, उधर ही वह लुढ़क जाता है। एक पुरानी कहानी है—

एक श्रेष्ठी के दो पत्नियां थीं। दो पत्नियों का होना और लड़ाई होना दो बातें नहीं हैं। वह बारी-बारी से दोनों के पास जाता था। एक नीचे तल में रहती थीं और दूसरी ऊपर तल में। एक दिन भूल हो गयी और वह ऊपर जाने के लिए सीढ़ी पर चढ़ने लगा। बारी नीचे वाली की थी। उसने पैर पकड़ लिया। 'ऊपर कैसे जाते हो? आज बारी नहीं है।' ऊपर वाली को पता चला। उसने हाथ पकड़ लिया। 'ऊपर चढ़ गए, अब नीचे कैसे जाओगे?' ऊपर से हाथ खींचा जा रहा है और नीचे से पैर खींचे जा रहे हैं। एक ऊपर की ओर खींचती है और एक नीचे की ओर। इस खींचतान में श्रेष्ठी का शरीर छिल गया। दोनों ओर की खींचातानी ने उसकी हालत बुरी बना दी।

उन लोगों की क्या हालत होती होगी जो चारों ओर से खींचे जाते हैं। इस स्थिति में चेतना की सघनता, अखण्डता, एकाग्रता या तन्मयता प्राप्त करने का मूल्य हम समझ सकते हैं।

चित्त की अखण्डता आत्म-साधक के लिए ही आवश्यक नहीं है, उन सबके लिए आवश्यक है जो कला, शिल्प, गणित, अनुसंधान या किसी भी विषय में सफलता के शिखर पर पहुंचना चाहते हैं। विश्व के इतिहास में देखिए, वे ही व्यक्ति सफलता के शिखर पर पहुंचे हैं, जिन्होंने चित्त को एक बनाने का प्रयत्न किया है।

समग्रता से कार्य करने वाला अपने कार्य में सफल होता है। फिर चाहे वह लक्ष्यवेधी हो या आत्मवेधी। हम लोग क्रोध से इसीलिए मुक्ति नहीं पा रहे हैं कि हम समग्रता से क्रोध नहीं करते। समग्रता से क्रोध करने वाले क्रोध से मुक्ति पा जाते हैं। किन्तु जो क्रोध में पूरे तन्मय नहीं होते वे उससे मुक्ति नहीं पा सकते। खाते हैं तो भी समग्रता से नहीं खाते। किसी से लड़ते-झगड़ते हैं तो भी समग्रता से नहीं लड़ते-झगड़ते। बहुत बार ऐसा कहते हैं कि एक बार पूरा लड़ो ताकि बार-बार लड़ना न पड़े। किन्तु पूरा लड़ना जानते ही नहीं। सारे कार्य आधे-आधे करते हैं। इसलिए उस कार्य से हमें मुक्ति नहीं मिलती। आधे कार्य से तृप्ति नहीं होती। और तृप्ति हुए बिना मुक्ति नहीं

होती। तृप्ति होती है तब कार्य पूरा हो जाता है। यह सब खण्ड-चेतना की लीला है।

चेतना की अखण्डता के लिए हम क्या करें? और कुछ न करें, केवल दिशा बदल दें। हमारी चेतना दूसरों तक पहुंचती है। मैं सामने बैठे आदमी को देख रहा हूं। उसके साथ मेरा संपर्क स्थापित हो गया। इसका माध्यम है—आंख। मैं एक आदमी को सुन रहा हूं। उसके साथ मेरा संपर्क स्थापित हो गया। इसका माध्यम है—कान। हमारी इन्द्रियां दूसरों के साथ संपर्क स्थापित करती हैं। संपर्क स्थापित होता है तब हमें द्वैत की अनुभूति होती है। जहां द्वैत की अनुभूति होती है, वहां राग भी होता है, द्वेष भी होता है, और भी बहुत कुछ होता है। सघन अंधकार है। कुछ भी दिखाई नहीं देता। एक आदमी बैठा है। थोड़ी दूर पर कोई दूसरा आदमी बैठा है। दोनों गुनगुना रहे हैं। दोनों एक-दूसरे की उपस्थिति से अभय हैं। गुनगुनाने का शब्द नहीं होता तो अकेला आदमी अंधेरे से डर जाता, चाहे पास में कोई दूसरा बैठा हो। दूसरे का पास में होना एक बात है और दूसरे के साथ संपर्क हो जाना दूसरी बात है। संपर्क के अभाव में हर व्यक्ति अकेला है। संपर्क के माध्यम से वह द्वैत में चला जाता है। व्यवहार के मंच पर द्वैत का अर्थ दो का होना नहीं किन्तु संपर्क का होना है। संपर्क का पहला सूत्र है—इन्द्रिय। धर्म के लोग कहते हैं, इन्द्रियां बहुत अनिष्ट हैं। वे हमारी चेतना को खण्ड-खण्ड कर बाहर ले जाती हैं, हमें भटकाती हैं और उलझाती हैं। अब क्या करें? क्या आंख को फोड़ डालें? कान के परदे को फाड़ डालें? हिन्दुस्तान में धर्म की कुछ ऐसी ही धाराएं रही हैं, जिन्होंने साधना के लिए आंख को फोड़ने की बात कही थी। किन्तु इसका बहुत गहरा अर्थ नहीं है। आंख को फोड़ना साधना नहीं है। साधना का अर्थ है—आंख की दिशा का परिवर्तन, आंख के माध्यम से बाहर जाने वाली चेतना के आकर्षण का परिवर्तन।

आप सूर्य की ओर पीठ कर खड़े हैं। सूर्य आपको दिखायी नहीं देगा। थोड़े घूम जाएं, पश्चिम से पूर्व की ओर हो जाएं, सूर्य दीखने लग जाएगा। यह केवल दिशा का परिवर्तन है। दिशा विमुख थी, सूर्य नहीं दीख रहा था। दिशा बदली, सूर्य दीखने लग गया। साधना के लिए भी दिशा-परिवर्तन करना है। जो चेतना बाहर की ओर जा रही है, उसे समेटकर भीतर की ओर ले जाना है। चेतना की दिशा बदली, फिर रूप को छोड़ने की जरूरत नहीं, उससे घृणा करने की जरूरत नहीं। हर व्यक्ति के भीतर एक सुन्दरतम

रूप है। आंख उसे देख लेती है, तब बाहरी रूप का आकर्षण अपने आप कम हो जाता है। जो आकर्षण बाहर था, वह भीतर चला जाता है। यदि रस आपको आकर्षित कर रहा है तो उससे घृणा करने की आवश्यकता नहीं है। जो रस बाहर है, उससे कहीं अधिक मनोज्ञ रस आपके भीतर है। उसके साथ जीभ का योग कर दीजिए, दिशा बदल जाएगी, रस का बाहरी आकर्षण अपने आप समाप्त हो जाएगा।

साधना का अर्थ है—दिशा का परिवर्तन। हम दिशा-परिवर्तन को समझ लें, उसकी प्रक्रिया और स्थिति को समझ लें तो हमारे लिए कोई कठिनाई नहीं है। दिशा-परिवर्तन को नहीं समझने के कारण हम बहुत सारी वासनाओं के शिकार होते रहते हैं। मनुष्य में दो प्रकार के धर्म (गुण) होते हैं—एक भावात्मक (Positive) और एक अभावात्मक (Negative)—धन-शक्ति और ऋण-शक्ति। इन दोनों के द्वारा हमारा जीवन संचालित होता है। इस विषय में आज के विज्ञान ने बहुत खोजें की हैं। स्त्री क्यों बनती है—इस पर अनुसंधान किया गया। एक जातक पुरुष बनता है तो दूसरा जातक स्त्री बनती है। यह अन्तर क्यों? सब जातक पुरुष क्यों नहीं बन जाते या सब-के-सब स्त्री क्यों नहीं होते? इस पर खोज करते समय जो तथ्य सामने आए वे साधना की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। पुरुष में पुरुषत्व और स्त्रीत्व—दोनों हैं। एक मनुष्य पुरुष है। क्या आप समझते हैं कि जो पुरुष है, वह केवल पुरुष ही है? बात ऐसी नहीं है। जो पुरुष है, वह स्त्री भी है और जो स्त्री है, वह पुरुष भी है। कर्मशास्त्र की भाषा में तीन वेद होते हैं—पुरुष वेद, स्त्री वेद और नपुंसक वेद। ये तीनों वेद हर व्यक्ति में मिलते हैं। एक प्रकट होता है और दो अप्रकट रहते हैं। जिसमें पुरुष के गुण-धर्म व्यक्त होते हैं, वह पुरुष कहलाता है, किन्तु उसमें स्त्री के गुण-धर्म भी विद्यमान हैं। कुछ पुरुष प्रकृति से ही स्त्री बन जाते हैं और कुछ स्त्रियां प्रकृति से ही पुरुष बन जाती हैं। शल्य-चिकित्सा के द्वारा भी ऐसा परिवर्तन हो रहा है। इसका रहस्य यही है कि जो गुण-धर्म व्यक्त होते हैं, वे अव्यक्त हो जाते हैं और जो अव्यक्त होते हैं, वे व्यक्त हो जाते हैं। जन्मना जो स्त्री होती है, उसके स्त्री होने की एक लम्बी शृंखला है—जन्म-जन्मान्तर की शृंखला है। इसे मैं एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करना चाहूंगा। एक व्यापारी है। वह बहुत व्यस्त है। प्रातःकाल दूकान में जाकर बैठता है। सारे दिन धन्धा करता है। ग्राहकों से माथापच्ची करता है। बही खातों को उलटता-पलटता है।

दिनभर परिश्रम से थककर चूर हो जाता है। शाम को घर आता है। वह देखता है कि स्त्रियां घर में बैठी हैं। कोई मित्र आता है और पूछता है—'बहुत थके हुए दिखायी दे रहे हो?' यह खीज के साथ उत्तर देता है—'पुरुष होना अपराध है। पुरुष और माथापच्ची—दोनों एक साथ चलते हैं। कितना अच्छा है स्त्री होना! कितना अच्छा होता यदि मैं स्त्री होता! दूकान में जाना नहीं। बही खातों की परेशानी नहीं। ग्राहकों की माथापच्ची नहीं। राज्य के कर्मचारियों की जी-हुजूरी नहीं। कमाने की चिंता नहीं। कोई झंझट नहीं। कितना अच्छा है स्त्री होना! हे भगवान्! मैं भी स्त्री होता! बहुत अच्छी बात है स्त्री होना। पुरुष होना बड़ा झंझट है।' उसने यह बात बहुत साधारण भाव में कही। किन्तु वह कल्पना उसके मन में घर कर गयी। दूसरे दिन फिर घर जाता है और वही बात कहता है। कल्पना पुष्ट होती है। बाहर में वह कहता है और उसके अन्तर् में स्त्रीत्व का गुण-धर्म प्रकट होना प्रारम्भ हो जाता है। कल्पना की प्रबलता हो तो संभव है उसी जन्म में वह स्त्री बन जाए। यदि कल्पना अपेक्षित प्रबल न हो तो वह अगले जन्म में, दूसरे-तीसरे या चौथे जन्म में निश्चित ही स्त्री बन जाएगा। उसका भावात्मक धर्म (पुरुष गुण-धर्म) प्रबल था, वह अभावात्मक धर्म (स्त्री गुण-धर्म) के द्वारा प्रभावित होते-होते अपनी सत्ता को बदल देता है या उसकी सत्ता बदल जाती है। स्त्री धर्म की अभावात्मक सत्ता उसमें प्रकट होने लग जाती है और एक बिन्दु ऐसा आता है कि वह अभावात्मक सत्ता भावात्मक बन जाती है तथा भावात्मक सत्ता अभावात्मक सत्ता के रूप में बदल जाती है। यह मानवीय कल्पना और उसकी परिणति का चमत्कार है। हम भावात्मक गुण-धर्म को छोड़कर अभावात्मक गुण-धर्मों की ओर ध्यान देते हैं तब वे हमें प्रभावित करने लग जाते हैं। आदमी समझता नहीं है वह बिना सोचे-समझे कुछ बुरी बातें कह देता है और वे बुरी बातें उसके जीवन में घटित होने लग जाती हैं। कोई आदमी बच्चों को डराने के लिए कह देता है—'ऐसा मत करो, मैं तुम्हें मार डालूंगा।' यह बहुत भयंकर बात है। सामान्य-सी बात लगती है किन्तु वही बात दो-चार दस बार उसके मुंह से निकलती है और गहरी जड़ जमा लेती है। फिर यह छूटती नहीं। कोई क्षण वैसा आता है कि सचमुच वह उस बच्चे को मार ही डालता है। हमारी चेतना की परिणतियां बहुत विचित्र हैं। इतनी विचित्र हैं कि यदि हम उनके प्रति पूर्ण जागरूक नहीं रहते हैं तो हम स्वयं अपने ही लिए खतरा पैदा कर

लेते हैं।

इस चर्चा के बाद मुझे यह बहुत स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं रहेगी कि साधना की हमारे जीवन में क्या अपेक्षा है। कोई पीतल का बर्तन घिस गया। उस पर मैल जम गया। अब जरूरत क्या है? उसकी चमक खो गई। उस चमक को पाना है तो उसकी घिसाई करनी होगी। जैसे ही घिसाई की, चमक लौट आयी। वह गई नहीं, दब गई थी। घिसाई की और वह लौट आयी। हमारी चेतना की चमक घिस जाती है, खो जाती है। हम थोड़ी घिसाई करते हैं, सफाई करते हैं, वह फिर लौट आती है। हम अपनी शक्तियों को नहीं जानते। उनकी ओर पीठ किए चलते हैं। अपनी शक्तियों से परिचित न होना कितना आश्चर्य है। अरनी की लकड़ी सामने है। पता नहीं चलता कि उसमें कोई तेज है। किन्तु उन लकड़ियों का थोड़ा-सा घर्षण होता है, तेज फूट पड़ता है। आग निकल आती है। वह आग कहीं बाहर से नहीं आती। वह लकड़ियों के भीतर है। थोड़े से घर्षण की जरूरत थी। वह हुआ और आग प्रकट हो गयी। हम भी थोड़ा घर्षण करना सीखें। थोड़ा खोना सीखें। इतना कूड़ा-करवट जमा हो गया है, उसे खोना है। खोना जीवन की बहुत बड़ी सफलता है और वह हमारी सबसे बड़ी साधना है। इसीलिए आचार्य ने कहा—'मैंने साधना करते-करते खोया है, खोता चला जा रहा हूं और खोता ही रहूंगा। पाना कुछ भी नहीं है, जितना ज्ञान है, वह सारा आपके भीतर है। जितना दर्शन है, वह सारा का सारा आपके भीतर है। जितनी शक्ति और जितना आनन्द है, वह पूरा का पूरा आपके भीतर है। कोई भी महान् उपलब्धि ऐसी नहीं है जो हमें बाहर से मिले। किन्तु कोई भी उपलब्धि उस व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती जो खोना नहीं जानता, निर्जरा करना नहीं जानता।

लक्ष्य के प्रति चेतना की समग्रता आते ही खोने का रास्ता साफ हो जाता है। आचार्य भिक्षु जब साधना के तट पर चले तब उनके सामने कोई प्रलोभन नहीं था। वे जिस संघ में थे, उसमें उनका अग्रणी स्थान था, शीर्ष स्थान था। फिर भी वे उसे छोड़ दूसरे मार्ग पर चल पड़े। सामने पहाड़ियां, ऊबड़-खाबड़ जमीन, खोहें और गड्ढे। लोगों ने कहा—"ऐसा क्यों? यह कैसी समझदारी? इतनी सुख-सुविधाओं को छोड़ ऐसा विषम मार्ग क्यों चुना? आप क्या सुख पायेंगे?" **भिक्षु स्वामी** ने कहा—**"भले प्राण चले जाएं, पर मैं इस मार्ग पर चलूंगा। जयाचार्य** ने लिखा है—**"मरण धार शिव मग**

लह्यो।" भिक्षु स्वामी मरण को स्वीकार कर साधना के मार्ग पर चले। यह क्यों? इसका उत्तर है—उनकी चेतना की समग्रता या अखंडता। उनकी चेतना लक्ष्य पर इतनी अखण्ड हो गयी कि उसके सिवाय कोई दूसरा विकल्प शेष नहीं रहा। जब मन में कोई दूसरा विकल्प होता है तब आदमी चुनाव करता है और वह उस मार्ग को चुनता है जो अधिक सुखद होता है। निर्विकल्प चेतना कोई चुनाव नहीं करती। वह जिस दिशा में चल पड़ती है, उस दिशा के पार पहुंच जाती है।

जिस दिन लक्ष्य के प्रति चेतना की अखण्डता प्राप्त हो जाती है, उस दिन साधना का प्रश्न समाहित हो जाता है। वह अखण्डता पाने की आकांक्षा में नहीं होती। हम पाने की आकांक्षा में दौड़ते हैं। साधना इसलिए करते हैं कि यह मिल जाए, वह मिल जाए। जब तक 'मिलने' का विकल्प शेष रहता है तब तक निर्विकल्प साधना का मर्म हम नहीं समझ पाते। जिस दिन पाने की बात को छोड़कर मरने की या खोने की बात समझ लेंगे, उस दिन सही अर्थ में साधना का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा।

• क्या साधना का उद्देश्य चेतना को केन्द्रित करना ही है या कुछ और भी?

यह सही है कि बिखरी हुई चेतना को समेटना, खण्ड-खण्ड में बंटी हुई चेतना को अखण्ड करना—साधना का उद्देश्य है। विशेष परिस्थिति में मनुष्य बटोरता है। शक्ति को बटोरकर ही आदमी बड़ा काम कर सकता है। उसे बटोरे बिना कोई बड़ा काम नहीं कर सकता। साधना का पहला और अन्तिम अर्थ है—चेतना को बटोरना और चेतना के खण्डों को जोड़-जोड़कर अखण्ड कर देना। चेतना को अखण्ड बनाने के उद्देश्य में अन्य पारमार्थिक उद्देश्य सहज ही जुड़े हुए हैं।

० भावात्मक और अभावात्मक चेतना से आपका तात्पर्य क्या है? क्या ये दोनों हर व्यक्ति में होते हैं?

स्त्री में स्त्री के गुण-धर्म भावात्मक चेतना और स्त्री में पुरुष के गुण-धर्म अभावात्मक चेतना है। पुरुष में पुरुष के गुण-धर्म भावात्मक चेतना और पुरुष में स्त्री के गुण-धर्म अभावात्मक चेतना है। जो गुण-धर्म पूरे रूप में विकसित हो जाता है, वह भावात्मक चेतना है। वह पॉजीटिव धर्म है। उसमें एक नेगेटिव धर्म रहता है। वह निषेधात्मक है। वह प्रकट नहीं होता, भीतर में विद्यमान रहता है। ये दोनों शक्तियां हर व्यक्ति में मिलती हैं। सामग्री का बल मिलता है तो भावात्मक शक्ति प्रकट होने लगती है और अभावात्मक

शक्ति तिरोहित होने लगती है। यह आविर्भाव और तिरोभाव की प्रक्रिया है।

एक दिन साधु और धोबी लड़ पड़े। साधु तपस्वी था, कृश था। उसने सोचा—देवता सेवा में रहता है। कोई चिन्ता नहीं है। धोबी हट्टा-कट्टा था। साधु को उसने गिरा डाला। साधु उठ नहीं सका। धोबी चला गया। कुछ देर बाद साधु उठकर अपने स्थान पर आया। शान्त हुआ, स्वस्थ हुआ। इतने में देवता सामने उपस्थित हो गया। साधु ने पूछा—

"देवानुप्रिय ! कहां गए थे ?"

"महाराज ! मैं कहीं नहीं गया था।"

"अरे ! तुमने देखा नहीं, एक आदमी ने मुझे कितना पीटा ?"

"अभी-अभी एक आदमी मुझे पीट गया।"

"नहीं, महाराज ! आपको कोई नहीं पीट सकता !"

"तो लगता है तुम कहीं चले गए थे।"

"गया तो नहीं, एक घटना देख रहा था।"

"कैसी घटना ?"

"दो चाण्डाल लड़ रहे थे। मैं देख रहा था, मजा ले रहा था।"

तो जिस समय साधु लड़ रहा था, वह साधु नहीं था, चाण्डाल था। आप स्थूल भाषा में उसे साधु कह सकते हैं। वह साधु नहीं था। हम शुद्ध दृष्टि में जाकर देखें। हम अशुद्ध नय की दृष्टि से स्थूल घटना को देखते हैं और उसी को कहते हैं हम साधु के वेश को देखते हैं और उसे साधु कह देते हैं। शुद्ध नय ऐसा नहीं कहता। वह कहता है—जब वह लड़ रहा है तब चाण्डाल है, साधु नहीं। उसका जो भावात्मक धर्म था साधुता, वह तिरोहित हो गया। जो उसमें अभावात्मक धर्म था, अभावात्मक चेतना थी, वह प्रकट हो गयी। साधु, साधु नहीं रहा, वह चाण्डाल बन गया।

एक अध्यापक दूकान पर बैठा है। वह ग्राहकों को माल दे रहा है। आप क्या कहेंगे उसे ? आप जाकर कहेंगे—अध्यापक महोदय ! नमस्कार ! किन्तु शुद्ध नय ऐसा नहीं कहेगा। अध्यापक तब होगा जब वह पढ़ा रहा हो। अभी वह माल बेच रहा है, दूकानदार है, अध्यापक नहीं।

एक भिक्षु बैठा है। वह मौन है। शुद्ध नय कहेगा—अभी मौन बैठा है तो वह मुनि हो सकता है, भिक्षु नहीं। वह भिक्षु तब होगा जब वह भिक्षा कर रहा हो।

तो हमारी जो दृष्टियां हैं, हमारे जो नय हैं, उन्हें हम ठीक से समझें। चेतना की जो परिणति होती है—जो भावात्मक चेतना जिस क्षण में जैसे प्रकट होती है, उस क्षण में हम वैसे ही हो जाते हैं। किन्तु यह स्थूल दृष्टि का व्यवहार है। इसीलिए हम एक व्यक्ति को वही कहते चले जाते हैं। एक व्यक्ति सत्तर-अस्सी वर्ष का बूढ़ा हो गया। अध्यापकी छोड़ दी, फिर भी लोग उसे 'अध्यापक' या 'गुरुजी' कहते चले जाते हैं। कैसा अध्यापक ? कैसा गुरु ? किन्तु हम कहते ही चले जाते हैं। यह वास्तविकता नहीं है, सचाई नहीं है, शुद्ध नय की दृष्टि नहीं है। शुद्ध नय में भावात्मक सत्ता वही होती है जो हमारे भीतर उस समय क्रियाशील हो।

एक आदमी भीतर बैठा है। दरवाजे से प्रकाश भीतर जा रहा है। वह प्रकाश को देखता है। एक सूर्य हजारों-हजारों मकानों के हजारों-हजारों दरवाजों में बंट गया। हमारी चेतना अखण्ड है किन्तु वह हजारों दरवाजों में बंट जाती है। जो चेतना मस्तिष्क के द्वारा व्यक्त होती है, उस चेतना का नाम है 'चित्त'। मन भिन्न वस्तु है उससे। चित्त चेतना की एक खिड़की है यह वह खिड़की है जिसमें से हम बहुत दूर तक झांक सकते हैं अथवा बहुत दूर का प्रकाश हमारे भीतर तक पहुंच सकता है।

एक ही चेतना के, एक ही सूर्य के प्रकाश के, अलग-अलग खिड़कियों और दरवाजों के कारण अलग-अलग नाम, संज्ञाएं और कार्य बन जाते हैं।

• साधना के लिए आत्मा को जानना आवश्यक है, किन्तु शरीर को जानना क्यों आवश्यक है ?

जो आत्मा को जानता है, वह बाहर को भी जानता है, शरीर को भी जानता है, अधिष्ठान को भी जानता है। महावीर ने कहा—**'जो अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ। जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ'**। कितनी महत्त्व की बात है ! जो बाहर को ठीक से जानता है. जो अधिष्ठान को ठीक से जानता है, वही उसमें रहने वाले को ठीक से जान सकता है। जो अधिष्ठान को ठीक से नहीं जानता, आश्रय को ठीक से नहीं जानता, वह उसमें रहने वाली वस्तु को ठीक से कैसे जान सकता है ? इसलिए हमें आत्मा और शरीर—दोनों को समझना बहुत जरूरी है। दोनों के सम्बन्धों को समझना बहुत जरूरी है।

२ जागरिका

उपासिका जयन्ती ने भगवान् महावीर से पूछा, 'भगवन् ! सोना अच्छा है या जागना ?' भगवान् ने कहा—'कुछ जीवों का सोना अच्छा है और कुछ जीवों का जागना अच्छा है। भगवान् ने अनेकान्त की भाषा में उत्तर दिया। सोना भी अच्छा है और जागना भी अच्छा है। फिर पूछा—'भंते ! यह कैसे ?' भगवान् ने कहा—जो मनुष्य अधर्मपरायण है, जागकर निन्दा करते हैं, ईर्ष्या करते हैं, चुगली करते हैं, बुराई करते हैं- दूसरों को आघात पहुंचाते हैं, ऐसे मनुष्यों को सोना अच्छा है। जो मनुष्य भद्र हैं, दूसरों की बुराई नहीं करते, अधर्म का आचरण नहीं करते, असद् व्यवहार नहीं करते, दूसरों को पीड़ा नहीं पहुंचाते, उन मनुष्यों का जागना अच्छा है। इसलिए सोना भी अच्छा है और जागना भी अच्छा है।'

प्रश्न हो सकता है कि सोना अच्छा कैसे हो सकता है ? जागना अच्छा है, यह तो स्वाभाविक बात है। किन्तु सोना अच्छा कैसे हो सकता है ? किन्तु यह उत्तर एक दृष्टि से दिया गया है—हमारी शारीरिक स्थिति को सामने रखकर दिया गया है। जो नींद हमारे शरीर पर और हमारी स्थूल चेतना पर प्रभाव डालती है, उस नींद को ध्यान में रखकर यह उत्तर दिया गया है। किन्तु इसका एक दूसरा पहलू और है। उसके अनुसार सोना अच्छा नहीं हो सकता, जागना अच्छा हो सकता है।

हमारी चेतना के तीन स्तर हैं—सुषुप्ति (मूर्च्छा), जागृति और वीतरागता। मनुष्य सुषुप्ति की अवस्था में रहता है, मूर्च्छा की अवस्था में रहता है। मूर्च्छा की अवस्था में वह बेभान रहता है, बेहोश रहता है। उसे बहुत सारे सत्यों का ज्ञान नहीं होता, बोध नहीं होता। चेतना की एक स्थिति आती है जागृति की। जब वह जाग जाता है, मूर्च्छा टूट जाती है, मूर्च्छा का भंग हो जाता है, उस स्थिति में उसके चैतन्य की क्रियाएं बदल जाती हैं। उससे अगली अवस्था है वीतरागता की, जहां जागरण का चरम बिन्दु प्राप्त हो जाता है। चेतना की हमारी पहली अवस्था है मूर्च्छा की अवस्था। भगवान् महावीर ने जिसे मिथ्यात्व कहा था, मिथ्यादृष्टि कहा था, यह मूर्च्छा

की अवस्था है।

अध्यात्म के प्रसंग में दो शब्द बहुत प्रचलित हैं—बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता। हम बहिर्मुखता का अर्थ समझते हैं और अन्तर्मुखता का अर्थ भी समझते हैं। किन्तु साधना के संदर्भ में बहिर्मुख का अर्थ हमें और अधिक गहराई से समझना होगा। बहिर्मुख कौन होता है? शब्द की दृष्टि से बहिर्मुख का अर्थ है—जिसका मुख बाहर की ओर हो। अन्तर्मुखता का अर्थ है—जिसका मुख अन्दर की ओर हो, भीतर की ओर हो। पर बहिर्मुख क्या है? किसे बहिर्मुख कहा जाए? और किसे अन्तर्मुख कहा जाए?

हम श्वास लेते हैं और हमारा श्वास मूलत: और अधिकांशत: दो नाड़ियों से प्रवाहित होता है। बायीं और दायीं, इड़ा और पिंगला—इन दो नाड़ियों से हमारा श्वास प्रवाहित होता है। जो व्यक्ति केवल इड़ा और पिंगला, बाएं और दाएं स्वर से ही श्वास का प्रयोग अधिक करता है, या जिसके श्वास का संचार इन्हीं दो मार्गों से होता है, वह व्यक्ति बहिर्मुख होता है।

इसका तात्पर्य क्या है? मैं और स्पष्ट करूं। जिसका सुषुम्ना का मार्ग नहीं खुलता, मध्य मार्ग नहीं खुलता, सुषुम्ना का मार्ग उन्मुक्त नहीं होता, उसका मन, उसकी इन्द्रियां अन्तर्मुख नहीं होतीं—उनकी चंचलता समाप्त नहीं हो सकती—चाहे वह कितना ही मन में संकल्प क्यों न करे? 'मुझे मन को चंचल नहीं बनाना है, इन्द्रियों को चंचल नहीं बनाना है'—चाहे वह बार-बार इस बात को दोहराए, बार-बार रटन लगाए, बार-बार मन में संकल्प और भावना करे और त्याग करने का भी प्रयत्न करे किन्तु जब तक सुषुम्ना का मार्ग नहीं खुलता, मध्य मार्ग नहीं खुलता और सुषुम्ना के मार्ग से मन और प्राण का संचार नहीं होता, तब तक व्यक्ति बहिर्मुख रहता है। बहिर्मुखता इन्द्रिय और मन की चंचलता से आती है। जिसका मन चंचल और इन्द्रिय चंचल, वह बहिर्मुख होता है। उसकी चंचलता आती है सुषुम्ना का मार्ग न खुलने के कारण—यानी इड़ा और पिंगला में श्वास का प्रवाह होने के कारण उसकी बहिर्मुखता आती है। इसलिए जिस व्यक्ति ने केवल स्थूल शरीर को ही सब कुछ मान रखा है, जो स्थूल शरीर को सामने रखकर चलता है, स्थूल शरीर में रहने वाली इन्द्रियों को ध्यान में रखकर प्रवृत्ति करता है, वह व्यक्ति अन्तर्मुख नहीं हो सकता।

यह एक तथ्य मैंने आपके सामने रखा। यह बहुत ही गंभीर तथ्य है और जैन दर्शन के द्वारा समर्पित तथ्य है। आप ध्यान दें। हमारा यह

सिद्धान्त है कि संसार का जितना भी वीर्य होता है, वह सारा शरीर-सापेक्ष होता है। यह बहुत ध्रुव सिद्धान्त है जैन दर्शन का। संसार की जितनी शक्ति अभिव्यक्त और प्रकट होती है, वह सारी-की-सारी पुद्गल द्रव्य के सहयोग से होती है, पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा से होती है। पुद्गल द्रव्य के सहयोग और अपेक्षा को छोड़कर कोई वीर्य या शक्ति प्रकट नहीं होती।

हम अपनी चेतना को प्रकट करना चाहते हैं। अपनी वास्तविक सत्ता को प्रकट करना चाहते हैं। किन्तु वह प्रकट तब तक नहीं होती जब तक शरीर का सहयोग हमें प्राप्त न हो जाए। शरीर का सहयोग लिये बिना हम सम्यक्त्व को प्रकट नहीं कर सकते। शरीर का सहयोग लिये बिना सम्यक् दर्शन को जो शक्ति है, उसे हम बाहर या विकास में नहीं ला सकते। इसलिए आप इस नियम को मानकर चलें कि आन्तरिक शक्ति, आन्तरिक सत्ता, चैतन्य, चैतन्य का प्रकाश जो कि अभिव्यक्त होगा, प्रगट होगा, उसके साथ शरीर को हमेशा ध्यान में रखना होगा। शरीर की उपेक्षा कर, शरीर को भुलाकर, शरीर पर पड़ने वाली ऊर्मियों, चैतन्य की रश्मियों को उपेक्षित कर, हम जहां पहुंचना चाहते हैं, वहां नहीं पहुंच सकते। इसलिए हम जैसे आत्मा पर, चैतन्य पर विचार करते हैं, उसके साथ-साथ हमें शरीर पर भी उतनी ही गहराई से विचार करना चाहिए। शरीर को भी उतना ही समझना चाहिए जितना कि आत्मा को समझना है। और मैं तो सोचता हूं कि शरीर को समझे बिना आत्मा को सहजतया पकड़ा नहीं जा सकता। जब हम द्वार में ही प्रवेश नहीं करेंगे तो हॉल तक कैसे पहुंच पाएंगे! जब हॉल में आना है तो पहले द्वार में प्रवेश करना ही होगा। द्वार में प्रवेश किए बिना हॉल में नहीं पहुंचा जा सकता। जो द्वार है शरीर हमारा, उस द्वार में हम प्रवेश नहीं करते हैं, तो उसके भीतर होने वाले हॉल तक हम नहीं पहुंच सकते। कभी भी नहीं पहुंच सकते। इसलिए आत्मा तक पहुंचने के लिए शरीर की सारी जो स्थितियां हैं, शरीर के सारे जो द्वार हैं, उन द्वारों को पार करना होगा, उनको समझना होगा और उन्हें अपनी खोज का विषय बनाना होगा।

मूर्च्छा में बहिर्मुखता रहती है। मूर्च्छा का सबसे बड़ा फलित है बहिर्मुखता। अब इसके बाद चेतना की दूसरी स्थिति आती है। वह है अन्तर्मुखता की, जागृति की। जागृति का फलित है अन्तर्मुखता। जब हम इस बात को समझ लेते हैं कि श्वास को किस मार्ग से प्रवाहित करना हमारे लिए जरूरी है, तब मध्य मार्ग को खोजने का प्रयत्न करना चाहिए। और मध्य मार्ग को

खोज लेते हैं, सुषुम्ना के मार्ग को खोज लेते हैं, हमारा प्राण, हमारा श्वास उस मध्य मार्ग से प्रवाहित होने लग जाता है। जो धार उधर जा रही थी, जो धार इधर जा रही थी, जैसे-तैसे प्रवाहित हो रही थी, उसको हमने बाएं जाने से रोका, दाएं जाने से रोका और ठीक बीच में बहाना शुरू कर दिया। हमारी शक्ति जो दाएं-बाएं बिखर रही थी, वह केन्द्रित होकर हमारे भीतर मध्य-भाग में प्रवाहित होने लगी यानी श्वास का प्रवाह जो इड़ा और पिंगला में बहता था, उसे हमने समेटकर मध्य मार्ग में, सुषुम्ना में प्रवाहित करना शुरू कर दिया। सुषुम्ना का मुख खुल गया, उन्मुक्त हो गया। श्वास और प्राण का उसमें संचार होने लगा। तब मन और प्राण विलीन हो गये, शान्त हो गये। उसमें उनका विलय हो गया। मन, प्राण और इन्द्रियों के विलीन होते ही चंचलता समाप्त हो गयी। मन की चंचलता और इन्द्रियों की चंचलता समाप्त होते ही अन्तर्मुखता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। यह है अन्तर्मुखता। आध्यात्मिक अन्तर्मुख होता है और भौतिकवादी बहिर्मुख।

आध्यात्मिक का तात्पर्य क्या है? जो भीतर की ओर जाने वाला है वह है आध्यात्मिक। अध्यात्म का अर्थ होता है भीतर। बहिर् का अर्थ होता है बाहर। आध्यात्मिक व्यक्ति यानी भीतर की गहराई में जाने वाला व्यक्ति, अन्तर्मुख व्यक्ति। उसकी प्राण-शक्ति का मुंह खुल जाता है। उसकी अन्तर् यात्रा, भीतरी यात्रा शुरू हो जाती है।

जो व्यक्ति अन्तर्मुख नहीं है, बहिर्मुख है, उसकी सारी शक्तियां बाहर की ओर प्रवाहित होती हैं। बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली शक्तियां उसके लिए लाभदायी नहीं होतीं। हमारे आचार्यों ने इसे बहिर्आत्मा और अन्त-र्आत्मा—इन दो शब्द से प्रकट किया है। बहिर्मुख यानी बहिर्आत्मा। अन्त र्मुख यानी अन्तर्आत्मा। जो व्यक्ति केवल शरीर को ही सब कुछ समझता है, स्थूल शरीर को सब कुछ मानकर चलता है, वह होता है बहिर्आत्मा। जो सुख:दु:ख, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों के सारे आघातों को ही अपना वास्तविक जीवन मानकर चलता है, वह होता बहिर्मुख। अन्तर्मुख कौन होता है? जिसने समझ लिया कि शरीर मेरा नहीं है। मैं शरीर से भिन्न हूं। जिसे शरीर से आत्मा की भिन्नता की अनुभूति होती है, वह अन्तर्आत्मा हो जाता है।

एक व्यक्ति ने धोने को कपड़ा दिया। धोबी ने धोकर साफ कर दिया। उसने उसे पहन लिया। एक दिन वह आ रहा था बाजार से। दूसरा व्यक्ति

मिला। उसने देखा और देखते ही उसका हाथ पकड़ लिया और कहा, "तुमने मेरा कपड़ा पहन लिया। तुमने कहां से चोरी की है ? मैं कई दिनों से ढूंढ़ रहा हूं। मेरा कपड़ा नहीं मिला।" वह आवाक् रह गया। यह कैसे ? मैंने कभी चोरी नहीं की। और यह मुझ पर चोरी का आरोप कैसे लगा रहा है ? तत्काल उसने देखा। अपना चिह्न देखा। चिह्न देखा तो सचमुच सकुचा गया। उसने कहा, "कपड़ा मेरा नहीं है, किसी दूसरे का है। धोबी ने जैसे लाकर दिया, मैंने पहन लिया। चिह्न देखा नहीं और अपना मानकर पहन लिया।" उसने स्वीकार किया, "सचमुच तुम ठीक कह रहे हो, यह कपड़ा मेरा नहीं है। मैंने चोरी नहीं की, फिर भी मैं यह कहता हूं कि कपड़ा मेरा नहीं है।" कपड़ा उसे खोलकर देना पड़ा। हम भी बहिर्मुखता के कारण दूसरे के कपड़ों को पहने चले जा रहे हैं और अपना मानते चले जा रहे हैं। हम मानते हैं कि ये कपड़े हमारे हैं। यह राग-द्वेष की परिणति, अहं और द्वन्द्व की परिणति, यह विकल्प चेतना की परिणति, संकल्प और विकल्प की परिणति, ईर्ष्या और घृणा की परिणति, सुख और दुःख की परिणति—ये जो परिणतियां हैं, उन्हें हम अपना अस्तित्व जैसा मानकर ही चल रहे हैं। अपने अस्तित्व में शामिल कर रहे हैं और उसका अंग मानकर चल रहे हैं। यह है हमारी विकल्प चेतना, बहिर्मुखी चेतना। किंतु जैसे ही अन्तर्मुखी चेतना का विकास या उदय होता है, कोई आकार हमें कहता है कि जिन कपड़ों को तुमने ओढ़ रखा है, ये तुम्हारे नहीं हैं, ये दूसरो के हैं। जिनको तुम अपना मान रहे हो, ये तुम्हारे नहीं हैं, तो कभी-कभी आंख खुल जाती है। हम अपने चिह्न को देखने का प्रयत्न करते हैं तो हमें लगता है कि यह चिह्न मेरा नहीं है। किसी बात पर खुश होना, नाखुश होना, यह मेरा चिह्न नहीं। किसी बात में सुख मानना, किसी बात में दुःख मानना, यह चिह्न मेरा नहीं है। जब अपने चिह्न की अनुभूति हमें होने लग जाती है, यह लगता है कि यह चिह्न किसी दूसरे का है तब हमारी जागृति प्रकट होती है, अन्तर्मुखता प्रकट होती है और हम जागृति के क्षण में चले जाते हैं।

दो चेतना हैं—एक सुषुप्ति की चेतना और एक जागृति की चेतना। एक बहिर्मुखता की चेतना और एक अन्तर्मुखता की चेतना। एक वैराग्य-भाव की चेतना और एक अन्तर् आत्मभाव की चेतना। इस पर हमने थोड़ा-सा समझने का प्रयत्न किया है। तीसरी है वीतरागता की चेतना। वीतरागता की चेतना सहज समाधि है। यह निरुपाधिक की चेतना है। यहां हमारी

सारी उपाधियां समाप्त हो जाती हैं। इसमें फिर कोई उपाधि नहीं रहती। इस चेतना के प्रकट होने पर सारे द्वन्द्व और द्वन्द्वों से होने वाली सारी प्रतिक्रियाएं और परिणाम समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान-सम्प्रदाय के एक साधक थे। उनका नाम था **कंचु**। वे **क्योटो** में रहते थे। एक दिन उनके पास **क्योटो** का गवर्नर आया। बाहर द्वारपाल खड़ा था। गवर्नर साधक से मिलना चाहता था। अपना कार्ड दिया। द्वार-पाल कार्ड लेकर साधक के पास पहुंचा और जाकर कहा—'कोई व्यक्ति बाहर खड़ा है और आपसे मिलना चाहता है।' साधक ने देखा, कार्ड में लिखा है—'मैं आपसे मिलना चाहता हूं। मेरा नाम है **किटेगामो—क्योटो** का गर्वनर।' परिचय पढ़कर साधक ने कहा—'जाओ, लौटा दो। आगंतुक से कह दो कि मैं उसे नहीं जानता।' वह गया और जाकर कार्ड दे दिया। कहा कि वे आपसे मिलना नहीं चाहते, वे आपको नहीं जानते। उसने कार्ड हाथ में लिया। कुछ काटकर पुनः द्वारपाल को दे दिया और कहा कि इसे ले जाकर दे दो। द्वारपाल ने पुनः साधक को कार्ड दे दिया। उसमें अब केवल नाम लिखा था—**किटेगामी**। गवर्नर उपाधि नहीं थी। साधक कार्ड देखते ही मुसकराया और बोला, 'अच्छा! किटेगामी आया है। बहुत अच्छा हुआ। मैं उससे मिलना ही चाहता था। जाओ, जल्दी बुलाकर लाओ।'

साधक गवर्नर से नहीं मिलना चाहता था, किटेगामी से मिलना चाहता था। कितना अंतर आ गया! किटेगामी से मिलने में कोई कठिनाई नहीं हुई, किन्तु क्योटो के गवर्नर से मिलने में उसे कठिनाई हुई। यह सारी मिलन की कठिनाई उपाधियों के कारण होती है। हमारी जितनी उपाधियां होती हैं, जितने विकल्पों की, जितने परिणामों की—चेतना के परिणामों की या वैभाविक परिणामों की, जितनी उपाधियां हमारे भीतर आ जाती हैं, उतनी ही हमारे अन्तर्-मिलन की कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। जैसे-जैसे उपाधियां हटती हैं, हमारे मिलन की दूरियां और कठिनाइयां भी समाप्त हो जाती हैं। निर्जरावस्था की चेतना आने पर सारी उपाधियां समाप्त हो जाती हैं। उपा-धियों के समाप्त होते ही जिनसे हमें मिलना है, वे हमसे मिल जाते हैं।

चेतना की तीन श्रेणियां हैं, तीन कक्षाएं हैं—मूर्च्छा की चेतना, जागृति की चेतना और वीतरागता की चेतना।

पहली है मूर्च्छा की चेतना। इसमें जागृति का क्षण नहीं रहता। दूसरी है जागृति की चेतना। यहां से जागरण का प्रारम्भ होता है। इसी को भग-

वान् महावीर ने कहा था सम्यक्दर्शन। सम्यक्दर्शन का पहला क्षण जागरण का पहला क्षण होता है। या यों कहें कि जागरण का पहला क्षण ही सम्यक्-दर्शन का पहला क्षण है। तीसरी है वीतरागता की चेतना। जागरण के आदि क्षण से हमारी यात्रा शुरू होती है और वीतरागता के क्षण तक पहुंचकर हमारी यात्रा पूर्ण हो जाती है।

प्रश्न अवस्थाओं का नहीं है। प्रश्न यह है कि यह जागृति प्राप्त कैसे हो? जागृति की प्रक्रिया क्या है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रक्रिया पर हमें विचार करना है। व्यवहार की भाषा में कहते हैं कि तत्त्व का हमें बोध हुआ। तत्त्व को हमने जानने का प्रयत्न किया। हमारा जागरण का क्षण शुरू हो जाता है किन्तु साधना के मार्ग में इसका मूल्य नहीं है। बहुत छोटी बात है यह। साधना के मार्ग में जागृति की प्रक्रिया कहां से शुरू होती है, इस पर हमें ध्यान देना होगा।

यह हमारा शरीर है। इस शरीर में अनेक स्थल हैं। शरीर के मुख्यत: तीन भाग होते हैं—ऊर्ध्व, अधो और मध्य। नाभि से ऊपर का जो भाग है, वह ऊर्ध्वलोक कहलाता है। नाभि का क्षेत्र मध्यलोक कहलाता है। नाभि के नीचे का भाग अधोलोक कहलाता है। ये तीन लोक हमारे शरीर में हैं।

हमारी प्राणशक्ति और श्वासशक्ति अधोलोक से शुरू होती है। हमारे पृष्ठरज्जु का जो पिछला सिरा है, वहां से प्राणशक्ति का प्रवाह होता है। प्राणशक्ति, हमारी चेतना की शक्ति, हमारी ज्ञान की शक्ति और हमारी इड़ा की शक्ति—ये सारी की सारी वहां से शुरू होती हैं। उसका प्रवाह यदि ऊपर की ओर जाता है तो चेतना का विकास होता है। उसका प्रवाह यदि नीचे की ओर जाता है तो चेतना का आच्छादन होता है, आवरण होता है। अब हमें करना क्या है; हमें अपनी प्राणशक्ति को ऊपर की ओर ले जाना है। ऊपर की ओर ले जाने पर ही हमारे सम्यक्त्व का या हमारे जागरण का विकास हो सकता है।

नाभि से बारह अंगुल ऊपर एक चक्र है। उसका नाम है मन:चक्र। उस मन:चक्र में जब हमारी प्राणशक्ति का प्रवाह हो जाता है तो हमारे जागरण का पहला क्षण प्रकट होता है। मन:चक्र की आठ पंखुड़ियां हैं। उस कर्णिका पर जब हमारी चेतना की ऊर्मियों का प्रवाह केन्द्रित होता है, तब जागृति अभिव्यक्ति होती है, प्रकट होती है, या सम्यक्त्व प्रकट होता है। उससे पहले सम्यक्त्व प्रकट नहीं होता।

सूत्रों में एक चर्चा है कि आठ प्रदेश ऐसे हैं, जो प्रकट रहते हैं, अभिव्यक्त रहते हैं। उन पर कोई आवरण नहीं होता। जिन्हें हम मनःचक्र की आठ पंखुड़ियां कहते हैं, वे आठ प्रदेश हैं, जिन पर चेतना पहुंचने पर सम्यक्त्व का विकास या जागरण का विकास होता है। उसके पहले जागृति का विकास नहीं होता। यह बहुत महत्त्व की बात है। हमारी प्राणशक्ति जब नीचे रहती है, उस स्थिति में चेतना का विकास नहीं हो सकता, सम्यक्‌दृष्टि का विकास नहीं हो सकता। प्राणशक्ति को हमें ऊपर की ओर ले जाना ही होगा। और ले जाये बिना उसमें स्थिरता नहीं आ सकती। मन की चंचलता, मन की आसक्ति समाप्त नहीं हो सकती। इसलिए अनन्तानुबन्धी कषाय समाप्त हुए बिना जागृति प्राप्त नहीं होती। अनन्तानुबन्ध की ग्रंथि या जिसे हम राग-द्वेष की ग्रन्थि कहते हैं, जब तक यह समाप्त नहीं होती, तब तक जागरण प्राप्त नहीं हो सकता। ग्रन्थि का विच्छेद या ग्रंथि का क्षीण होना आवश्यक है। ग्रन्थि का विच्छेद हुए बिना सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। वह ग्रंथि कहां है? वह गांठ कहां है हमारे मनःचक्र में? इसे हम गांठ क्यों मानते हैं? इसका एक कारण है। हमारे शरीर के जो स्नायु हैं, वे स्नायु सीधे भी चलते हैं और टेढ़े-मेढ़े भी चलते हैं। वे स्नायु जहां बहुत उलझे हुए हैं, टेढ़े हैं, उन्हें गांठ कहा जाता है। गांठ क्यों कहा जाता है? क्योंकि वहां प्राणशक्ति का प्रवाह सीधा नहीं होता। प्राणशक्ति को वहां घुमाव करके गति करनी पड़ती है। इसलिए उसे ग्रन्थि कहा जाता है। कुछ लोग उसे चक्र भी कहते हैं। क्योंकि वहां चक्राकार गति करनी पड़ती है। और कमल शब्द कहने का भी अर्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है। कमल का मतलब यहां कमल शब्द से नहीं, आप कमल की भावना से लीजिए। कमल का धर्म क्या है?—संकुचित होना और विकसित होना। संकोच और विकोच, यह कमल का धर्म है। तो वहां हमारी चेतना या प्राणशक्ति के द्वारा उन स्नायुओं में या उलझे हुए तारों में संकोच और विकोच भी होता रहता है, चेतना का प्रवाह वहां प्रवाहित होता है। चेतना प्रवाहित होती है। वे खुल जाते हैं, विकसित हो जाते हैं। जब प्राणशक्ति का प्रवाह कम होता है, वे फिर सिकुड़ जाते हैं, संकुचित हो जाते हैं। इसलिए उन्हें कमल कहना कोई अत्युक्ति नहीं, धर्म के अनुरूप ही बात है। ग्रन्थि, चक्र या कमल—ये तीनों बातें कही जा सकती हैं—मनःचक्र, मनोग्रन्थि या मन-कमल।

मन के चक्र से हृदयचक्र बिलकुल भिन्न है। हृदयचक्र से भिन्न जो मन

का चक्र है, मन का कमल है या मन की ग्रन्थि है, उसकी कर्णिका में जाकर अपनी सारी चेतनाओं को समेटकर, हमारी चिंतन की रश्मियां, हमारी परिणाम-धारा और हमारी भावधारा जो सारे शरीर में प्रवाहित होती है, उसे संकुचित कर, समेटकर, जब तक मनःचक्र की कर्णिका पर केन्द्रित नहीं कर देते हैं, तब तक उस ग्रंथि का भेदन नहीं होता है। और उस ग्रंथि का भेदन हुए बिना जागृति, सम्यक्दर्शन या सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हो सकता। यह उसकी प्रक्रिया है।

(अपनी धारणा के द्वारा प्राणशक्ति को मनःचक्र में केन्द्रित करना और वहां से केन्द्रित कर फिर प्राणायाम करना—रेचक, पूरक और कुंभक करना—यह है जागृति की प्रक्रिया)। ऐसा करने पर—मनःचक्र पर ध्यान करने पर रेचक ध्यान, पूरक ध्यान और कुंभक ध्यान—ये विविध ध्यान वहां करने पर मन की ग्रन्थि धीमे-धीमे खुलने लग जाती है। उसकी उलझन समाप्त हो जाती है। और एक दिन ऐसा आता है, कि वह ग्रंथि खुल जाती है। ग्रन्थिमोक्ष हो जाता है। और उस ग्रंथि का जैसे ही मोक्ष हुआ, जागरण का क्षण प्रकट हो जाता है। जागृति हमारी प्रकट होने लग जाती है, और हमारी दृष्टि सम्यक् बन जाती है। हमें स्पष्ट लगने लग जाता है कि स्थूल शरीर ही सब कुछ नहीं है। स्थूल शरीर से भी बड़ी एक शक्ति है—वह है सूक्ष्म शरीर। हमें सूक्ष्म शरीर की शक्ति का बोध हो जाता है।

आज तक तो हम स्थूल शरीर की शक्ति को ही शक्ति मानकर चल रहे हैं। किन्तु स्थूल शरीर की शक्ति सूक्ष्म शरीर की शक्ति के सामने सौवां हिस्सा भी नहीं है, हजारवां हिस्सा भी नहीं है। बहुत थोड़ी शक्ति है। हमारी सारी शक्ति सूक्ष्म शरीर में केन्द्रित है। हमें सूक्ष्म शरीर की शक्ति का भी बोध हो जाएगा। उसमें हमें चैतन्य की स्वतन्त्र सत्ता का बोध हो जाएगा। चैतन्य की स्वतंत्र सत्ता है। इस स्थूल शरीर से और इस सूक्ष्म शरीर से भी चैतन्य की स्वतंत्र सत्ता है, ये दोनों बातें हमें स्पष्ट हो जाएंगी।

तीसरी बात यह है कि चैतन्य की स्वतंत्र सत्ता का विकास किया जा सकता है, उसका बोध भी हमें हो जाएगा और स्वतन्त्र सत्ता के विकास करने की प्रक्रिया का भी हमें बोध हो जाएगा। इस प्रकार सम्यक्दर्शन के द्वारा, मनःचक्र पर रही हुई ग्रंथि के भेदन के द्वारा हम इन सारी स्थितियों को स्पष्ट समझ लेंगे। आत्मा और शरीर का भेदज्ञान, हमारी शक्तियों का बोध, हमारे अस्तित्व का बोध, हमारे अन्तर्जगत् की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का

बोध—ये सारी बातें हमारे सामने स्पष्ट हो जायेंगी और फिर मूर्च्छा की स्थिति से जागृति की स्थिति में हम चले जायेंगे। हम मूर्च्छा की यात्रा समाप्त कर जागृति की यात्रा प्रारम्भ कर देंगे। यह हमारे जीवन का पहला क्षण यानी अपूर्व क्षण आता है। अर्थात् इससे पहले हमने ऐसी यात्रा कभी नहीं की। यहीं से हमारी नयी यात्रा शुरू होती है, नया मार्ग शुरू होता है और हमारे सामने मंजिल भी नयी हो जाती है। इस अपूर्वकरण की स्थिति में आकर, इस अपूर्वकरण की स्थिति का अनुभव कर, हम अन्तर् की यात्रा को शुरू कर देते हैं, जागृति की यात्रा को शुरू कर देते हैं।

इस प्रकार तीन यात्राएं हैं—मूर्च्छा की यात्रा, जागृति की यात्रा और वीतरागता की यात्रा। ये तीन यात्राएं हमारे सामने हैं। मूर्च्छा की यात्रा को समाप्त कर जागृति की यात्रा में प्रवेश करना ही साधना है।

साधना क्या है? मूर्च्छा की ग्रन्थि को तोड़कर जागृति के छिद्र में प्रवेश करने का नाम ही है साधना।

• साधना की भूमिका को प्राप्त करने के लिए जागरिका आवश्यक है, जागना आवश्यक है। पर जब तक वह जगता नहीं है, तब तक वह आगे की यात्रा कैसे कर सकता है? अभी आपने मनःचक्र की चर्चा की। उसके साथ ही आपने यह भी बताया कि प्राणायाम के माध्यम से हम उसको विकसित कर सकते हैं। कृपा करके आप बताएं कि प्राणायाम के लिए कौन-सी प्रक्रियाएं हैं जिनसे कि मनःचक्र खुल सकता है?

प्राणायाम की मूल प्रक्रिया एक ही है—श्वास को लेना, निकालना और स्थिर करना। यह एक ही प्रक्रिया है। अन्तर आता है हमारे संकल्प का और धारणा का। हम प्राणायाम किस स्थान पर कर रहे हैं? प्राणवायु को कहां ले जा रहे हैं? कहां स्थिर कर रहे हैं? उसके आधार पर ये सारी क्रियाएं होती हैं। प्राण की धारा को हम एक अंगुली के सिरे पर भी ले जा सकते हैं। प्राण की धारा को हम अंगूठे के अग्रभाग पर भी ले जा सकते हैं। प्राण की धारा को हम ब्रह्मरन्ध्र में भी ले जा सकते हैं। प्राण की धारा एक चलती है। प्राणवायु की धारा एक चलती है। अब कहां ले जाना, किस धारणा पर ले जाना, कहां जाकर उसे स्थिर करना, ये सारे खुलते हैं मूलतः कुंभक के द्वारा। कुंभक के बिना ये नहीं खुलते। जितने भी चक्र हैं, वे कुंभक से खुलते हैं। तो यह हमारी धारणा पर निर्भर है। धारणापूर्वक हम जहां मन करते

हैं, जहां संकल्प करते हैं, वहां प्राणवायु को जाना ही होता है। हमने यहां धारणा की, संकल्प किया, मन को यहां केन्द्रित कर दिया। प्राणवायु की धारणा यहां न आए, यह हो ही नहीं सकता। वहां उसे जाना ही होगा। तो मन के पीछे मन की धारणा या संकल्प के पीछे प्राणवायु को जाना होता है। प्राणवायु जब वहां चली जाती है, फिर हम करते हैं कुंभक। उसे स्थिर करते हैं, वहां रोकते हैं। वहां रोकने पर इतना दबाव पड़ता है कि वह अपने आप ही रुक जाती है। मनःचक्र पर यही बात लागू होती है कि जब मनःचक्र की ग्रंथि का भेदन करना है, मानसिक ग्रंथि का भेदन करना है, तो हमारी धारणा होगी मनःचक्र के स्थान पर। और मनःचक्र के स्थान पर जैसे हमने धारणा की—पूरक, रेचक और कुंभक किया, इस प्रक्रिया से वह ग्रन्थि खुल जाती है।

• प्राण और प्राणवायु में क्या भेद है ? प्राणवायु क्या है ?

प्राण जीवनी-शक्ति है। प्राणवायु हम बाहर से लेते हैं, वह एक ली हुई शक्ति है। प्राण और प्राणवायु एक नहीं हैं। हम जो वायु लेते हैं और जो वायु हमारे शरीर में रहती है, वह एक ही वायु है। शारीरिक स्थानों की भिन्नता के कारण उसके नाम अलग-अलग रख दिए गए हैं। संज्ञाएं उसकी भिन्न-भिन्न हो गयीं। मूलतः वह एक ही चीज है। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान—ये पांच भेद कर दिए गए। और भी भेद किए जा सकते हैं। ये सारे भेद क्षेत्र के आधार पर किए गए। प्राणवायु का क्षेत्र और उसका कार्य समूचे शरीर में हो सकता है और समूचे शरीर में उसकी गति हो सकती है। संकल्प के बिना प्राणवायु की गति नहीं होती। मानसिक संकल्प के साथ प्राणवायु चली जाती है। मन के साथ उसका ऊर्ध्वगमन भी होता है, अधोगमन भी होता है। दोनों होते हैं। उसका मूल सम्बन्ध मन के साथ है। चमड़ी के नीचे समूचे शरीर में प्राणवायु रहती है। समूचे शरीर में रहती ही नहीं किन्तु जहां मन का संकल्प होता है, मन की गति होती है, वहां प्राणवायु चली जाती है। प्राण हमारी शक्ति है। वह किसी के द्वारा दी हुई नहीं है। प्राण क्या चीज है ? प्राण कैसे उत्पन्न होता है ? कैसे क्रिया करता है ?—इस पर बहुत विस्तार से हमें चर्चा करनी है।

• आपने कहा कि मनःचक्र हृदयचक्र नहीं है। क्या कोई हृदयचक्र भी है ? है तो दोनों में क्या भिन्नता है ?

हृदयचक्र और मनःचक्र में भिन्नता है। कुछ आचार्य छह चक्र मानते हैं,

कुछ सात मानते हैं और कुछ नौ मानते हैं। भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं। एक चक्र है सीधी रेखा में और एक चक्र है हृदय के सामने। एक का नाम है हृदयचक्र और दूसरे का नाम है अनाहत चक्र। मैं समझता हूं कि अनाहत चक्र और मनःचक्र एक होना चाहिए। अनाहत, ध्वनि की भिन्नता और तन्मयता—इनमें शब्दों का भेद है, तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। जब शून्यता की स्थिति प्राप्त हो जाती है, इन्द्रिय और मन का पूर्ण विलय हो जाता है, तब अनाहत ध्वनि सुनते हैं। अनाहत ध्वनि सुनना, तन्मय होना और शून्य होना—इनमें शब्दों का भेद है, तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। चाहे अनाहत चक्र कहिए और चाहे मनःचक्र कहिए—दोनों में मुझे लगता है कि कोई तात्पर्य का भेद नहीं है।

• आठ रुचक प्रदेश हैं। उनका विकास होने पर जागरिका का विकास होता है, यह आपने कहा। उनका विकास होने पर समूची चेतना पर या समूचे प्रदेशों पर कोई प्रभाव पड़ता है ?

चेतना के कुछ क्षेत्र हैं और उन क्षेत्रों की जागृति सम्पूर्ण चेतना पर प्रभाव डालती है। यह हमारे चेतना के केन्द्र हैं, जहां ज्ञान तंतुओं या चैतन्य के प्रदेश संगठित रूप में होते हैं। उनका विकास होने से समूची चेतना का विकास होता ही है। वैसे तो आवरण होता है तो समूची चेतना पर होता है। विकास होता है तो समूची चेतना का होता है। ऐसा नहीं है कि चेतना का एक कोना आवृत होता गया और दूसरा कोना खुला रह गया, किन्तु एक स्थान ऐसा होता है जहां चोट करने पर सारा का सारा झनझना उठता है। यदि हम पोली जमीन पर किसी चीज को कूटते हैं तो सारा झनझना उठता है। और वही चीज ठोस जगह पर कूटते हैं तो थोड़ा-सा हिस्सा प्रकम्पित होता है। जहां चेतना के प्रदेश बहुत संगठित होते हैं, वहां कोई चोट लगती है तो सारी चेतना में भारी प्रकंपन पैदा कर देती है। एक स्थान ऐसा भी होता है जहां चोट लगने पर कोई विशेष अन्तर नहीं होता। यह क्षेत्रों का अन्तर है। केन्द्र के माध्यम से दूसरे प्रदेश का अन्तर है और यह स्वाभाविक बात है।

• सम्यक्दर्शन के लिए जागरिका क्यों आवश्यक है ? आपने कहा कि मनःचक्र के भेदन के लिए प्राणायाम की आवश्यकता है। जहां तक मुझे खयाल है, जैन दर्शन में प्राणायाम का विरोध किया गया है। तो फिर जैन-दर्शन के अनुसार मनःचक्र के भेदन की क्या प्रक्रिया है ?

सम्यक्दर्शन के लिए जागरिका शब्द का प्रयोग बहुत उपयुक्त है और जैन दर्शन से सम्बन्धित भी है। साधना के क्षेत्र में जागृति वहीं से शुरू होती है, जहां शरीर और आत्मा इन दोनों का भेद-ज्ञान हो जाता है। जब तक इनका भेद-ज्ञान नहीं होता, जागृति नहीं होती। और वास्तव में सम्यक्दर्शन का अर्थ ही है—भेद-ज्ञान, जहां चेतन और अचेतन की भिन्नता का स्पष्ट बोध होता है। आचार्य कुन्दकुन्द तथा उनके पीछे अनेक व्याख्याकारों ने मुख्यतः यही प्रतिपादित किया है।

स्थितप्रज्ञ की प्रज्ञान्तर से पृथक् प्रतीति होना, चैतन्य द्रव्य की अन्य द्रव्यों से पृथक् प्रतीति होना, यही सम्यक्दर्शन है और यही वास्तव में आत्मा है। यह सम्यक्दर्शन या जागरिका, एक ही बात है। और यहीं से हमारे जागरण का प्रारम्भ होता है। जब हमने यह समझ लिया कि आत्मा भिन्न है और ये जितने बाकी द्रव्य हैं, विकल्प हैं, संकल्प हैं, शरीर हैं, और शरीर-जनित अनुभूतियां हैं, ये सारी की सारी भिन्न हैं। यह हमारा जागरिका का परिणाम है। इसलिए सम्यक्त्व के लिए जागरिका शब्द का चुनाव बहुत उचित है।

भगवान् से पूछा—'मनुष्य कितने प्रकार के होते हैं ?'

भगवान् ने उत्तर दिया—'मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—**सुप्त, सुप्त-जागृत** और **जागृत**।'

पुराने जमाने की बात है। शंख और मुद्गल भगवान् के श्रावक थे। एक बार शंख ने कहा, 'हम भोज करेंगे, सब मिलकर खायेंगे।' वह धर्म-आराधना में लग गया। दूसरे सारे इकट्ठे हो गये। भोजन बनाया। वह नहीं आया तो सबको बहुत बुरा लगा। सब भगवान् के पास गये। वहां शंख बैठा था। उसे देखकर उन्होंने कहा, 'शंख ! तुमने हमारे साथ बहुत बड़ा धोखा किया। पहले तो तुमने हमसे कहा कि भोज करेंगे, अच्छे-अच्छे भोज बनाओ। हमने बना लिये। सब आ गये और तुम नहीं आये। तुमने हमारे साथ विश्वासघात किया है।'

भगवान् ने कहा, 'ऐसा मत कहो। इसने तुम लोगों के साथ विश्वास-घात नहीं किया, धोखा नहीं दिया।

'तो भंते ! फिर इसने क्या किया ?'

भगवान् ने कहा, 'इसने सुप्त जागरिका की।'

फिर पूछा कि जागरिका कितने प्रकार की होती है ?

भगवान् ने उत्तर दिया, 'जागरिका तीन प्रकार की होती है—एक सुप्त जागरिका, एक बुद्ध जागरिका और एक प्रबुद्ध जागरिका। जब श्रावक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है, यह सुप्त जागरिका है। प्रमत्त संयति से प्रारम्भ कर वीतराग तक अबुद्ध जागरिका होती है। केवली की प्रबुद्ध जागरिका होती है। ये तीन जागरिकाएं हैं और इनका चुनाव करना बहुत महत्त्वपूर्ण है।

उपनिषदों में तीन अवस्थाओं का वर्णन मिलता है—स्वप्नावस्था, सुषुप्ति-अवस्था और तुरियावस्था। अगर इन तीन अवस्थाओं की हम तुलना करें तो सुप्तावस्था है स्वप्नावस्था और सुषुप्ति-अवस्था। समयक्त्व है जागृत अवस्था। सम्यक्त्व या जागृति के आदि बिन्दु से लेकर और प्रबुद्ध जागरिका तक, सारी की सारी जागरिका जागृति अवस्था है। और तुरियावस्था है केवलज्ञानी की अवस्था। मैं समझता हूं कि सम्यक्दर्शन की सारी भावना को स्पष्ट समझने के लिए जागरिका शब्द का चुनाव बहुत उपयुक्त है।

दूसरा प्रश्न है प्राणायाम के सम्बन्ध में। हमारी यह संस्कारित धारणा हो गयी कि जैन आचार्यों ने प्राणायाम का निषेध किया है। किन्तु यह वास्तविक बात नहीं है। जैन आचार्यों ने प्राणायाम का खंडन किया, मध्यवर्ती आचार्यों ने किया। उन्होंने प्राणायाम का खंडन नहीं किया बल्कि तेज प्राणायामों का खंडन किया। यानी जो प्राणायाम सारे शरीर को धुन डालते हैं, प्रकंपित कर डालते हैं, उतने कड़े प्राणायामों का खंडन किया। और उनके सामने एक दृष्टि भी थी और शायद अभी तक भी है। तेज हवा निकलने से बाहर के जीवों को आघात पहुंचता है, इसलिए तेज प्राणायाम नहीं करना चाहिए। इस प्रसंग में एक बात कहना चाहता हूं। एकाग्र ध्यान करना, त्राटक करना—जैन-शास्त्रों में इसका निषेध भी है और नहीं भी है। सचित्त वृक्ष सामने है, कोई सचित्त वनस्पति सामने है, उसके पास जाकर त्राटक करना या अपलक ध्यान करना निषिद्ध है। सचित्त पुद्गल पर त्राटक करना विहित है। जैन-परंपरा में, साधना की प्रक्रिया में अहिंसा पर बहुत सूक्ष्मता से विचार किया गया है। त्राटक करने से प्राणधारा इतनी तेज निकली है कि वह जाकर वनस्पति के जीवों को आघात पहुंचाती है।

अभी आप लोगों ने समाचारपत्रों में पढ़ा होगा कि एक रूसी महिला अपनी ध्यान-शक्ति के द्वारा ऊर्जा को इतना तेज फेंकती है कि सामने कोई भारी-भरकम चीज पड़ी है तो वह भी इधर-उधर हिलने-डुलने लग जाती है।

जब ध्यान की ऊर्जा के द्वारा इतना कार्य हो सकता है, बाहरी पुद्गलों पर इतना आघात हो सकता है तो प्राण के द्वारा भी सचित्त पुद्गल पर गहरा आघात होता है। इसलिए त्राटक का निषेध नहीं, निषेध है सचित्त वस्तु पर त्राटक करने का। इसी प्रकार प्राणायाम का निषेध नहीं, यह निषेध है वैसे प्राणायाम का, जिसके द्वारा दूसरों को ताप पहुंचे, पीड़ा पहुंचे, जीवों की हिंसा हो। यह निषेध क्यों हुआ ? मूलतः यह चला है आवश्यक निर्युक्ति से। वहां आया है कि मुनि श्वासोच्छ्वास का निरोध न करे। यह निषेध नहीं किन्तु इसे निषेध समझने का कारण यह है कि जैन परम्परा में **महाप्राण ध्यान** की साधना चलती थी। **महाप्राण ध्यान** का दूसरा नाम है **संवरध्यान योग**। **महाप्राण ध्यान** की साधना करने वाला मुनि श्वास का निरोध कर लेट जाता है। महीनों तक निष्प्राण मुर्दे की तरह लेटा रहता है। प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में केन्द्रित कर लेट जाता है और उसका यह क्रम महीनों-महीनों तक चलता रहता है। यह **महाप्राण ध्यान** की साधना चलती थी। उसमें खतरा भी बहुत था। अगर उत्तर साधक सावधान न हो तो साधक के लिए खतरा पैदा हो जाता है। **पुष्यमित्र** आचार्य ने **महाप्राण ध्यान** की साधना की थी। उत्तर साधक कोई उपयुक्त नहीं था। उन्होंने अपने एक शिष्य, जो कि किसी कारण से थोड़ा अलग चल रहा था, उसे बुलाकर कहा, "देखो, मैं **महाप्राण ध्यान** की साधना कर रहा हूं। तुम मेरे पास रहो और मेरी साधना का ध्यान रखो।"

आचार्य अन्दर जाकर कमरे में लेट गए। एक दिन बीता, दो दिन बीते, कई दिन बीत गए। आचार्य के जो शिष्य थे, उन्होंने देखा कि बात क्या है, आचार्यजी आ नहीं रहे हैं। देखना चाहा तो उस शिष्य ने कहा कि यहां से देख सकते हो, इससे आगे नहीं जा सकते। उन शिष्यों के मन में संदेह पैदा हो गया कि शायद इसने आचार्यजी को मार दिया, अन्यथा पास जाने से क्यों रोकता। वहां का राजा आचार्य का बहुत बड़ा भक्त था। शिष्य लोग राजा के पास गये और कहा कि ऐसा लगता है कि उस शिष्य ने आचार्य को मार डाला है और हमें जाने नहीं देता है। राजा को यह बात बहुत बुरी लगी। राजा आया। उसने अन्दर जाने की कोशिश की। शिष्य ने सोचा कि संकट का समय आ गया है। उसने अन्दर जाकर आचार्य का अंगूठा दबाया। ऊर्ध्वगमन को नीचे लाने के लिए अंगूठे को दबाया। और एकदम मूर्छा भंग हो गयी। आचार्य उठकर बैठ गए। उन्होंने उठते ही कहा, "शिष्य ! तुमने

असमय में ही क्यों जगा दिया ? इतनी जल्दी क्यों उठा दिया ? मैं तो बहुत समय तक समाधि में रहना चाहता था।" शिष्य ने कहा, "महाराज ! करूं क्या ? बाहर देखिए, क्या हो रहा है ?"

मुझे लगता है किसी बड़े आचार्य ने या बहुश्रुत साधु ने इस प्रकार की समाधि ली हो और कोई दुर्घटना घटित हो गयी हो, उसको लेकर शायद यह कहना पड़ा हो कि जैन साधु प्राण का निरोध न करे। अन्यथा आप देखिए, यह भी आता है कि ध्यान शुरू करते समय जब उसने समाधि शुरू की, तब उसने श्वास और निःश्वास को मंद कर दिया। श्वासोच्छ्वास को मंद करना भी प्राणायाम है। प्राणायाम की और भी बहुत सारी प्रक्रियाएं मिलती हैं।

एक स्थिति यह हुई कि चौदह पूर्वों में हमारा जो 'प्राणावाय' पूर्व था, जिसमें सारी प्राण और अपान की प्रक्रियाएं प्रतिपादित थीं, उसके लुप्त हो जाने के कारण ही ये बहुत सारी स्मृतियां हो गयीं। यही कारण है कि प्राणायाम के सम्बन्ध में हमारी धारणाएं कुछ भिन्न हो गयीं। दिगम्बर साहित्य में कहीं भी प्राणायाम का निषेध नहीं है। यह श्वेताम्बर आचार्यों की परम्परा में चला और उन्होंने ऐसा किया। किन्तु सब बात से विचार करने से ऐसा लगता है कि प्राणायाम नहीं करना ऐसी बात नहीं है, किन्तु प्राणायाम में विवेक रखना या अमुक-अमुक परिस्थितियों में कैसे-क्या करना, इसका विवेक जरूर मध्यवर्ती आचार्यों ने दिया है।

• क्या बिना आत्मा पर प्रभाव डाले, बिना आत्मा के आवरण को हटाए जागरण हो सकता है ?

आत्मा पर प्रभाव नहीं डालना है। प्रभाव उस पर डालना है जिसने आत्मा की शक्ति पर आवरण डाल रखा है। उस प्रक्रिया के द्वारा सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालते हैं। वह प्रकम्पित होता है, वह दूर होता है तो आत्मा अपने-आप ही प्रकट हो जाती है।

• सुषुम्ना का वर्णन जैन आगम में है या नहीं ?

सुषुम्ना का वर्णन जैन आगम में है या नहीं, इसका उत्तर देना तो जरा कठिन है। क्योंकि जिसकी चर्चा कर रहे हैं वह आगम भी हमारे सामने नहीं है। परन्तु कुछ स्थलों से इसकी सूचनाएं हमें प्राप्त होती हैं।

'मज्झत्थो निज्जरापेही'—यह **आचारांग सूत्र** का एक वाक्य है। इसका प्रचलित अर्थ है—'निष्पक्ष और निर्जरापेक्षी'। गहराई में जाने पर शायद इसके अर्थ को बदलना होगा। और बहुत सारे ऐसे आधार मिले हैं जो इन्हें

बदलने के लिए पर्याप्त होंगे। इसका अर्थ होगा—जो निर्जरापेक्षी है, उसे मध्यस्थ होना चाहिए, मध्यमार्ग (सुषुम्ना) में स्थित होना चाहिए।

दूसरा वाक्य है—'पणया वीरा महावीहिं'—महापुरुष महावीथि पर चल पड़े हैं। मैं पूछना चाहता हूं कि यह 'महावीथि' क्या है? यह राजमार्ग या बड़ा मार्ग क्या है? जहां सुषुम्ना के, कुंडलिनी के जो नाम बताये जाते हैं, उनमें कुंडलिनी या सुषुम्ना का एक नाम है **महापथ**। हठयोग-प्रदीपिका आदि ग्रंथों में कुंडलिनी के जो दस-बीस नाम गिनाए गए हैं, उनमें एक का नाम है **महापथ**। यह महापथ और **महावीथि** क्या एक नहीं है? यानी वीर पुरुष वे हैं जो महावीथि पर चल पड़े हैं, **महामार्ग** पर चल पड़े हैं।

मैं समझता हूं कि जब हमारी साधना की गहराइयां थीं, उस समय जो संकेत और जो शब्द हमें प्राप्त थे, उनकी विस्मृति हो जाने पर उनका अर्थ भी बदल गया। जब मैं अपने मध्यवर्ती आचार्यों को देखता हूं तो मुझे लगता है कि उन्होंने बहुत काफी लिखा है सुषुम्ना पर या मध्यवर्ती मार्ग पर। प्राण, अपान पर इतना लिखा है कि जब तक हम उसे नहीं पकड़ लेते, हजार प्रयत्न करें, हम मन और उसकी चंचलता का विलय नहीं कर सकते। और आप यह भी निश्चित मानिए कि इन्द्रिय और मन की चंचलता मिटे बिना सम्यक्त्व प्राप्त हो जाए, ऐसा सम्भव नहीं लगता। इन सारे सन्दर्भों के प्रसंग में मुझे स्पष्ट लगता है कि यह विषय जैन आगमों और जैन साधना पद्धति द्वारा बहुत समर्थित है।

- **वासना की शुद्धि हुए बिना चित्त की शुद्धि कैसे हो सकती है?**

वासना कोई मूल कषाय नहीं है। वह कषाय को बहुत थोड़ा-सा सुलगाने वाला कषाय है। यानी उप-कषाय है। मूल तो है राग और द्वेष। राग और द्वेष होता है, इसलिए वासनाएं हो जाती हैं। उनका स्थान नीचे रह जाता है। लेकिन एक बात जरूर है कि जब तक हम मनःचक्र या विशुद्धि चक्र को पूरा सक्रिय नहीं बना लेते, तब तक उनका भी पूर्ण विलय नहीं होता। क्योंकि जब तक इन्द्रिय और मन की चंचलता नहीं मिटती, वे भी पूर्णतः नहीं मिट सकते। उनको मिटाने के लिए निश्चित ही मनःचक्र और विशुद्धि-चक्र पर ध्यान करना होगा।

- **अभी आपने जागरण की प्रक्रिया बतायी। क्या उसी के द्वारा सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है या दूसरा भी मार्ग है?**

यह कोई जरूरी नहीं कि उसी प्रक्रिया से ही उसका जागरण हो। मार्ग

अनेक हैं। किसी व्यक्ति में तीव्र वैराग्य जाग गया, उसकी ग्रन्थि का अपने-आप ही भेदन हो जाता है। जरूरी नहीं है कि उस एक ही प्रक्रिया से हो। किसी व्यक्ति ने **'अर्हत्'** पर तीव्रता से ध्यान किया तो स्वयं **अर्हत्मय** बन गया। इतनी तीव्र अनुभूति हुई कि ग्रन्थि का भेदन हो गया। अनेक मार्ग हैं। एक पद्धति या मार्ग यह है जो मैंने अभी बताया। किसी एक रास्ते से बांधा नहीं जा सकता। दूसरी बात यह है कि हम जो सम्यक्त्व की परिभाषा कर रहे हैं वह परिभाषा भी कोई नयी नहीं है। हम परिणाम को देखकर कहते हैं कि जिस व्यक्ति में तत्त्व के प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा या आस्था पैदा हो गयी, वह सम्यक्त्वी बन गया। यह है लक्षण को देखकर लक्ष्य का बोध करना। तत्त्व को जानना सम्यक्त्व नहीं है किन्तु तत्त्व के द्वारा सम्यक्त्व की पहचान होती है। जो व्यक्ति तत्त्व को जानता है, जिसकी तत्त्व के प्रति प्रबल आस्था है, वह फिर मिथ्या-दृष्टि कैसे हो सकता है? लक्षण के आधार पर वह लक्ष्य की परिभाषा करे, यह व्यवहार की परिभाषा होती है। मूल सम्यक्त्व कहां है? वह तो सम्यक्त्व का कार्य था या एक कार्य के द्वारा सम्यक्त्व का जानना हो गया। प्रकाश को देखकर हम कहें कि सूर्योदय हो गया, यह तो प्रकाश के द्वारा, रश्मि के द्वारा सूर्य का बोध हुआ है कि सूर्य का उदय हो गया।

सम्यक्त्व क्या है? वह है आत्मा की निर्मलता। जिस आत्मा में इतनी निर्मलता पैदा हो गयी, जिसका तीव्र कषाय समाप्त हो गया, तीव्र आसक्ति समाप्त हो गयी, वह उतनी जो आत्मा की निर्मलता है, जागरूक अवस्था है सम्यक्त्व अवस्था है। इसीलिए हजारों वर्षों पहले जैन आचार्यों ने दो परिभाषाएं स्पष्ट कर दीं—निश्चय सम्यक्त्व और व्यावहारिक सम्यक्त्व। आत्मा का बोध होना निश्चय सम्यक्त्व है और तत्त्वों का बोध होना व्यावहारिक सम्यक्त्व है।

- **सम्यक्त्व का निर्णायक कौन होता है?**

निर्णय तो स्वयं को करना है। निर्णय का मानदण्ड मैंने जरूर रख दिया है। अब स्वयं ही निर्णय करें। इसका उत्तर मैं नहीं दे सकता। एक बात जरूर है कि मनःचक्र जागृत हो और उसका स्वयं को बोध न हो तो वह हमारी दोहरी अज्ञानता प्रकट हो जाती है। उसके पहले यह निर्णय कर लें कि वह हमारा जागृत है या नहीं।

- **सम्यक्त्व की प्राप्ति 'करण' के बाद होती है। क्या यह संगत नहीं है? कषायशान्ति के लिए आपका अनुभव क्या है?**

कारण का मतलब है पुद्गलों से। जो हमारे मिथ्यात्व के पुद्गल हैं,

उनको शुद्ध-अशुद्ध—इन राशियों में बांटकर उनका शोधन करना। एक उदाहरण दिया है कोदो का। कोदो धान है, उससे मादकता होती है। अब उस मादकता को धो डाला। थोड़ा धोया, थोड़ी मादकता धुली। कुछ और धोया, मादकता और समाप्त हो गयी। इस प्रकार धोते-धोते पूरी मादकता समाप्त हो गयी। यह सारी की सारी सम्यक्दर्शन की प्रक्रिया और योग की प्रक्रिया है। इस शताब्दी में इन सब बातों पर काफी काम भी हुआ है। और उन्होंने यह बताने का प्रयत्न भी किया है कि यह सम्यक्दर्शन की बहुत अच्छी प्रक्रिया है।

दूसरी बात यह है कि मैं जो कह रहा हूं इतना अनुभव तो मेरा है ही कि मनःचक्र पर ध्यान करने से कषाय की शान्ति होती है और यह मनःचक्र ही एक ऐसा स्थान है, इसी को अरविन्द कहते हैं चैत्यपुरुष या हृदय-पुरुष। हृदय-पुरुष का भी यही स्थान है। लोग कहते हैं कि घट-घट में राम। वह यही घट है। मैंने स्वयं इस पर ध्यान किया है और यह अनुभव भी किया है कि कषाय-शान्ति के लिए यह सबसे अच्छा स्थान है।

अब प्रश्न रहा जैन आचार्यों के अनुभव का। जैन परम्परा में दो प्रकार के आचार्य हुए हैं—कुछ ज्ञानी हुए हैं और कुछ योगी। योगी-कक्षा के जितने आचार्य हुए हैं, उनके ग्रन्थों को आप देखेंगे तो आपको मालूम होगा कि हमारे आचार्यों ने इन इन विषयों पर कितना विस्तार से लिखा है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि ध्यान के बिना राग-द्वेष की ग्रंथि का भेदन नहीं होता। वह ग्रंथि भी शरीर से सम्बन्धित होती है। सूक्ष्म शरीर का प्रतिबिम्ब होता है स्थूल शरीर। इसलिए दोनों से सम्बन्धित है। मैं कोई बात कल्पना के आधार पर नहीं कह रहा हूं। अपना अनुभव साथ में है और जैन आचार्यों की या दूसरे योगी आचार्यों की धारणा के आधार पर कह रहा हूं।

• **वैदिक परम्परा में अनाहतचक्र और हृदयचक्र शायद एक ही बताया गया है, उसके सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?**

सभी ऐसा नहीं मानते, कुछ मानते हैं। खोजने के लिए आज भी बहुत अवकाश है। जैसे-जैसे खोज हो रही है, नयी-नयी चीजों का पता चल रहा है। आज खोजने पर हो सकता है और भी नये चक्र हमारे सामने आ जाएं। वैज्ञानिकों ने आज अनेक ग्रंथियों का प्रतिपादन किया है।

३ शरीर का मूल्यांकन

एक पिता ने अपने पुत्रों की परीक्षा करनी चाही। दो पुत्र थे। दोनों को आमन्त्रित कर कहा—"लो, दो रुपये मैं तुम्हें देता हूं। ऐसी कोई चीज लाओ जिससे समूचा घर भर जाए।" दोनों गए। दोनों ने सोचा—"ऐसी क्या चीज लाएं जिससे समूचा घर भर जाए? आखिर रुपये दो ही हैं। बहुत नहीं हैं। ज्यादा होते तो रुपयों से भी घर भर देते। पर रुपए दो हैं और दो से समूचा घर भरा जाए, ऐसी क्या चीज हो सकती है?' अपनी-अपनी बुद्धि और अपना-अपना विचार। दोनों सगे भाई थे। भाई होना एक बात है। किन्तु अपनी क्षमता होना दूसरी बात है। एक ने सोचा—'दो रुपये में और क्या आ सकता है, घास काफी आ सकती है। घास ले आऊं और समूचे घर को भर दूं।' उसने वैसा ही किया। दो रुपये की घास खरीद लाया और समूचे घर को भर दिया। पिता ने आकर देखा, सारा घर घास से भरा हुआ है। उसने कहा—"अरे! यह क्या? सारा घर गंदा कर दिया?" लड़के ने कहा, "आपके आदेश का पालन किया है। आपने दो रुपये में सारा घर भरने का आदेश दिया था और मैंने वैसा ही कर दिया है।" पिता ने कहा—"ठीक है।" दूसरे लड़के से पूछा—"तूने क्या किया?" उसने कहा—"मैंने भी आपके आदेश का पालन कर दिया।" पिता ने पूछा—"कैसे?" लड़के ने कहा—"अभी नहीं, रात में बताऊंगा।"

रात आ गयी। अन्धेरा घना हो गया। लड़के ने सारे आंगन में दीप जला दिए। घर प्रकाश से भर गया। उसने कहा—"पिताजी! मैंने सारा घर भर दिया है।" पिता ने पूछा—"किससे भरा?" उसने कहा—"प्रकाश से।"

घर घास से भी भरा जा सकता है और प्रकाश से भी भरा जा सकता है। घास से घर भरने का मतलब है कूड़ा-कर्कट बढ़ाना, पैरों में चुभन पैदा करना। उसे फिर साफ करना होता है। जिसने प्रकाश से घर भरा, उसने सचमुच घर भर दिया और जो आदमी प्रकाश से घर भरता है वह सचमुच

ही घर भरने वाला होता है। एक ही चीज के दो अर्थ हो गए। एक ही परिणति के दो रूप सामने आ गए।

हम देखते हैं कि हर वस्तु के दो रूप होते हैं। कोई भी वस्तु एक रूप में नहीं होती। भगवान् महावीर ने कहा—**'जे आसवा ते परिसवा, जे परिसवा ते आसवा।'** जो आश्रव हैं, वे परिश्रव हैं। जो परिश्रव हैं, वे आश्रव हैं। यानी जिनके द्वारा कर्म आते हैं, बन्धन आते हैं, उन्हीं के द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है। उन्हीं में से मुक्ति आती है। और जिनमें से मुक्ति आती है, उन्हीं में से बन्धन आता है। बन्धन और मुक्ति के द्वार दो नहीं हैं। बन्धन और मुक्ति के रास्ते दो नहीं हैं। अन्तर होता है हमारी वृत्ति का और अन्तर होता है हमारे कर्म का।

शरीर के बारे में दोनों दृष्टियां हैं। अनेक विद्वानों ने शरीर को खूब गालियां दी हैं। शरीर को नरक का द्वार, शरीर को बहुत बुरा, शरीर को छोड़ने जैसा, शरीर किसी काम का नहीं आदि-आदि काफी लिखा है। तो दूसरी ओर शरीर की अभ्यर्थना भी की गयी है। शरीर की पूजा की गई है। शरीर एक पवित्र मन्दिर है जिसमें प्रभु विराजमान हैं, भगवान् विराजमान हैं और यह भगवान् का मंदिर बहुत ही पवित्र, बहुत ही पुण्य और बहुत ही अर्चनीय और बहुत ही वंदनीय है। शरीर के दोनों रूप हमें प्राप्त होते हैं।

हमारे सामने उलझन है। क्या यह शरीर सचमुच निंदनीय है? या वंदनीय है? हम इसकी निंदा करें या वन्दना करें? क्या करें, यह हमारे सामने प्रश्न है। दोनों का अपना-अपना दृष्टिकोण है। घास से घर भरने वाले का अपना दृष्टिकोण है और प्रकाश से घर भरने वाले का अपना दृष्टिकोण है बिना दृष्टिकोण के कुछ भी नहीं होता। सचमुच अपना दृष्टिकोण ही सब कुछ होता है। तो शरीर की निन्दा करने वालों का भी अपना दृष्टिकोण है।

हम क्या करें, यह प्रश्न हमारे सामने है। मैं समझता हूं कि शरीर निंदनीय तो नहीं है। निंदा करें वैसा तो नहीं है और शरीर में ऐसा कुछ नहीं है, जिससे शरीर पर हम इतना दबाव डालें और इतना उसे निरर्थक समझें। कारण बहुत साफ है। हमारी सारी शक्तियों का, हमारे सारे कर्तृत्वों का, हमारी सारी चैतन्य की रश्मियों का यदि कोई वाहक या संवाहक है तो यह शरीर ही है। इस शरीर के बिना कुछ भी नहीं हो सकता।

शरीर की स्थिति क्या है, यह मैं स्पष्ट कर दूं। आत्मा, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर—ये तीन वस्तुएं हैं। स्थूल शरीर वह है जिसमें सब कुछ प्रकट होने की क्षमता है। सूक्ष्म शरीर वह है जिसमें क्षमताओं का संग्रह है। आत्मा मूल शक्ति का स्रोत है। सूक्ष्म शरीर आत्मा पर आवरण डालता है, आत्मा की शक्तियों को रोकना चाहता है और रोकता भी है। यदि सूक्ष्म शरीर नहीं होता तो आत्मा की सारी शक्तियां अपने आप ही प्रकट हो जाती। किसी माध्यम से प्रकट करने की जरूरत नहीं होती। आज हमारा चैतन्य जो प्रकट हो रहा है, माध्यम से प्रकट हो रहा है। आंख माध्यम है चैतन्य की रश्मि के प्रकट होने का। आंख का गोला ठीक है, हम देख सकते हैं। आंख का गोला ठीक नहीं है, हम देख नहीं सकते। कान का पर्दा ठीक है, हम सुन सकते हैं। कान का पर्दा ठीक नहीं है, हम सुन नहीं सकते।

हमारी चैतन्य की रश्मि जो कि देख सकती है, वह आंख के माध्यम से देख सकती है, आंख के बिना नहीं देख सकती है, चैतन्य की एक रश्मि जो सुन सकती है, शब्द को ग्रहण कर सकती है, कान का माध्यम ठीक है तो सुन सकती है। कान का माध्यम प्राप्त नहीं है तो नहीं सुन सकती। तो हमारी चेतना का बाह्य जगत् से सम्पर्क, हमारी चेतना की बाह्य जगत् में अभिव्यक्ति जो होती है, वह स्थूल शरीर के माध्यम से होती है।

सूक्ष्म शरीर इन शक्तियों का संप्रेषण करता है। सूक्ष्म शरीर का नाम है—कर्म शरीर। हमारी जितनी स्थूलताएं प्रकट होती हैं, उन सबका कारण है, यह सूक्ष्म शरीर। सूक्ष्म शरीर बीज है। उसके बोने पर ही स्थूल शरीर प्रकट होता है। और सूक्ष्म शरीर जैसा होता है, उसी का प्रतिबिम्ब होता है स्थूल शरीर।

हमारे चैतन्य की तीन मुख्य क्रियाएं हैं—**ज्ञान, शक्ति और आनन्द**। ज्ञान चेतना का आलोक है, आनन्द उसकी अनुभूति है और शक्ति उसकी मुक्तता है। सूक्ष्म शरीर इन तीनों पर आवरण या अवरोध उत्पन्न करता है। वह आत्मा की जो अनन्त चेतना है, उसे आवृत करता है। आत्मा का जो सहज आनन्द है, उस पर ढक्कन डालता है। आत्मा की जो सहज शक्ति है, उसमें अवरोध उत्पन्न करता है। शक्ति में अवरोध उत्पन्न करना, आनन्द पर ढक्कन डालना और चेतना को आच्छादित करना—ये तीनों सूक्ष्म शरीर के कार्य हैं। और वह इन्हें अच्छी तरह से करता है। किंतु जब आत्मा जागृत हो जाती है, प्रबल हो जाती है तो वह इस बात को सहन नहीं करती और

वह सूक्ष्म शरीर का भी भेदन कर देती है। आत्मा सूक्ष्म शरीर पर प्रहार करती है। चोट करती है, तो सूक्ष्म शरीर को अपने आच्छादन को, अपने ढक्कन को हटाना पड़ता है।

जैसे-जैसे अवरोध दूर होता है, वैसे-वैसे ही उसका ढक्कन दूर होता है। और जैसे ही वह आवरण या ढक्कन दूर होता है, वैसे ही आत्मा का प्रकाश. आत्मा का आनन्द और आत्मा की शक्ति स्थूल शरीर में प्रकट होने लगती है। इसलिए स्थूल शरीर प्रकट होने का, अभिव्यक्ति का बड़ा माध्यम बन जाता है।

आत्मा और स्थूल शरीर के बीच में सूक्ष्म शरीर एक मार्ग है। इस मार्ग के साफ होने पर शक्ति, आलोक और आनन्द स्थूल शरीर तक पहुंच जाते हैं। इसलिए स्थूल शरीर हमारे लिए भगवान् का मंदिर बन जाता है, जहां भगवान् की प्रतिमा शाश्वत विराजमान है और शाश्वत अपना कार्य कर रही है। तो फिर स्थूल शरीर को कुछ लोगों ने गर्हित क्यों माना ? वह भी निरर्थक नहीं है। क्योंकि उसमें जहां आत्मा का प्रकाश पड़ता है, वहां सूक्ष्म शरीर का प्रकाश भी पड़ता है। सूक्ष्म शरीर भी इसे अपना विषय बनाए हुए है। विकार जो है वह सूक्ष्म शरीर में है, स्थूल शरीर में कोई भी विकार नहीं है। वासना सूक्ष्म शरीर में है। स्थूल शरीर में कोई भी वासना नहीं है। क्रोध सूक्ष्म शरीर में है, स्थूल शरीर में कोई क्रोध नहीं है। हमारे जितने विकार, हमारी जितनी वासनाएं, हमारे जितने संस्कार, हमारी जितनी दुर्भावनाएं—ये सारी सूक्ष्म शरीर में हैं, स्थूल शरीर में नहीं हैं। किंतु ये सारी की सारी अभिव्यक्त होती हैं स्थूल शरीर के द्वारा। और सूक्ष्म शरीर ने स्थूल शरीर में अपने लिए ऐसा निर्माण भी किया है कि वे सारी की सारी बातें इसमें अभिव्यक्त हो सकें।

सेक्स सेंटर (Sex-Centre) वासना की अभिव्यक्ति का केन्द्र है। क्रोध की अभिव्यक्ति का केन्द्र है—ललाट। साहित्य में स्थायी, सात्विक और संचारी भावों का जो वर्णन है, वह सारा का सारा अभिव्यक्तियों का वर्णन है। जिस व्यक्ति को गुस्सा आता है, क्रोध आता है, आंखें लाल हो जाती हैं, होंठ फड़फड़ाने लग जाते है, शरीर कांपने लग जाता है। क्रोध अभिव्यक्त होता है। अभिमान की अभिव्यक्ति का भी केन्द्र है। जैसे ही अहं का भाव आया, गर्दन में अकड़न आ जाती है। शक्ति का भी केन्द्र है। शक्ति का केन्द्र है—जंघा। वह जितनी मजबूत होगी, उतना ही व्यक्ति

चलने में सशक्त होगा।

एक दूत था। उसका नाम **लोहजंघ** था। उसकी जंघा लोहे जैसी थी। वह एक रात में सौ योजन चल लेता था। आठ सौ मील एक रात में चल लेता था। आप कल्पना नहीं कर सकते। किन्तु यह असत्य नहीं है, झूठ नहीं है। हो सकता है यह। प्राचीन साहित्य में आज भी ऐसी अनेक पद्धतियां वर्णित हैं, कि अमुक-अमुक प्रकार के द्रव्यों का, औषधियों का प्रयोग करने से चलने की शक्ति बढ़ जाती है, क्षमता बढ़ जाती है। आज उसका परीक्षण और अन्वेषण करने की जरूरत है। कोई असम्भव नहीं कि उन द्रव्यों का प्रयोग करने से यह स्थिति उत्पन्न हो जाए।

हमारे शरीर में इतनी शक्ति है कि अगर उसका ठीक से विकास किया जाए तो यह कोई भी असम्भव बात नहीं है। हिरन, घोड़े और सांप तो दौड़ते ही हैं पर आदमी उनसे भी ज्यादा दौड़ सकता है। आदमी सबसे ज्यादा खतरनाक और सबसे ज्यादा शक्तिशाली है और सबसे अधिक कर सकने वाला है। दूसरों को वह दौड़ाने वाला है, दूसरों को सिखाने वाला है और दूसरों से अनेक करतब कराने वाला है। स्वयं जाग जाए तो स्वयं कर दे अन्यथा दूसरों से तो करवाता ही है। यह जंघा हमारी शक्ति का केन्द्र है।

हमारे शरीर में शक्ति का दूसरा केन्द्र है—पृष्ठरज्जु (Spinal cord)। मैं पहले बहुत बात सोचता था, कर्मशास्त्र के अध्ययन के समय, कि हमारी हर शक्ति, हमारा हर चैतन्य और हमारा हर आनन्द किसी न किसी शरीर के अवयव के माध्यम से प्रकट होना चाहिए। उसका सम्बन्ध क्या है? संबंधों पर जब विचार किया, बहुत वर्षों तक विचार किया, पर कुछ समझ में नहीं आया। पता नहीं चला कि शक्ति-केन्द्र क्या है? आनन्द-केन्द्र कौन-सा है और प्रकाश-केन्द्र कौन-सा है? किंतु योग और कर्म-शास्त्र के समन्वित अध्ययन से ये दोनों बातें बिलकुल स्पष्ट हो गयीं।

शक्ति का केन्द्र, आनन्द का केन्द्र और प्रकाश का केन्द्र कौन-सा है—इस विषय में कुछ बातें मैं आपके सामने रखूंगा। पृष्ठरज्जु—रीढ़ की हड्डी हमारा शक्ति-केन्द्र है। कर्मशास्त्र में लिखा है कि जो व्यक्ति 'वज्र-ऋषभनाराचसंहनन' वाला नहीं होता, वह उच्चतम ध्यान का अधिकारी नहीं होता। वास्तव में ध्यान का अधिकारी होता है उत्तम संहनन वाला—वज्र-ऋषभनाराचसंहनन वाला। जिसकी हड्डियां मजबूत होती हैं, सुदृढ़ होती हैं, वह ध्यान कर सकता

है। आप सोचेंगे, ध्यान का और अस्थि का सम्बन्ध क्या है? बहुत गहरा सम्बन्ध है। हमारी शक्ति का मूल है—अस्थि। शरीर में हड्डियां भी हैं, मांस भी हैं और रक्त भी है। पर शक्ति के लिए सबसे अधिक मूल्य हड्डी का है, मांस का नहीं है। मूलतः हड्डी का सबसे अधिक महत्त्व है। जिसकी अस्थि मजबूत होती है, वही स्वस्थ माना जाता है। अस्थि खराब होती है, वह होता है बीमार। स्वास्थ्य का सम्बन्ध है हड्डियों से। हड्डियां जितनी मजबूत होती हैं, उतनी ही ताकत होती है।

हम ध्यान करने के लिए बैठते हैं। हड्डियां मजबूत हैं तो दो-चार घंटे एक साथ बैठ सकते हैं। हड्डियां मजबूत नहीं हैं तो एक घंटे बैठना भी कठिन हो जाएगा। भगवती सूत्र का एक प्रसंग है। वहां भगवान् महावीर से गौतम स्वामी ने पूछा—'वैक्रिय कौन कर सकता है?' 'वैक्रिय शरीर का अर्थ जो हम समझे हुए हैं, उससे आगे भी हमें समझना होगा। वैक्रिय का मतलब केवल रूपों का निर्माण ही नहीं है। विभिन्न क्रियाएं करना भी वैक्रिय ही है। एक आदमी आसन करता है, इतने विचित्र आसन करता है, शरीर को बिल-कुल गोल-मटोल बना लेता है। विभिन्न प्रक्रियाएं करता है। यह कौन कर सकता है? जिसकी हड्डियां लचीली हैं, वही कर सकता है। जिसकी हड्डियां कड़ी हैं, वह आसन नहीं कर सकता।

भगवान् ने गौतम स्वामी को उत्तर दिया कि जिसकी हड्डियां और मज्जाएं सघन होती हैं, मांस और शोणित पतला होता है, वह वैक्रिय कर सकता है। भगवती सूत्र में पूरी-की-पूरी एक प्रक्रिया बतलाई गयी है। हमने अनुसंधान नहीं किया, इसलिए हम जान नहीं पाये। वहां बतलाया है कि जो आदमी स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करता है, और प्रयोग करके उनका वमन कर लेता है—खाता है और फिर छोड़ता है, इस प्रकार करने वाला वैक्रिय कर सकता है। जो रूखा भोजन करता है, उसकी हड्डियां और मज्जा सघन नहीं होती, वह वैक्रिय नहीं कर सकता।

बहुत सारे लोग समझते हैं कि जैन धर्म में रूखा-सूखा खाने का ही विधान है। वह हो सकता है, किन्तु केवल रूखा-सूखा खाने का ही विधान नहीं है। भगवान् महावीर ने अपना पहला पारणा किया खीर और मधु से।

जैन आगमों में बताया गया है कि भगवान् महावीर आदिवासियों के बीच में गए। आदिवासी लोगों ने भगवान् को बहुत सताया क्योंकि उनमें

क्रोध बहुत था। फिर प्रश्न हुआ कि उनमें क्रोध बहुत क्यों था ? इसका कारण बताया कि वे रूखा भोजन खाने वाले थे, इसलिए उन्हें गुस्सा ज्यादा आता था। आप देखेंगे कि केवल शरीर को तपाने वाले प्रायः क्रोधी होते हैं। कोरा तपस्वी क्रोधी होता है।

शरीर के प्रति हमने जैसा दृष्टिकोण बना रखा है वह बहुत गलत है; क्योंकि शरीर का पूरा ध्यान रखे बिना हम शक्ति का पूरा प्रयोग नहीं कर सकते। अगर हम शरीर का पूरा ध्यान रखें तो निश्चित ही बहुत-सी बुराइयों से बच सकते हैं। जो शरीर के द्वारा अच्छाइयां प्रकट होती हैं, अगर हम उनके प्रति सजग रहें तो उनका पूरा उपयोग कर सकते हैं। प्रायः प्रकट होने वाली अच्छाइयां भीतर की भीतर रह जाती हैं। हम अपनी शक्ति का उपयोग नहीं कर पाते। हम अपने आनन्द का उपयोग नहीं कर पाते। वह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम शरीर को किस प्रकार रखते हैं और उसके साथ कैसा व्यवहार करते हैं।

शक्ति के प्रकट होने का जो केन्द्र है यह है पृष्ठरज्जु। सारे स्नायु यहीं से निकले हैं। यहां स्नायुओं का जाल है। सारे चक्र इसी में हैं। दूसरा केन्द्र आनन्द का है। आनन्द का केन्द्र है—अनाहत चक्र—मनःचक्र, हृदय-चक्र। आनन्द सारा यहां प्रकट होता है, क्योंकि तन्मयता यहां होती है, भावनाएं यहां होती हैं। राग-द्वेष के भाव भी यहीं होते हैं और आनन्द भी यहीं होता है।

एक बहुत सुन्दर रूपक है। देवताओं ने असुरों से युद्ध किया तो आनन्द का घट उनके हाथ लग गया। उन्होंने सोचा—इसे रखें कहां ? आनन्द का घट खुले में तो रखा नहीं जा सकता। अगर वह असुरों के हाथ लग गया तो वे आनन्द में मग्न हो जाएंगे। असुरों से बचाकर रखना है तो कहां रखें ? खोजते-खोजते उन्हें जब कोई अनुकूल स्थान नहीं मिला तो उन्होंने खोजा एक सुरक्षित स्थान। और वह था मनुष्य का हृदय। और वह सुरक्षित क्यों है ? मनुष्य और सब कुछ देखता है, अपने हृदय को नहीं देखता। इसलिए यह स्थान सबसे अधिक सुरक्षित है। देवताओं ने आनन्द का घट लाकर मनुष्य के हृदय में रख दिया।

मनुष्य और सब कुछ खोजता है, ढूंढ़ता है, भटकता है, परन्तु अपने हृदय को नहीं खोजता। इसलिए आनन्द का घट आज भी सुरक्षित वहीं का वहीं पड़ा है। यह रूपक हो सकता है परन्तु इसका तात्पर्य यह है—आनन्द का

घट आज भी हमारे हृदय में सुरक्षित है। यह हमारे आनन्द का केन्द्र है। और इस स्थान पर ध्यान करने से आनन्द की अभिव्यक्ति होती है, आनन्द प्रकट होता है।

चेतना की अभिव्यक्ति का केन्द्र है—बृहद् मस्तिष्क। हमारी सारी की सारी चेतना यहां अभिव्यक्त होती है। हम कहते हैं कि सम्पूर्ण शरीर में चेतना है। किन्तु मस्तिष्क नहीं है तो कहीं भी चेतना नहीं है। आप आंख को देखते हैं। आंख का गोला बिलकुल ठीक दिखायी देता है। परन्तु मस्तिष्क के अन्दर जो आंख का केन्द्र है, उसकी नाड़ी सूख गई तो आंख की शक्ति समाप्त हो जाएगी। मैंने ऐसे व्यक्ति को देखा है, जिसकी आंख बिलकुल ठीक दिखायी पड़ती है, किन्तु मस्तिष्क के अन्दर नाड़ी सूख गयी है इसलिए उसकी आंख काम नहीं कर रही है। कान का पर्दा बिलकुल ठीक ढंग से है। नाड़ी सूख गयी तो वह काम नहीं देगा। सुनायी नहीं पड़ेगा।

हमारी बहुत सारी शक्तियां सुषुप्त रह जाती हैं। उन्हें हम जानते नहीं हैं। प्राणायाम करने का मुख्य अर्थ है—वायु-कोशों को प्राणवायु से भरना और ज्यादा से ज्यादा भरना। जितना ज्यादा भर सकेंगे, उतनी ही ज्यादा हमारी ऊर्जा बढ़ेगी। उसमें एक अग्नि प्रज्वलित होगी और हमारी शक्ति को जागृत करने का अवसर देगी।

हम तपस्या क्यों करते हैं? इसीलिए कि हम अपनी शक्ति का ठीक प्रकार से उपयोग कर सकें। ये सारे के सारे अपनी शक्ति के उपयोग के साधन हैं। अगर हम इन्हें ठीक प्रकार से समझ लें, तो अपनी शक्ति को अधिक से अधिक उपयोगी कर सकते हैं। अगर मैं भूखा नहीं रह सकता और केवल तपस्या का आग्रह करूं तो अपनी शक्ति का उपयोग नहीं कर सकता। जो व्यक्ति भूखा रहकर अपनी शक्ति का अच्छा उपयोग कर सकता है और वह अगर नहीं करता है तो अपनी शक्ति का लाभ नहीं उठा सकता। आप किसी भी बात को एकांगी दृष्टि से मत पकड़िए। तपस्या भी करना, आसन भी करना, प्राणायम भी करना, शरीर के उपयुक्त संतुलित भोजन भी करना, शरीर को जिन-जिन तत्त्वों की आवश्यकता है उन तत्त्वों का पोषण भी देना, ये सारी बातें आवश्यक हैं। अब चुनाव करना आपका काम है कि आपको किस बात की अपेक्षा है और किसके द्वारा आप स्थूल शरीर को ठीक रखकर सूक्ष्म शरीर से भी ठीक काम ले सकते हैं।

इस प्रकार दो शरीरों के सम्बन्ध में मैंने थोड़ी चर्चा की। सूक्ष्म

शरीर से काम लेने के लिए बहुत सारी प्रक्रियाएं हैं। आज मैं इस पर चर्चा नहीं करूंगा। यह एक स्वतंत्र विषय है। उस पर मैं कभी समय से चर्चा करूंगा और यह प्रस्तुत करूंगा कि किन क्रियाओं के द्वारा हम सूक्ष्म शरीर को अधिक काम में ले सकते हैं, शक्तियां जागृत कर सकते हैं और उसे अपने लिए अधिक उपयोगी बना सकते हैं। किन्तु आज वह विषय नहीं है। आज का विषय है—स्थूल शरीर के बारे में हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए, और उसे हमें किस दृष्टि से देखना चाहिए।

शरीर में और भी ऐसे अनेक केन्द्र हैं। हमारा सारा नाड़ी-संस्थान बहुत ही महत्त्व का है। जो नाड़ी-विज्ञान का ठीक ज्ञाता है, वह शरीर की शक्तियों का कितना उपयोग कर लेता है! योग के आचार्यों का मत रहा है कि जो नाड़ी-विज्ञान और नाड़ियों में प्राण-वायु के संचार को नहीं जानता, वह बीसों वर्ष तक क्लेश करता रहे, उसे कोई भी उपलब्धि नहीं हो सकती। आपका पेट दुःखता है और नाड़ी दबाई जाती है पृष्ठरज्जु की। जो लोग इस विषय के जानकार होते हैं, वे नाड़ी के द्वारा हर विषय की चिकित्सा कर लेते हैं और उनका दावा भी है कि वे नाड़ी के द्वारा हर रोग की चिकित्सा कर सकते हैं।

नाड़ियों की शक्ति से शायद हम परिचित नहीं हैं। नाड़ियों के इधर-उधर करने से शरीर में कितने ही परिवर्तन हो जाते हैं। आप देखते हैं कि थोड़ी-सी नाड़ी टेढ़ी हो गयी, पीठ की हड्डी थोड़ी टेढ़ी हो गयी, अनेक विकृतियां शरीर में उत्पन्न हो जाती हैं। प्राणवायु उनमें ठीक से नहीं जाएगा। इसीलिए कहा गया कि जब ध्यान करो, आसन करो, बैठो, उस समय शरीर को बिलकुल सीधा रखो। आयुर्वेद में तो यहां तक है कि छींकना हो तो टेढ़ा होकर मत छींको। बात करनी हो तो टेढ़े होकर बात मत करो। भोजन करना हो तो टेढ़े होकर भोजन मत करो। किसी को देखना हो तो टेढ़े होकर मत देखो। ऐसा करने से शक्ति का क्षय होता है। टेढ़े होने से शक्ति क्षीण होती है। इसीलिए जो कुछ भी करना हो, सीधे होकर करो।

ध्यान के आचार्यों का सीधा निर्देश है—'समग्रीवः'—ग्रीवा बिलकुल सीधी होनी चाहिए। पृष्ठरज्जु बिलकुल सीधा होना चाहिए, जिससे प्राण-तत्त्व का प्रवाह सीधा रहे, वह टेढ़ा-मेढ़ा न हो। क्या आप सोचते हैं कि भगवान् महावीर ने शरीर पर कोई ध्यान नहीं दिया? बहुत ध्यान दिया था। भगवान् ने कभी भी अपने शरीर को अनुपयोगी नहीं बनाया। वे लम्बी

तपस्याएं करते थे पर शरीर को शक्तिहीन बनाकर कभी भी लेटे नहीं रहे। तपस्या में भी उनका ध्यान निरन्तर चलता था। साधना-काल में तपस्या से शरीर कुछ कृश हुआ पर शक्तिहीन नहीं।

स्कन्दक परिव्राजक भगवान् महावीर के पास गया। उसने देखा कि भगवान् बहुत सुन्दर हैं। शरीर पर आभा खिल रही है। वह मांसल है। इसका कारण क्या है? भगवान् अब प्रतिदिन भोजन करने लगे हैं। भगवान् ने साढ़े बारह वर्ष तक तपस्या की, कृश हो गए किन्तु अब भगवान् रोज भोजन कर रहे हैं, इसलिए सुन्दर बन गए हैं। गोशालक ने यही तो कहा आर्द्रकुमार से—'देखो, तुम्हारे महावीर कैसे हो गए हैं? एक दिन था तपस्याएं करते थे। जंगल में घूमते थे। अकेले घूमते थे। साधारण भोजन करते थे। अब सब लोगों के बीच में बैठते हैं और श्रेष्ठ भोजन करते हैं। तपस्या छोड़ दी, उपवास छोड़ दिया और आराम करने लग गए हैं। पहले वाले अब महावीर नहीं रहे। इसलिए तुम अब इनके पास मत जाओ।'

महावीर ने शरीर के प्रति उपेक्षा की, ऐसा नहीं कहा जा सकता। भगवान् ने शरीर को साधन बनाया।

भगवान् ने नासाग्र पर दृष्टि को टिकाया। प्रश्न होता है—क्यों टिकाया? क्योंकि यह चेतना का केन्द्र है। प्राणवायु का मुख्य केन्द्र है—नासाग्र। यह नाक का हमारा अगला भाग (होंठ के ऊपर के भाग से भृकटि के नीचे तक का भाग) नासाग्र है। यह प्राणवायु का मुख्य स्थान है। यहां मन को टिकाते ही प्राणवायु स्थिर हो जाती है, प्राणवायु रुद्ध हो जाती है और मन का विलय हो जाता है। भगवान् ने इसका आलंबन लिया। भगवान् ने दूसरे-दूसरे आलंबन भी लिये हैं। ऊर्ध्व शरीर का आलंबन लिया मध्य शरीर का आलम्बन लिया और अधोशरीर का आलम्बन लिया।

यह हमारा शरीर साधना के लिए बहुत सहयोगी और बहुत उपयोगी है। इसका मूल्यांकन करना चाहिए। हम जिस दृष्टि से इसका मूल्यांकन कर रहे हैं, उसकी अपेक्षा अब नये सिरे से उसका मूल्यांकन करना चाहिए। शरीर बहुत मूल्यवान् है, बहुत उपयोगी है, और उसकी शक्तियों को बनाये रखना हमारी साधना के लिए भी बहुत मूल्यवान् है।

एक शरीर के बारे में और जानना आवश्यक है। वह है तैजस शरीर। वह भी सूक्ष्म है। वह प्राणशक्ति का केन्द्र है। जितनी ऊर्जा उत्पन्न होती है, जितना प्राण उत्पन्न होता है, उसे उत्पन्न करने वाला जेनेरेटर है तैजस

शरीर। वहां से सारी शक्ति, सारा पॉवर उत्पन्न होता है और हमारे सारे शरीर को सक्रिय बनाए रखता है।

शरीर का नाम लेते ही आपकी कल्पना आएगी कि यही हाड़-मांस का, अवयव वाला शरीर। ऐसी कल्पना आप मत कीजिए। हमारे स्थूल शरीर में हाड़-मांस और अवयव हैं। कर्म शरीर में कोई अवयव नहीं है। वह मात्र एक शक्ति है। वह एक सूक्ष्म द्रव्य है। उसमें न हाड़-मांस है, न हाथ-पैर हैं और न कान-नाक और मुंह है। कुछ भी नहीं है। तैजस शरीर में भी कुछ भी नहीं है। अवयव नहीं है और अस्थि-मांस भी नहीं है दोनों सूक्ष्म शरीरों में कुछ भी नहीं है। वे केवल शक्तियां हैं।

आज के कुछ योगी इनके अतिरिक्त भी शरीर की कुछ और कल्पनाएं करते हैं। कोई कठिनाई नहीं है। हमारे सूक्ष्म शरीर की, कर्म शरीर की, जितनी प्रवृत्तियां हैं, उतने ही शरीरों की कल्पनाएं की जा सकती हैं। विस्तार में जाएं तो कर्म-शरीर के पचास प्रकार किए जा सकते हैं, और विस्तार का संक्षेप करें तो एक शब्द में सब शरीरों को कर्म शरीर कहा जा सकता है।

साधना की दृष्टि से शरीर क्या है, शरीर का हमारे लिए क्या उपयोग है और शरीर का हमें मूल्य आंकना चाहिए—ये कुछ बातें मैंने प्रस्तुत कीं। मैं समझता हूं कि हम इन दृष्टियों से शरीर पर विचार करेंगे और शरीर के प्रति जो संस्कार और धारणाएं हैं उनमें यदि परिमार्जन जैसी कोई बात लगे तो परिमार्जन करने में भी संकोच नहीं करेंगे।

४ शरीर का संवर

पुराने जमाने की बात है। एक धनी-मानी व्यक्ति राजा के पास पहुंचा और उसने कहा, 'मुझे नगरसेठ बना दो। इतना सारा धन मैं आपको उपहार में देता हूं।' राजा ने सुन लिया, उपहार लिया और उसे नगरसेठ बना दिया। उपाधि दे दी। नगरसेठ बन गया। नगरसेठ बनने में उसे बहुत कुछ नहीं करना पड़ा। कुछ देना पड़ा होगा धन। और कुछ नहीं करना पड़ा। उपाधि मिली, नगरसेठ बन गया।

एक विद्यार्थी अध्यापक के पास गया और बोला, 'मुझे विद्वान् बना दो।' अध्यापक ने कहा, 'तुम बन सकते हो। किन्तु जैसे वह नगरसेठ बना, वैसे तुम विद्वान् नहीं बन सकते। कुछ न कुछ करना पड़ेगा। बहुत कुछ नहीं करना पड़ेगा। जो स्मृति का यन्त्र है, उसे जागृत करना पड़ेगा। क्योंकि जो हम बाहर से पढ़ते हैं, उसमें हमारा आत्मीय बहुत नहीं होता। हमारा जो स्मृति-यंत्र है, उसे पुष्ट करना होता है। और उसे सक्रिय करना होता है। जिसका स्मृति-यंत्र पुष्ट हो जाता है, वह बाहर की बहुत सारी चीजें ले लेता है।' अध्यापक ने श्रम किया और वह विद्वान् बन गया।

इंग्लैंड का एक राजा था। उसका नाम था जेम्स। वह उपाधियां बहुत दिया करता था, और उपाधि देने में बहुत प्रसिद्ध था। एक प्रतिभाशाली पुरुष राजा के पास आया। राजा ने कहा, 'कहो, क्या चाहते हो?' उसने कहा, 'मैं एक बात चाहता हूं, आशा है आप जरूर करेंगे।' राजा ने कहा, 'बताओ, क्या चाहते हो?' उसने कहा, 'आप मुझे सज्जन बना दें।' राजा ने कहा, 'मैं तुम्हें ड्यूक बना सकता हूं, लार्ड बना सकता हूं, चार्ल बना सकता हूं, ये सारी उपाधियां दे सकता हूं किन्तु सज्जन नहीं बना सकता।'

यह तीसरी घटना है। सज्जनता आरोपित नहीं होती, वह जागृत होती है—प्रकृति से, आन्तरिकता से और अन्तर्मन से। यदि आरोपण होता, यदि कोई उपाधि होती तो जैसे ड्यूक, लार्ड और चार्ल बनाया जाता है वैसे सज्जन भी बनाया जा सकता था। किन्तु सज्जन बनाया नहीं जा सकता क्योंकि यह उपाधि नहीं है, आरोपण नहीं है।

चौथा चित्र और है। एक राजा के चार रानियां थीं। राजा प्रयोजनवश विदेश गया। काफी दिनों तक रहा। पुराना जमाना था। वायुयान का युग नहीं था कि आज गया और कल वापस आ गया। जाने में लम्बा समय लगता था और आने में भी लम्बा समय लगता था। और जब आने-जाने में लंबा समय लगता है तो कोई भी आदमी जाकर जल्दी लौटता भी नहीं है। रुकने की भी इच्छा होती है। राजा कुछ दिन लम्बा रह गया। रानियों ने सोचा कि काफी विलम्ब हो रहा है, प्रतीक्षा थी ही और जब पता चला कि राजा आने वाला है तो रानियों ने पत्र प्रेषित किया। चारों ने चार पत्र राजा को लिखे।

राजा कुछ दिन बाद घर लौट आया। राजा परिषद् में बैठा। चारों रानियों को भी आमंत्रित किया। राजा ने अपनी यात्रा का वर्णन सुनाया। वह अपने साथ कुछ आभूषण भी लाया था। एक रानी के लिए नुपूर लाया था, एक रानी के लिए लाया था हार और एक के लिए लाया था बाजूबन्द। तीन रानियों को तीन आभूषण और शेष सब छोटी रानी को दे दिया। आप कहेंगे कि यह पक्षपात की बात है। यह बहुत बड़ा पक्षपात है! जब पुरुष ही पक्षपात को सहन नहीं कर सकता तो स्त्री भला कैसे सहन कर सकती है! मनोवैज्ञानिक दृष्टि से माना जाता है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री में ईर्ष्या कहीं अधिक होती है। वे कैसे सहन कर सकती थीं! तीनों रानियां उबल पड़ीं। तीनों ने सभा के बीच में राजा पर आक्रोश प्रकट किया और उस पर पक्षपात का आरोप लगाया। राजा गम्भीर मुद्रा में सुनता रहा। दो क्षण बाद उसने कहा, 'मैंने कोई पक्षपात नहीं किया।' सारे पार्षद भी यह समझ रहे थे कि राजा ने पक्षपात किया है। तीनों रानियां यह समझ रही थीं कि राजा ने पक्षपात किया है। और सुननेवाले आज भी यही समझेंगे कि राजा ने पक्षपात किया। कोई भी व्यक्ति यह कैसे समझ सकता है कि जो व्यक्ति तीन रानियों को एक-एक वस्तु दे और शेष सारी सम्पत्ति एक रानी को दे दे वह पक्षपात से रहित है। आप न्याय की भाषा में सोचेंगे और बोलेंगे तो आप यह नहीं कह सकेंगे कि राजा ने पक्षपात नहीं किया है। आपका स्वर यही होगा कि राजा ने पक्षपात किया है। और राजा कहता है कि मैंने कोई पक्षपात नहीं किया। जहां सौ विरोधी बातें आ जाती हैं, जहां टक्कर और संघर्ष होता है, वहां न्याय के लिए अवकाश आ जाता है। 'न्याय होना चाहिए'—सबने कहा। राजा बहुत दृढ़ था। उसके मन में कोई कम्पन नहीं

था और वह दृढ़ता के साथ इस बात का प्रतिपादन कर रहा था कि मैंने कोई पक्षपात नहीं किया है। राजा ने देखा कि अब प्रमाण चाहिए।

राजा ने चार पत्र निकाले। मंत्री से कहा कि पहला पत्र पढ़ो। उसमें कुशलक्षेम के साथ ही यह भी लिखा था कि आप आने वाले हैं, इसलिए वहां से हमारे लिए एक बढ़िया नूपुर लेते आएं। दूसरी रानी का पत्र पढ़ा तो उसमें हार की मांग थी। तीसरी रानी का पत्र पढ़ा तो उसमें बाजूबन्ध की मांग थी। चौथा पत्र पढ़ा गया तो उसमें किसी चीज की मांग नहीं थी। उसमें लिखा था—"प्रिये! मुझे कुछ नहीं चाहिए। आपको गये हुए बहुत दिन हो गये हैं। आप ही मेरे लिए सब कुछ हैं। मुझे केवल आप चाहिए, और कुछ भी नहीं चाहिए। आप जल्दी चले आएं।"

राजा ने पूछा, "मैंने क्या अन्याय किया? जिसने नूपुर मांगा था, उसको नूपुर मिला। जिसने हार मांगा था, उसको हार मिला। जिसने बाजूबन्ध मांगा था, उसको बाजूबन्ध मिला। जिसने मुझे मांगा था, उसे मैं मिल गया। जिसे मैं मिल गया बसे मेरी सारी सम्पत्ति मिल गयी। अब आप ही कहिए कि मैंने अन्याय किया या न्याय किया?" अब शायद आप भी सोचेंगे कि राजा ने न्याय किया। जिसने जो मांगा था, वह उसे मिल गया। जिसने कुछ नहीं मांगा, उसे सब कुछ मिल गया। आप ठीक समझिए, जो जैसा मांगता है, उसे वैसा ही मिलता है और जो कुछ नहीं मांगता, उसे सब कुछ मिल जाता है।

साधना की दो दृष्टियां हैं—एक **चित्त-पर्याय का निर्माण** और दूसरी **चित्तातीत अवस्था**। चित्त-पर्याय का निर्माण ठीक तीन रानियों की बात थी। कोई साधक चाहता है कि मैं अमुक बन जाऊं, कोई चाहता है कि मैं अमुक बन जाऊं। यह चित्त-पर्याय के निर्माण की अवस्था है। यहां सारी मांगें समाप्त हो जाती हैं। भगवान् महावीर की साधना-पद्धति चित्तातीत साधना-पद्धति है, जिसका मूल है विकल्प की शून्यता। बनना कुछ नहीं है। अपने अस्तित्व तक पहुंच जाना है। अपने आप तक पहुंच जाना है। जहां अपना अस्तित्व पूर्णरूपेण प्रकट होता है, वहां तक पहुंच जाना है। इसके लिए भगवान् ने संवर-साधना का प्रतिपादन किया।

साधनाएं दो प्रकार की हैं—एक चित्त-पर्याय का निर्माण, जो निर्जरा की साधना है; एक चित्तातीत का निर्माण, जो संवर की साधना है।

महावीर ने चित्तातीत साधना को मुख्यता दी। संवर को उन्होंने साधना

का मुख्य अंग बताया। उन्होंने कहा कि संवर करो, संवर करो। क्यों ?—यह प्रश्न हो सकता है। चित्त-पर्याय का निर्माण हमें वहां तक नहीं ले जाता जहां हम पहुंचना चाहते हैं। वह अस्तित्व तक कभी भी नहीं ले जा सकता। चाहे हम चित्त-पर्याय की साधना हजारों-लाखों वर्षों तक करते चले जायें, पर अपने अस्तित्व तक नहीं पहुंच सकते। अस्तित्व की देहरी तक नहीं पहुंच सकते। उसकी कल्पना मात्र कर सकते हैं, किन्तु उसके मूल तक नहीं पहुंच सकते। उसमें कुछ बाधाएं उपस्थित हो जाती हैं, विघ्न आ जाते हैं और फिर से हमें लौट आना पड़ता है। वहां से लौटना ही पड़ता है, आगे पहुंच नहीं पाते। चित्तातीत अवस्था की साधना हमें अस्तित्व तक पहुंचा देती है।

हमारा अस्तित्व, हमारा कर्म-शरीर और हमारा स्थूल शरीर—ये तीन चीज हैं। हमारा शरीर चंचल है। हमारी वाणी चंचल है। हमारा मन चंचल क्यों है ? ये प्रवृत्ति क्यों करते हैं ? सूक्ष्म शरीर ने इनका निर्माण किया है। आत्मा शरीर का निर्माण नहीं कर सकता, चेतन शरीर का निर्माण नहीं कर सकता, चेतन जड़ का निर्माण नहीं कर सकता। जड़ का निर्माण जड़ ही करता है, दूसरा नहीं करता। चेतन कभी नहीं कर सकता। अगर चेतन के द्वारा शरीर का निर्माण हो जाए तो फिर ब्रह्म के द्वारा अचेतन सृष्टि का निर्माण होने में कोई कठिनाई पैदा नहीं होगी। और हमारा तर्क वहीं स्खलित हो जायेगा। उपादान के प्रतिकूल भी कार्य निष्पन्न हो सकता है। जब हम यह स्वीकार करते हैं कि उपादान के प्रतिकूल किसी कार्य का सृजन नहीं होता तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि चेतन अचेतन का निर्माण नहीं करता। चेतन अचेतन का सृजन नहीं कर सकता। शरीर का निर्माण शरीर करता है। क्योंकि सूक्ष्म शरीर—कर्म-शरीर भी अचेतन है और यह स्थूल शरीर भी अचेतन है। अचेतन के द्वारा अचेतन का निर्माण होना है, चेतन से अचेतन का निर्माण नहीं होता।

सूक्ष्म शरीर ने स्थूल शरीर का निर्माण क्यों किया ? उसकी अपनी अपेक्षा है। वह बने रहना चाहता है। आत्मा चाहती है कि सूक्ष्म शरीर छूट जाए, शरीर बन्धन है और उसकी शक्तियों को रोके हुए है। पिंजड़ा बना हुआ है। पक्षी कब चाहता है कि वह पिंजड़े में रहे। पक्षी चाहता है कि पिंजड़ा टूट जाए। आत्मा चाहती है कि शरीर छूट जाए, बिखर जाए। सूक्ष्म शरीर हटना नहीं चाहता, वह बना रहना चाहता हैं। वह पुष्ट रहना चाहता है। तो कोई भी जो रहना चाहता है, उसके लिए साधनों की भी

जरूरत है। सूक्ष्म शरीर को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए साधनों की जरूरत है। उसने अपनी शक्ति के पोषण के लिए तीन साधन निर्मित किये हैं—स्थूल शरीर, मन और वाणी। यानी प्रकृति का एक ऐसा व्यूह अपने आस-पास रच लिया जिससे कि उसका भेदन न हो सके।

आप जानते हैं कि अगर आपको खाने को न मिले, आप कितने दिन टिक पाएंगे ? हो सकता है कि पचास दिन टिक जाएं, हो सकता है कि सौ दिन टिक जाएं। आखिर यह शरीर छूट जाता है। अगर सूक्ष्म शरीर को भी खाने को न मिले तो वह कब तक टिक पाएगा ? उसे भी खाने को चाहिए। अपने शरीर को धारण करने के लिए कुछ सामग्री चाहिए। साधन चाहिए। वह कहां से आएगा ? उसका आयात कौन करता है ? सबसे बड़ा आयातक है स्थूल शरीर।

यह स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर के लिए आयात कर रहा है। सारी सामग्री खींच रहा है, तान रहा है, संप्रेषित कर रहा है। अगर यह बाहर से आयात न करे तो काम नहीं चल सकता। यह आयात करता है और वहां तक पहुंचा देता है। बाहर से लेता है और सूक्ष्म शरीर तक पहुंचा देता है। सूक्ष्म शरीर को पूरा पोषण मिल रहा है और वह टिक रहा है। वह टिक रहा है स्थूल शरीर के सहारे। वह टिक रहा है इस शरीर की प्रवृत्ति के सहारे। वह टिक रहा है मन की प्रवृत्ति के सहारे। और वह टिक रहा है वाणी की प्रवृत्ति के सहारे। यदि प्रवृत्ति के तीनों स्रोत, तीनों द्वार बन्द हो जाएं, स्थूल शरीर का द्वार बन्द हो जाए, मन का द्वार बन्द हो जाए और वाणी का द्वार बन्द हो जाए तो तो फिर सूक्ष्म शरीर टिक नहीं सकता। इसलिए यह इन्हें पोषण दे रहा है। इनका सिंचन कर रहा है। इनमें सक्रियता उत्पन्न कर रहा है। इनमें चंचलता उत्पन्न कर रहा है। क्योंकि चंचलता ही उसका जीवन है। इनकी चंचलता समाप्त होना सूक्ष्म शरीर का विनाश होना है। इसलिए सूक्ष्म शरीर कब चाहेगा कि यह शरीर चंचल न रहे, मन चंचल न रहे और वाणी चंचल न रहे। इसलिए महावीर ने मूल बात को पकड़ा कि यदि अपने अस्तित्व तक पहुंचना है तो सबसे पहले प्रवृत्ति का निरोध करना होगा। प्रवृत्ति का निरोध किए बिना यह सूक्ष्म शरीर अस्तित्व को प्रकट नहीं होने देगा। और अस्तित्व प्रकट नहीं होगा तो सारी साधना व्यर्थ चली जाएगी। आयास मात्र होगा, साधना का परिणाम नहीं होगा। इसीलिए और सब बातों को छोड़कर सबसे पहले प्रवृत्ति का निरोध

करना होगा, यानी संवर करना होगा। और संवर में भी सबसे पहले काया का संवर नहीं होगा तो मन का संवर नहीं हो सकता। मन का संवर और काया का संवर—दोनों साथ में जुड़े हुए हैं। क्योंकि मन और वाणी—ये दोनों भी काया के द्वारा ही प्रेरित हैं। अपने आप में वे पंगु हैं। वाणी पंगु है, मन पंगु है। मन अपने आप नहीं चल सकता। वाणी अपने आप नहीं चल सकती। दोनों के पैर नही हैं। सारी गति है काया में नियोजित। स्थूल शरीर पुद्गलों को ग्रहण करता है तो मन संचालित होता है। मन की वर्गणाएं, मन के पुद्गल ग्रहण कौन करता है? मन ग्रहण नहीं करता। ग्रहण करता है स्थूल शरीर। वाणी के पुद्गलों को कौन ग्रहण करता है? वाणी ग्रहण नहीं कर पाती, ग्रहण करता है स्थूल शरीर। और वास्तव में सारी प्रवृत्ति एक ही है और वह है काययोग, यानी काया की प्रवृत्ति। योग वास्तव में तीन नहीं हैं। तीन की संख्या सापेक्ष है। मूल योग एक है। प्रवृत्ति का मूल स्रोत एक है काया—शरीर। शरीर के द्वारा सब बाहरी पुद्गलों का ग्रहण होता है, इसलिए सबसे पहले भगवान् ने कहा—काया का संवर करो। काया के संवर के बाद होगा वाणी का संवर और फिर होगा मन का संवर। सबसे पहले काया का संवर है।

महावीर की साधना में सबसे पहली बात है संवर, और संवर में भी सबसे पहली बात है काया का संवर, शरीर का संवर, शरीर की प्रवृत्ति का निरोध। जब शरीर की प्रवृत्ति का निरोध होता है तब सूक्ष्म शरीर को एक धक्का-सा लगता है। सीधी चोट होती है उस पर और वह प्रकंपित हो जाता है। सूक्ष्म शरीर को इतना धक्का लगता है कि मानो बम का विस्फोट हुआ हो। हम तो निश्चल होकर बैठ जाते हैं। हमारा स्थिर होना सूक्ष्म शरीर के लिए विस्फोट होना है। बेचारा इतना कांप उठता है कि उसे अनन्त-अनन्त परमाणुओं को उसी समय छोड़ देना पड़ता है। अनन्त-अनन्त परमाणु बिखरने लग जाते हैं। अपने अवयवों को तोड़कर गिरा देना होता है। वे टूटकर गिरने लग जाते हैं।

आप कल्पना कीजिए, हिरोशिमा पर जो बम-वर्षा हुई थी, और उस समय वहां की जनता की जो हालत हुई थी, उससे भी बुरी हालत सूक्ष्म शरीर की, कर्म-शरीर की हो जाती है, जब हम स्थूल शरीर को शांत, स्थिर, निष्क्रिय और प्रवृत्तिहीन बना देते हैं। यह साधना का गहरा रहस्य है। चित्तातीत अवस्था का आपने निर्माण कर लिया, फिर आपको चित्त-पर्याय के

निर्माण की या निर्जरा की चिंता करने की जरूरत नहीं है। उसे तो अपने आप ही उसका सहारा लेना होगा, उसकी शरण में आना होगा।

मूल बात निर्जरा नहीं है। मूल बात है संवर। मूल बात चित्त-पर्याय का निर्माण नहीं है, मूल बात है चित्तातीत अवस्था का निर्माण। हमने देखा कि भगवान् उपवास करते थे। लोग कहते हैं कि महावीर तपस्वी थे। महावीर शरीर को कष्ट देते थे। कायक्लेश करते थे। ये सारी बातें बहुत अच्छी लगती हैं और सीधी लगती हैं और हमारी बुद्धि ग्रहण करना चाहती है कि महावीर ठीक ऐसा ही करते थे। मैं यह इनकार नहीं कर रहा हूं कि करते नहीं थे। करते थे, परन्तु क्यों करते थे? क्या किसी चित्त-पर्याय का निर्माण करने के लिए करते थे? या और किसी के लिए करते थे? या कुछ बनने के लिए करते थे? महावीर ने कभी यह संकल्प नहीं किया कि मैं अमुक बनूं। मैं आकाशगामी बनूं। मैं भूमि से ऊपर उठ जाऊं। मैं पानी पर चलूं। वे आत्मज्ञानी थे। उनके सामने आत्मा बनने के सिवाय और कोई विकल्प ही नहीं था। अपने अस्तित्व तक पहुंचने के सिवाय दूसरा कोई विकल्प ही नहीं था। वे शुद्ध आत्मज्ञानी थे।

एक था आत्मज्ञानी साधक और दूसरा था चित्त-पर्याय का साधक। चित्त-पर्याय के साधक ने साधना करते-करते पानी पर चलने की शक्ति प्राप्त कर ली। लघिमा शक्ति प्राप्त हो जाने पर आदमी इतना हल्का हो जाता है कि पानी पर चल सकता है। लघिमा प्राप्त हो जाने पर वह इतना हल्का हो जाता है कि आकाश में उड़ सकता है। उसने पानी पर चलने की सामर्थ्य या शक्ति प्राप्त कर ली। पानी पर चला। हजारों-हजारों लोगो ने देखा। लोगों को एक अद्‌भुत बात लगी। भारी प्रशंसा हुई। साधक प्रशंसा की गठरी लेकर आत्मज्ञानी साधक के पास गया जो नदी के तट पर बैठा था। उसने सोचा कि आज तो इस आत्मज्ञानी को मेरी प्रशंसा करनी होगी। वह आया, खड़ा रहा। आत्मज्ञानी ने उसे देखा, परन्तु कुछ नहीं कहा। जल पर चलने वाले साधक ने सोचा कि जहां हजारों-हजारों लोग मेरी प्रशंसा के गीत गा रहे हैं, चारों ओर मेरी गाथाओं का गान हो रहा है, और यह मौन बैठा है! क्या बात है? उसने पूछा, 'महात्मन्! क्या आपने देखा नहीं? उसने कहा, 'क्या देखूं? मैं तो देख रहा हूं।' 'क्या आप मुझे नहीं देख रहे हैं? मैं अभी पानी पर चलकर आया हूं।' 'हां, मैंने देखा है'—आत्मज्ञानी ने कहा। 'देखा है तो इसके बारे में आपका मत क्या है? यह साधना करते

मुझे बारह वर्ष हो गए। बारह वर्षों में मुझे यह उपलब्धि हुई है।' आत्मज्ञानी बोला, 'बहुत भोले आदमी हो। जिस काम के लिए दो पैसे खर्च करके सिद्धि पायी जा सकती है उसके लिए बारह वर्ष का अमूल्य समय बिताना, इससे बड़ी मूर्खता दुनिया में और क्या होगी ?'

सारी प्रशंसा पर पाला पड़ गया। सिर झुक गया। आत्मज्ञानी साधक ने कहा, 'अच्छा होता कि तुम किसी नाविक को दो पैसे देते और वह तुम्हें नदी पार पहुंचा देता। तुम्हें इतना श्रम नहीं करना होता। भोले आदमी, इतने छोटे-से काम के लिए बारह वर्ष का अमूल्य समय तुमने निकम्मा गंवा दिया।'

अब वह क्या बोल सकता था ? कुछ नहीं बोला।

सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में और भारतीय तत्त्वचिंतन में आत्मा पर, आत्मज्ञान पर और आत्म-केन्द्रितता पर जितना गहरा दर्शन महावीर ने दिया, शायद किसी भी दार्शनिक इतिहास-पुरुष ने नहीं दिया। जहां आत्म-दर्शन होता है, वहां चित्त-पर्याय की बात गौण हो जाती है। तो फिर महावीर तपस्या क्या करते थे ? महावीर तपस्या करते थे स्थूल शरीर की प्रवृत्ति का निरोध करने के लिए, संवर करने के लिए, न कि शरीर को सताने के लिए। शरीर को सताना उनका कोई उद्देश्य नहीं था। शरीर बेचारा अपने आप ही मरने वाला है, उसे मारने में लाभ क्या ?

महर्षि उद्दालक निर्विकल्प समाधि के लिए बहुत आतुर थे। उन्होंने सोचा कि मैं निर्विकल्प समाधि में जाऊं। सोच रहे थे पर जा नहीं पा रहे थे। क्योंकि निर्विकल्प समाधि में जाया जा सकता है अप्रयत्न के द्वारा और वे कर रहे थे प्रयत्न। निर्विकल्प समाधि में जाया जा सकता है प्रवृत्ति के निरोध के द्वारा और वे कर रहे थे प्रवृत्ति। निर्विकल्प समाधि में जाया जा सकता है अप्रयास के द्वारा और वे कर रहे थे प्रयास। उलटी गति चल रही थी। करना था संवर और कर रहे थे निर्जरा। काम नहीं हो रहा था। थक गए। सोचा कि चलो ऐसे नहीं होता, अनशन कर लें। अनशन की बात सोच ली और अनशन शुरू कर दिया। जंगल में बैठे थे, वृक्ष पर तोता बैठा था। तोते ने देखा—यह क्या ? वह बोला, 'महर्षि ! क्या कर रहे हो ?'

'अनशन कर रहा हूं।'

'किसलिए कर रहे हो ?'

'इस शरीर को छोड़ रहा हूं।'

'महर्षि ! जो स्वयं छूटनेवाला है, उसे छोड़कर क्या करोगे ? यह तो स्वयं छूट जाएगा, आप क्या करेंगे ? जो मरणधर्मा है, उसे मारने में आपको कोई बड़ा श्रम नहीं होगा। आपका कोई शौर्य और वीर्य नहीं होगा। आप अमृत के द्वारा मृत्यु पर विजय पाएं, न कि मरनेवाले को मारकर विजय पाने का प्रयत्न करें। महर्षि की आंखें खुल गयीं। उन्होंने अमृतत्व की ओर ध्यान दिया, आत्मा की ओर ध्यान केन्द्रित किया। वे निर्विकल्प समाधि की ओर अग्रसर हो गए।

भगवान् महावीर ने जो भी किया, सब आत्मकेन्द्रित होकर किया, आत्मा के लिए किया, और किसी के लिए नहीं किया। उनका आत्मदर्शन उन्हें संवर की स्थिति में ले गया। संवर और आत्मा, ये दो चीजें नहीं हैं। चाहे आप संवर कहिए और चाहे आत्मा। दोनों एक ही चीजें हैं। भोजन करूंगा, ध्यान का विघ्न होगा, भिक्षा लानी होगी, लोगों से बातचीत करनी होगी, खाना होगा, उत्सर्ग करना होगा, इसलिए भोजन करना छोड़ दिया। एक दिन नहीं किया, दो दिन नहीं किया, महीने-भर नहीं किया, छः-छः महीने तक नहीं किया। आखिर में देखा कि शरीर को बिलकुल तो नहीं छोड़ना है। छोड़ना तो है परन्तु मूर्खतापूर्ण ढंग से नहीं छोड़ना है। इसको रखना भी है। नकाब डाले हुए रखना है। बेनकाब नहीं करना है। थोड़ा-सा उसे सहारा दिया जिससे कि वह टूटे भी नहीं और भीतर को तोड़कर चला जाए। विष की औषधि विष है। जातीय विरोध पैदा कर दिया। सूक्ष्म शरीर को तोड़ना और उसी के अनुचर द्वारा तोड़ना, उसी के सेवक के द्वारा तोड़ना। थोड़ा-सा सहारा दिया, वह काम करने लगा। महावीर अपना काम कर रहे थे, स्थूल शरीर अपना काम कर रहा था। महावीर का तप शरीर को सुखाने के लिए नहीं था। अपना काम साधने के लिए था। आप इस बात को भूल गए कि महावीर सोलह दिन-रात तक काय-संवर करके खड़े रहे। कितना लम्बा समय था ! हिले नहीं, डुले नहीं। सोलह दिन-रात तक आंखों ने झपकी नहीं ली। मच्छर ने काटा तो हटाया नहीं। घूमकर देखा तक नहीं।

अब जिस व्यक्ति को सोलह दिनों तक काय-संवर करना है, वह कैसे खायेगा, कैसे बोलेगा, कैसे पीएगा, कैसे चलेगा और कैसे लेटेगा ? कुछ भी नहीं होगा। मूल बात थी काया का संवर। काय-संवर के लिए उन्होंने आत्म-दर्शन की पद्धति प्रस्तुत की। यदि काया का संवर करना है तो वह आत्म-दर्शन के द्वारा ही हो सकता है।

मुख्य साधन है आत्म-दर्शन। यह स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर के साथ जुड़ा हुआ है एक धागे के द्वारा, एक सूत्र के द्वारा और वह सूत्र है मोह, राग और द्वेष का। स्थूल शरीर के बीच एक धागा है—मोह का, राग और द्वेष का। वह धागा न हो तो यह शरीर बंधा नहीं रह सकता, पोषक नहीं हो सकता। जब तक वह धागा नहीं टूटता, वह धागा पतला नहीं होता, क्षीण नहीं होता, तब तक यह स्थिरता या शान्ति प्राप्त नहीं होती। शरीर की स्थिरता हुए बिना मन और वाणी की स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकती।

आत्म-दर्शन से क्या होता है? वह धागा पतला हो जाता है। उसकी पकड़ कमजोर हो जाती है। मोह का धागा, राग और द्वेष का धागा जो स्थूल शरीर को पकड़े हुए है, उसकी पकड़ कम हो जाती है। **आचार्य कुन्द-कुन्द** ने बहुत सुन्दर बात कही है—

जो जाणइ अरहंते, सव्वेहिं सव्वपज्जवेहिं।
सो जाणइ अप्पाणं, मोहो तस्स जाति लयं॥

जो व्यक्ति अर्हत् को जानता है, वीतराग को जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है। क्योंकि आत्मा और अर्हत्—ये दो नहीं हैं। आत्मा और अर्हत् में कोई अन्तर नहीं है। कोई भेद नहीं है, वही अपनी आत्मा है। और जो अपनी आत्मा है, वही अर्हत् है। अर्हत् कोई एक व्यक्ति हो सकता है, यह महावीर ने नहीं कहा। हर आत्मा अर्हत् है। किन्तु वह मोह का धागा टूटने पर है। जो इस बात को देखता है, अर्हत् को जानता है, वह अपनी आत्मा को देखता है। और जो अर्हत् को देखता है, उसका मोह विच्छिन्न हो जाता है। यह मोह-विलय की प्रक्रिया, यह राग और द्वेष के धागे को तोड़ने की प्रक्रिया, उसे क्षीण करने की प्रक्रिया, बहुत सुन्दर प्रक्रिया है। जो व्यक्ति मोह को कम करना चाहता है, जो व्यक्ति अपने अस्तित्व को प्रकट करना चाहता है, उद्दीप्त करना चाहता है, उसे अर्हत् का ध्यान करना होगा अर्थात् अपनी आत्मा का ध्यान करना होगा। अपनी आत्मा के ध्यान करने का मतलब है अर्हत् का ध्यान करना या अर्हत् का ध्यान करने का मतलब है अपनी आत्मा का ध्यान करना। महावीर निरन्तर अपनी आत्मा का ध्यान कर रहे थे। उनसे पूछा गया कि संवर क्या है? संयम क्या है? भगवान् ने कहा, **'आया सवरे, आया संयमे, आया पच्चक्खाणे।'** आत्मा ही संवर है, आत्मा ही संयम है और आत्मा ही प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान का मतलब छोड़ देना नहीं है। आत्मा को समझ लिया, प्रत्याख्यान हो गया। आत्मा

तक पहुंच हो गयी, प्रत्याख्यान हो गया। आत्मा को देख लिया, संयम हो गया। यानी आत्म-दर्शन ही संवर है, आत्म-दर्शन ही संयम है। आत्म-दर्शन ही व्रत और आत्म-दर्शन ही प्रत्याख्यान है। आत्मा का दर्शन नहीं हुआ, आपकी भाषा में संयम हो सकता है, संवर हो सकता है, और व्रत तथा प्रत्याख्यान भी हो सकता है। किन्तु आत्म-दर्शन के बिना वहां तक कोई भी नहीं पहुंच पाता।

यह थी संवर की साधना, काय-संवर की साधना। काय-संवर आत्म-दर्शन के बिना नहीं हो सकता; और आत्म-दर्शन के बिना वह मोह का धागा, जो उसे पकड़े हुए है, टूट नहीं सकता। इसलिए उस धागे को क्षीण और पतला करने के लिए आत्म-दर्शन की आवश्यकता है। आत्म-दर्शन जैसे ही होगा, मन हमारा शान्त हो जाएगा, शरीर हमारा शान्त हो जाएगा और वाणी शान्त हो जाएगी। क्योंकि आत्मा शरीर, वाणी और मन—तीनों से अतीत है। जो शरीरातीत है, उसका दर्शन शरीरातीत होकर ही कर सकते हैं। निष्क्रिय का दर्शन हम निष्क्रिय बनकर ही कर सकते हैं। यह है संवर की साधना का रहस्य।

भगवान् से पूछा गौतम स्वामी ने—**'काय गुत्तीएणं भंते! जीवे किं जणयइ....'** भगवन्! कायगुप्ति के द्वारा जीव क्या प्राप्त करता है? भगवान् ने उत्तर दिया—**'काय गुत्तीएणं जीवे संवरं जणयइ'**—कायगुप्ति के द्वारा जीव संवर को प्राप्त होता है। संवर से जीव पाप-आश्रव का निरोध कर देता है, दरवाजे को बन्द कर देता है। जो दरवाजा आने के लिए खुला है उसमें से कोई भी आ सकता है। हवा के द्वारा सुगंध आ सकती है तो हवा के द्वारा धूल भी आ सकती है। हवा के साथ में सुगंध आ सकती है तो हवा के साथ में दुर्गन्ध भी आ सकती है। जो आने को है तो उसके साथ कोई भी आ सकता है। दरवाजे से आदमी आ-जा सकता है, तो दरवाजे से कुत्ता भी आ-जा सकता है। कोई भी आ-जा सकता है। अगर यह दरवाजा खुला है तो पुण्य आएगा तो पाप भी आएगा। और सूक्ष्म शरीर के लिए, कर्म-शरीर के लिए, पुण्य और पाप दोनों सहारा देने वाले हैं। दोनों पोषण देने वाले हैं। दोनों उसके लिए टॉनिक हैं। दोनों उसे पोषण और पुष्टि देने वाले हैं। वह तो चाहता है कि दरवाजा हमेशा खुला रहे। पुण्य भी आए और पाप भी आए। दोनों आते रहें। किन्तु भगवान् महावीर ने सबसे पहले इस दरवाजे को बन्द करने का निर्देश दिया कि काय का संवर करो, और इस दरवाजे

को सबसे पहले बन्द कर दो जो कि पाप को भी पोषण दे रहा है, पुण्य को भी पोषण दे रहा है, और हमारा सबसे बड़ा बाधक और विघ्न जो कर्म-शरीर है, उसे निरन्तर पोषण दे रहा है। सबसे पहले इसे बन्द करो। उन्होंने कहा कि काय की गुप्ति करो, यह दरवाजा बन्द हो जाएगा।

• कायगुप्ति की साधना किस प्रकार हो सकती है ?

कायगुप्ति की साधना के लिए हमें सबसे पहले आत्मकेन्द्रित होना होगा। आत्मदर्शन की तीव्र भावना हमारे भीतर विकसित होती है तो जैसे ही उसमें ध्यान केन्द्रित हुआ, शरीर में शिथिलता आनी शुरू हो जाती है। वह एक इतना बड़ा आलंबन है कि उस पर ध्यान टिका और शरीर का भान कम होता चला जाएगा।

दो चीजें होती हैं—एक देह की आसक्ति और एक आत्मा। हमारा ध्यान जितना देहाश्रित होगा, शरीर पर टिकेगा, उतनी ही चंचलता बढ़ती जाएगी। हमारा ध्यान जितना आत्मकेन्द्र पर जाएगा, उस बिन्दु पर जाएगा, यह पकड़ अपने आप ही शिथिल होती जाएगी। इसीलिए सबसे पहले यह सूत्र है—आत्मा और देह इन दोनों को भिन्न समझा जाए। और भिन्न समझकर अपने अस्तित्व पर ध्यान केन्द्रित किया जाए।

'जो अग्राह्य को ग्रहण नहीं करता—राग को ग्रहण नहीं करता, जो गृहीत है चैतन्य उसे कभी छोड़ता नहीं, जो सबको सब प्रकार से जानता है, वह मैं हूं। वह मेरा अस्तित्व है'—यह अस्तित्व की बात जब प्रकट हो जाए तो आसक्ति की बात क्षीण हो जाएगी। और जैसे-जैसे ममत्व या ममकार और अहंकार क्षीण होता जाएगा, देह की चंचलता अपने-आप ही क्षीण होती चली जाएगी।

• आत्मा और देह मिले हुए हैं, फिर किस प्रकार विदेह का ध्यान करें ?

दुनिया में सारी चीजें मिली-मिलाई होती हैं। यह उस समय सोचें कि जब खाने के लिए बैठते हो, और गेहूं में कंकर होता है, उस समय कैसे खाते हो ? मिला-मिलाया होता है। गेहूं में कंकर आता है, चावल में कंकर आता है, और भी बहुत सारी चीजें मिली-मिलाई आती हैं। किंतु खाते समय विवेक करते हैं। दोनों को अलग-अलग कर देते हैं। ठीक यह विवेक करना है और कुछ भी नहीं करना है। यह थी महावीर की विवेक-प्रतिमा। भगवान् ने सबसे पहले कहा कि विवेक करो। विवेक होगा तो फिर व्युत्सर्ग होगा। पहला विवेक और फिर दूसरा व्युत्सर्ग या विसर्जन। यह आत्मा है, चैतन्य है

और यह अचेतन है, जड़ है। शरीर अचेतन है, आत्मा चेतन है, यह विवेक स्पष्ट हो गया तो फिर उसका विसर्जन होना शुरू हो जाता है।

• सूक्ष्म शरीर का निर्माता कौन है ?

यह कौन की बात चलेगी तो मेरे लिए भी बड़ी कठिनाई होगी। कौन के प्रश्न का उत्तर तो फिर कौन में ही चला जाता है। सूक्ष्म शरीर का निर्माता है पहला सूक्ष्म शरीर—उससे पहले का शरीर। आप पूछेंगे कि उसका निर्माता कौन है ? उससे पहले का शरीर।

• भगवान् महावीर किसी निर्जरा के लिए तपस्या नहीं कर रहे थे तो फिर उन्होंने अभिग्रह क्यों धारण किया ?

मैंने यह नहीं कहा कि निर्जरा के लिए नहीं कर रहे थे। मैंने यह कहा कि संवर के लिए निर्जरा हो रही थी। संवर के साथ निर्जरा का होना होता है। अभिग्रह का मतलब संवर है। मैं यह नहीं करूंगा, यह क्या है ? मैं नहीं खाऊंगा—नहीं खाना प्रवृत्ति का निरोध है, वह संवर है।

• क्या सम्यक्त्व के बिना काय-संवर नहीं होता ?

सम्यक्त्व नहीं होगा तब तक तो काय-संवर की बात ही नहीं आएगी। पहले तो हमारा विवेक होगा, सम्यक्दर्शन होगा, तब काय-संवर की बात प्राप्त होगी। काय-संवर का जैसे-जैसे विकास होता है, यह व्रत-संवर आदि अपने आप ही आ जाते हैं। काय-संवर के बिना व्रत-संवर कैसे रहेगा ? सब में मुख्य काय-संवर है। मैंने व्रत ले लिया कि मैं हिंसा नहीं करूंगा, काया की इतनी चंचलता है कि हाथ पटकता ही रहता हूं, कैसे व्रत-संवर होगा ? सबसे पहले भूमिका के रूप में काय-संवर की साधना करनी होगी। अहिंसा की गुप्ति तब होगी जब काया का संवर होगा। काया का संवर हुए बिना आसक्ति क्षीण नहीं होगी। मूल बात है काया का संवर। जब तक काया की आसक्ति नहीं छूटती तब तक कोई भी आदमी यह संकल्प ही नही कर सकता कि मैं नहीं खाऊंगा। काया की आसक्ति क्षीण होती है, तभी आदमी नहीं खाने की बात सोचता है।

५ प्राण

हम प्राणी हैं। प्राणी इसलिए हैं कि प्राणवान् हैं। हमारे पास प्राण हैं। प्राण होने के नाते हम प्राणी हैं। प्राण चला जाता है, प्राणी समाप्त हो जाता है। प्राण प्राप्त होता है, प्राणी बन जाता है। हमारा जीवन सारा का सारा प्राण है। यह प्राण क्या है और साधना की दृष्टि से इसका क्या महत्त्व है? इस पर कुछ बात मैं प्रस्तुत करना चाहता हूं।

यह अंगुली हिल रही है। जिस दिन अंगुली हिलनी बन्द हो जाती है, और जिसकी भी बन्द हो जाती है, वह मृत घोषित हो जाता है। डॉक्टर कहते हैं कि वह मर गया। सामान्य लोग कहते हैं कि मर गया। प्राणी के दो रूप हमारे सामने हैं—एक जीवित और एक मृत। एक जीता हुआ और एक मरा हुआ। जीते प्राणी में और मरे हुए प्राणी में अन्तर क्या है? यही अन्तर है कि उसकी अंगुली हिलती है और उसकी नहीं हिलती। उसमें धड़कन है उसमें नहीं है। उसमें स्पन्दन है और उसमें नहीं है। यह स्पन्दन ही प्राण है। यह धड़कन ही प्राण है और यह गतिशीलता ही प्राण है। प्राण का मतलब है स्पन्दन। हिलना-डुलना, चंचल होना—यह है प्राण। स्पन्दन रुका, प्राणी मर गया। दो अवस्थायें हो गयीं—एक स्पन्दन अवस्था और एक निःस्पन्द अवस्था।

साधक क्या करता है? वह स्पन्दन अवस्था में निःस्पन्द होना चाहता है। जीवन में मृत्यु का अनुभव करना चाहता है। और करता है। यह स्पंदन से निःस्पंदन की ओर गति है। यह सक्रियता से निष्क्रिया की ओर गति है। यह चंचलता से स्थिरता की ओर गति है। तो क्या प्राण साधक को इष्ट नहीं है? क्या प्राण उसके लिए उपयोगी नहीं है? यदि है तो फिर वह सस्पंद अवस्था से निःस्पन्द अवस्था की ओर जाना क्यों चाहता है? और यदि इष्ट नहीं है तो फिर मृत और साधक की अवस्था में अन्तर क्या होगा? प्राण का अर्थ है—स्पन्दन। प्राण कहां उत्पन्न होता है? पता नहीं शरीरशास्त्र की दृष्टि से इसका क्या अभिमत है। किन्तु योग की दृष्टि से, साधना की दृष्टि से, यह अभिमत है कि प्राण उत्पन्न होता है तैजस के द्वारा। ऊष्मा के द्वारा

प्राण उत्पन्न होता है। हमारे मस्तिष्क को सक्रिय रहने के लिए बीस वोल्ट विद्युत् की आवश्यकता है, अन्यथा मस्तिष्क सक्रिय नहीं रह सकता। हमारे शरीर को सक्रिय रहने के लिए काफी ऊर्जा चाहिए। हमारे शरीर में ऊर्जायें हैं। ऊर्जा के केन्द्र भी हैं। अनेक केन्द्र हैं ऊर्जा के। आपने पर्याप्तियों का नाम सुना होगा। छह पर्याप्तियां हैं—आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। ये सारे के सारे ऊर्जा-केन्द्र हैं। हमारे शरीर में छह ऊर्जा-केन्द्र हैं, जहां ऊर्जा उत्पन्न होती है। मूल ऊर्जा का केन्द्र है नीचे। तैजस शरीर से ऊर्जा उत्पन्न होती है। प्राण मूलतः नाभि के नीचे तैजस शरीर से उत्पन्न होता है और वही प्राण सारे शरीर में गति करता है शक्ति देता है और जीवन देता है। प्राण के दो प्रकार हो जाते हैं—एक सामान्य प्राण और एक विशेष प्राण। सामान्य प्राण हमारे समूचे शरीर में विद्यमान है, सक्रिय है। जहां प्राण नहीं, वहां जीवन नहीं। प्राण और जीवन—दोनों साथ-साथ चलते हैं। प्राण के पीछे जीवन चलता है। जहां प्राण क्षत हो जाता है, विक्षत हो जाता है, नष्ट हो जाता है, वहां वह अवयव भी नष्ट हो जाता है। जहां प्राण की धारा नहीं पहुंच पाती, वह अवयव शून्य हो जाता है। जीवित व्यक्ति का भी अवयव शून्य, निष्क्रिय और मृत हो जाता है। सामान्य प्राण सर्वत्र संचरण कर रहा है।

एक है विशेष प्राण। यह प्राण क्षेत्रीय नाम से जाना जाता है। मैं आंख से देख रहा हूं। आंख से देखने में मुझे जो प्राण सहयोग कर रहा है, उसे आप कह सकते हैं—चक्षु इन्द्रिय प्राण। उसका एक नाम विशेष हो गया। जो प्राण मुझे सुनने में सहयोग कर रहा है, उसे आप कह सकते हैं श्रोत्र इन्द्रिय प्राण। जो प्राण मुझे श्वास लेने में सहयोग कर रहा है, उसे आप कह सकते हैं श्वास प्राण। ये क्षेत्रीय नाम हो जाते हैं, विशेष नाम हो जाते हैं। सामान्य प्राण हमारे समूचे शरीर में एक है किन्तु क्षेत्र-विशेष के आधार पर प्राणों में विभाग भी हो जाते हैं। प्राण के छः प्रकार भी कार्य-विशेष एवं क्षेत्र-विशेष के आधार पर किए गए हैं। सामान्यतः उनमें कोई अन्तर नहीं है। वह एक ही प्राण है जो गतिशील है, स्पन्दन कर रहा है, चल रहा है और जीवन को टिकाए हुए है। जीवन को सिंचन और आधार दे रहा है वह एक ही प्राण है और उसी प्राण के कारण हम प्राणी हैं, जी रहे हैं, देख रहे हैं और सारी क्रिया कर रहे हैं, जीवन का संचालन कर रहे हैं। क्या ऐसा कोई स्थान है, जहां प्राण अधिक प्रकट होता है? हमारे शरीर में कुछ ऐसे केन्द्र

हैं, जहां प्राण विशेष रूप से प्रकट होता है, जैसे—हृदय। हृदय या अनाहत चक्र का जो स्थान है, वहां प्राण बहुत प्रकट होता है। आयुर्वेद के मुख्य ग्रन्थ चरक में लिखा है—हृदय ओज का परम स्थान है—'तत्परस्यौजसः स्थानं।' ओज का मतलब है प्राण। योग में जिसे प्राण कहा है, आयुर्वेद में वही है ओज। ओज अर्थात् शक्ति। प्राण अर्थात् शक्ति। वीर्य अर्थात् शक्ति। ये एक ही अर्थ को बताने वाले भिन्न-भिन्न शब्द हैं।

यह प्राण हमारे जीवन में संचरित हो रहा है और सक्रियता ला रहा है। उसका मुख्य स्थान है—हृदय। उसका मुख्य स्थान है—नासग्र। उसका मुख्य स्थान है—नाभि। ये कुछ ऐसे स्थान हैं जहां पर प्राण स्फुट होता, प्रकट होता है।

प्राण हमारा जीवन है। प्राण हमें गति देता है। प्राण हमारी सक्रियता है और प्राण के आधार पर ही हम सब-कुछ करते हैं। फिर प्राण निरोध करने से क्या लाभ है? फिर योग की साधना का मार्ग क्यों? प्राण को निरोध करना, प्राण को निःस्पंद करना, यह बात क्यों? यह उलटा क्रम क्यों? बिलकुल उलटी बात है। जब हम ध्यान करने को बैठते हैं तो प्राण को विलीन करने का प्रयत्न करते हैं, प्राण को शान्त करने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि मन को शान्त करना है, और जब तक प्राण शान्त नहीं होगा, मन शान्त नहीं होगा। मन को शान्त करने के लिए प्राण की गति को शिथिल करना है। प्राण की गति को शिथिल करने का मतलब जीवन की सारी क्रियाओं-प्रक्रियाओं को शिथिल करना है। इस सामान्य व्यवहार से साधक का एक उलटा क्रम है। जहां हर आदमी सक्रियता चाहता है, क्रियाशीलता चाहता है, कर्मठता चाहता है वहां साधक निष्क्रिय, निश्चित, स्थिर होकर बैठना पसन्द करता है। यह सारा उलटा व्यवहार है। क्या इसे आप पसन्द करेंगे? यह क्यों?

यह एक बड़ा प्रश्न है। इस पर आपको भी सोचना है। आप लोग बैठे हैं। आपको जीना तो पसंद है। मैं समझता हूं कि हर आदमी को जीना पसंद है। आपको सामाजिक जीवन जीना है, जहां कि व्यापार करना है, कामना है, बड़ा बनना है और बहुत बातें करनी हैं। मुझे आश्चर्य होता है कि यह निकम्मेपन की बात आपके दिमाग में क्यों घुस आयी? आप क्यों पसन्द करते हैं सामाजिक जीवन से, सक्रियता के जीवन से, शक्ति और कर्म के जीवन से हटकर निष्कर्म और अकर्म के जीवन में आकर बैठ जाना और अपने समय

को यों ही गंवा देना। क्या लाभ होने वाला है आपको ? यह उन लोगों के लिए ठीक है जिनको कामना नहीं है, जिन्हें व्यापार नहीं करना है, जिन्हें बैठे-बैठे रोटी खाना है और कोई काम-काज नहीं करना है। न कोई सगाई-सम्बन्ध करना है, न किसी से व्यवहार जोड़ना है, न किसी से तोड़ना है। ठीक है, वे जीते हैं तो अपनी इच्छा से जीते हैं। चले जाते हैं तो पीछे चिन्ता करने की जरूरत नहीं। ऐसे लोगों के लिए तो यह रास्ता ठीक हो सकता है। किन्तु आप तो सामाजिक प्राणी हैं। आपके लिए ऐसा रास्ता क्यों आवश्यक होना चाहिए ?

फिर मैं मुड़कर देखता हूं। दुनिया में मूर्ख कोई नहीं है। और जिसे हम मूर्ख मानते हैं, उतना मूर्ख वह भी नहीं है जितना कि हम उसे मानते हैं। वैसे तो हर आदमी मूर्ख है, हर आदमी पागल है। दुनिया में कोई भी आदमी शत-प्रतिशत समझदार नहीं है। साधना में आए हैं तो सोच-समझकर आए हैं। निकम्मा रहना भी बहुत समझदारी की बात है। और जो लोग निकम्मा रहना नहीं जानते, वे अपनी कर्मजा शक्ति को बहुत जल्दी नष्ट कर देते हैं। निकम्मा रहने की कला जीवन की कला है। निकम्मा रहने की कला प्राण-शक्ति के महान् उपयोग की कला है। जो आदमी निकम्मा रहने की कला को नहीं जानता, वह कर्म की कला को भी नहीं जानता। मैं समझता हूं कि प्राण को निष्प्राण करना तथा स्पंदन को निःस्पंद की अवस्था में ले जाना वास्तव में कर्म की शक्ति को तीव्र करने की अद्भुत कला है।

यह कैसे ? यह प्रश्न हो सकता है। अब इस पर भी मुझे कुछ बातें आपसे कहनी हैं। चैतन्य की शक्ति प्रकट होती है प्राण के हटने पर। दो बातें हैं—एक हमारा व्यक्तित्व और एक हमारा अस्तित्व। व्यक्तित्व एक उपाधि की भांति है। जैसे यह डॉक्टर है, यह इंजीनियर है, यह वकील है और यह व्यापारी है। यह है व्यक्तित्व। उन लोगों ने अपनी शक्ति को एक भाषा में बांध लिया, एक सीमा में बांध लिया और शक्ति के पीछे एक आवरण डाल दिया, घेरा डाल दिया, एक परकोटा बना दिया। इससे बाहर उनका कुछ भी नहीं है। डॉक्टरी को छोड़ दें तो बाहर कुछ भी नहीं हैं। व्यवसाय को छोड़ दें तो बाहर कुछ भी नहीं है। यानी इसकी सीमा यह दीवार है और दीवार के बाहर कुछ भी नहीं है। यह होता है व्यक्तित्व जो एक सीमा में बंध जाता है।

एक होता है अस्तित्व। अस्तित्व निस्सीम होता है। उसकी कोई सीमा

नहीं होती। वह भाषा में नहीं बंधता। वह शब्दावली में बांधा नहीं जा सकता। वह होता है अस्तित्व। हमारा अस्तित्व है असीम और हमारा व्यक्तित्व है ससीम। हमारा अस्तित्व है अनंत शक्तिशाली और हमारा व्यक्तित्व है शक्ति की एक धारा को संजोने वाला। उसमें शक्ति की थोड़ी-सी धारा बह रही है। हम अनंत अस्तित्व को छोड़कर, असीम अस्तित्व को छोड़कर ससीम व्यक्तित्व के पिंजरे में बैठे हुए पंछी अपने मन में मोद मना रहे हैं। क्या बुरा है, अगर वह पिंजरा टूट जाए? क्या बुरा है, अगर वह दीवार टूट जाए? इसमें थोड़ा-सा हमारा मोह पैदा हो गया है। अगर वह न रहे तो खतरा क्या है? नुकसान क्या है? अगर अस्तित्व की मर्यादा हमें प्राप्त हो जाए, अमर्यादित अस्तित्व हमें प्राप्त हो जाए, तो खतरा क्या है? मैं समझता हूं कि जिन लोगों ने प्राण की धारा को स्थिर करने का प्रयत्न किया है, उन्होंने अपने व्यक्तित्व पर अवश्य ही किसी-न-किसी मात्रा में चोट की है। किन्तु वह व्यक्तित्व की चोट, व्यक्तित्व पर होने वाली चोट, उनके अस्तित्व को उजागर करने वाली है। इसमें मुझे कोई खतरा दिखायी नहीं देता। कोई कठिनाई मुझे दिखायी नहीं देती। यह चोट कुछ पाने के लिए होने वाली चोट नहीं है। किन्तु बहुत लाभ के लिए होने वाला संघर्ष और प्रहार है।

हमारा अस्तित्व प्रकट कब होता है? मन शान्त होता है तब अस्तित्व प्रकट होता है। मन की शान्ति के बिना अस्तित्व प्रकट नहीं होता। उसके लिए मन का शान्त होना जरूरी है। अस्तित्व और मन, ये दोनों साथ-साथ में बहुत कम रहते हैं। मन जब बहुत सक्रिय रहता है तब अस्तित्व सोया हुआ रहता है, और मन जब निष्क्रिय होता है, तब अस्तित्व जागता है और वहां अपना काम शुरू कर देता है। मन अस्तित्व के साथ चल नहीं सकता। अस्तित्व के साथ उसका निर्वाह नहीं हो सकता।

ऊंट और गधा—दोनों मित्र थे। दोनों कहीं जा रहे थे। बीच में नदी आयी। नदी में पानी काफी था। जाते ही ऊंट तो चलने लगा। गधा रुक गया। ऊंट ने कहा, "रुकते क्यों हो? चलो!" गधे ने कहा, "कैसे चलूं? पानी बहुत है। डूब जाऊंगा।" ऊंट ने कहा, "मैं चलता हूं।" वह गया। उसके कंधे तक पानी था। उसने कहा, "जब मैं चल सकता हूं, तब तुम क्यों नहीं चल सकते?" गधे ने कहा, "तुम चल सकते हो परन्तु मैं डूब जाऊंगा। क्योंकि तुम्हारी ऊंचाई और है, मेरी ऊंचाई और है। मैं नहीं चल

सकता।" ऊंट चला गया। गधा वहीं रुक गया। क्योंकि दोनों की ऊंचाई में अन्तर था। दोनों की लम्बाई में अन्तर था। ऊंट चला गया और गधा रुक गया।

इसी प्रकार अस्तित्व की ऊंचाई और मन की ऊंचाई एक साथ नहीं चल सकती। मन की ऊंचाई बहुत नीचे रह जाती है। मन उसके साथ नहीं चल सकता। उसे तो गधे की तरह रुकना ही पड़ता है। तो मन को छोड़ देना, मन को त्याग देना, यह वास्तव में अस्तित्व की ऊंचाई को पाने का अविरल और महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है। हम यह कैसे करें? प्राण को कैसे छोड़ें? प्राण को शान्त कैसे करें और प्राण की धारा को किस रास्ते से प्रवाहित करें जिससे कि हमें अस्तित्व की ऊंचाई प्राप्त हो जाए? इस पर भी योग में बहुत विचार हुआ है। प्राण की धारा को हम मध्यवर्ती करें। शरीर के बीच में प्रवाहित करें, पृष्ठरज्जु में प्रवाहित करें। प्राण शांत हो जाएगा, मन शांत हो जाएगा और हमारे अस्तित्व को प्रकट होने का मौका मिल जाएगा।

फिर एक प्रश्न और उभरता है। यह कैसे करें? प्राण की धारा को वहां कैसे ले जाएं? इस पर हमें चर्चा भी करनी है और इसे प्रायोगिक रूप भी देना है। इसे मध्यवर्ती के लिए, बीच के मार्ग से बहाने के लिए, जो पानी इधर जा रहा है, उधर जा रहा है, छितर रहा है, बिखर रहा है, उस पानी को एक धारा में, मध्यवर्ती धारा में बहाने के लिए हमें कुछ रास्ते खोजने हैं। वे रास्ते क्या हैं? पहला रास्ता मैं आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूं। वह है **कपालभाति प्राणायाम**। उसका प्रयोग करते ही प्राण की धारा इधर-उधर से सिमटकर मध्यवर्ती होने लग जाती है।

दूसरा रास्ता है—**त्रिबन्ध**। तीन बंधों का प्रयोग। **उड्डीयान, जालंधर** और **मूलबंध**—इन तीनों बंधों का प्रयोग करने से प्राण की धारा मध्यमार्ग से प्रवाहित होने लग जाती है।

तीसरा रास्ता है—**दीर्घ-श्वास**। **दीर्घ-श्वास** का प्रयोग करने से प्राण की धारा मध्यवर्ती हो जाती है। **दीर्घ-श्वास** का मेरा एक अनुभूत प्रयोग है, मैंने उसको नाम दिया **कोटि-प्राणायाम**। जैन लोगों में तपस्या होती है। उसका नाम है **कोटि-तप**। **कोटि-प्राणायाम** की प्रक्रिया यह है, जैसे—एक दीर्घ-श्वास लें। उसका रेचन कर तत्काल दूसरा दीर्घ-श्वास लें। पहला श्वास पूरा होते ही दूसरा उसके साथ संलग्न हो जाए, बीच में विराम न हो। श्वास का चक्र-सा बन जाए, वर्तुल-सा बन जाए। एक का अन्त और दूसरे का

प्रारम्भ। और दोनों के बीच में कोई भी अंतराल नहीं। बीच में कोई अवकाश नहीं। एक का अन्त हुआ और दूसरे का प्रारम्भ हो गया। एक का अन्तिम चरण और दूसरे का प्रारम्भिक चरण। दोनों के बिन्दु बराबर मिल जाते हैं। एक रेखा बना लेते हैं। एक वर्तुल बन जाता है। वह है **कोटि-प्राणायाम** यानी **दीर्घ-श्वास**।

ये तीन रास्ते मैंने आपके सामने प्रस्तुत किए—**कपालभाति, त्रिबंध** और **कोटि-प्राणायाम**। ये तीन रास्ते ऐसे हैं, जिनसे कि प्राण की धारा मध्यमार्ग में, सुषुम्ना के मार्ग में, रीढ़ की हड्डी के पोल में प्रवाहित हो सकती है। और जैसे ही वहां प्रवाहित हुई और आपका लड़का गुम हो जाएगा। जिसे आपने पाला-पोसा, बहुत दुलारा, प्यार किया, जिसे थपकियां लगाकर सुलाते रहे, रुलाते रहे, हंसाते रहे, वह बच्चा गुम हो जाएगा। फिर ढूंढ़ना पड़ेगा। यह मन गुम हो जाता है। यह मन बड़ा नटखट बच्चा है। इतना नटखट बच्चा शायद कोई नहीं है जितना कि यह मन है। ऐसा गायब हो जाता है कि पता नहीं लगता है कि मन है कहां? लोग पूछते हैं कि मन चंचल है? मन वश में नहीं होता। मन टिकता नहीं है। आपको खोजना होगा कि मन आखिर है कहां? क्या मन का कोई अस्तित्व है? मन कोई चीज है क्या? ढूंढ़ने पर भी आपको मिलेगा। जब कि प्राण की धारा आपके मध्य में प्रवाहित हो जाऐगी, प्राण जब अपने रास्ते चला जाएगा तो फिर वह रीढ़ की हड्डी में नियंत्रित हो जाएगा। फिर सम्पूर्ण शरीर में अस्तित्व को खुलकर प्रकट होने का मौका मिल जाएगा।

• प्राण जीतने से मन जीता जा सकता है या मन जीतने से प्राण पर विजय पायी जा सकती है?

प्राण, मन और वीर्य—इन तीनों का बहुत निकट का रिश्ता है। और ये सब एक ही परिवार के सदस्य हैं। एक साथ ही जीने-मरने वाले हैं। एक का दूसरे पर असर होता है, प्रभाव होता है। जिसने प्राण को जीत लिया, उसके लिए मन और वीर्य पर अलग से ध्यान देने की जरूरत नहीं है। प्रश्न है कि मन पर स्वतन्त्र रूप से कैसे विजय पायी जाए? एक मार्ग है प्राण का और दूसरा मार्ग है तत्त्वज्ञान का या आत्मज्ञान का। जो आत्मज्ञानी होता है और जिसके मन में प्रबलतम वैराग्य उत्पन्न हो जाता है उसे लगता है कि यह कुछ भी नहीं है। जो दीख रहा है, सारा का सारा निकम्मा है। वैराग्य

की मात्रा इतनी तीव्र हो जाती है, वैराग्य का आवेश इतना तीव्र होता है कि उस समय मन अपने आप ही शान्त हो जाता है। प्राण पर ध्यान देने की जरूरत नहीं, और भी किसी पर ध्यान देने की जरूरत नहीं। कुछ भी जरूरत नहीं। अपने-आप मन एकदम शांत हो जाता है। वह है वैराग्य का रास्ता। पतंजलि ने भी कहा है—**'अभ्यासवैराग्याभ्याम्।'** गीता में भी कहा है—**'अभ्यासेन च कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते।'**—अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को वश में किया जा सकता है। अभ्यास किया जा सकता है। वैराग्य लाया नहीं जा सकता। बहुत कठिन बात है। अभ्यास एक मार्ग है। उससे किसी को चलाया जा सकता है। कहा जा सकता है कि तुम भी चलो। यदि मैं किसी से कहूं कि तुम वैराग्यवान् बन जाओ। विरक्त होना उसके वश की बात नहीं है। क्योंकि वह कोई पद्धति नहीं है। किसी व्यक्ति के मन में किसी घटना का असर या प्रभाव होता है और वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। तत्काल सारी गांठें खुल जाती हैं। सारे स्रोत खुल जाते हैं। शक्ति का विकास हो जाता है। आपने ऐसी अनेक घटनाएं सुनी होंगी। एक घटना घटित हुई और व्यक्ति का मन बिलकुल वैराग्य से भर गया और उसकी शक्तियां जागृत हो गयीं। वे किसी निमित्त से या किसी योग से घटित घटनाएं हैं। किन्तु यह निश्चित है कि वैराग्य की तीव्रता होते ही मन बिलकुल वश में हो जाता है, मन बिलकुल शांत हो जाता है, विलीन हो जाता है।

• क्या स्वाध्याय मन को वश में करने का मार्ग नहीं है ?

नहीं है, ऐसा तो हम नहीं कह सकते। स्वाध्याय, चिंतन या भावना का अभ्यास करने से मन शांत हो जाता है। उससे भी होता है। ऐसे अनेक मार्ग हैं, एक ही मार्ग नहीं है। वह भी मार्ग है और यह भी मार्ग है। मन को शांत करने के मुख्य मार्ग ये हैं—श्रुत की भावना, ज्ञान का अभ्यास, वैराग्य, आत्म-ज्ञान का अभ्यास, आत्मज्ञान का निरंतर विचार।

केशी स्वामी ने गौतम स्वामी से पूछा, "यह मन-रूपी घोड़ा तो बहुत ही तेज और चालाक है। बहुत उद्दण्ड घोड़ा है। कैसे तुम इसे वश में करते हो ?" गौतम स्वामी ने कहा, "श्रुत की वल्गा के द्वारा, श्रुत की लगाम से इसे मैं पकड़ लेता हूं और जब कभी दौड़ता है, लगाम के सहारे नियंत्रण में कर लेता हूं।" ज्ञान भी मार्ग है, भक्ति भी मार्ग है। आप देखिए, बंगाल में चैतन्य महाप्रभु हुए हैं। वे न प्राण का ध्यान करते, न आसन करते, न और कुछ करते। किन्तु भक्ति के आवेश में इतने तन्मय हो जाते, ऐसे पागल

हो जाते कि उन्हें कोई भान ही नहीं रहता कि बाहर क्या हो रहा है ? उन्हें कोई भान नहीं रहता । उनका नाम ही 'पगला बाबा' था । जहां भक्ति का इतना तीव्र आवेश होता है, वहां मन बिलकुल शांत हो जाता है । इस प्रकार मार्ग अनेक हैं ।

मूल बात यह है कि उसमें तादात्म्य पूरा आ जाना चाहिए । वह मात्रा तक पहुंच जाना चाहिए । हम करते क्या हैं ? पानी चाहिए । लाडनूं में पानी निकलता होगा कम-से-कम चालीस पचास हाथ खोदने से । पांच हाथ का गड्ढा खोदने से शायद ही पानी निकले । एक जगह पांच हाथ खोदा, पानी नहीं निकला, उसे छोड़ दिया । दूसरी जगह फिर पांच हाथ खोदा, वहां भी पानी नहीं निकला । उसे छोड़ा । फिर तीसरा गड्ढा खोदा । हमने सैंकड़ों खड्ढे खोद डाले परन्तु पानी कहीं भी तही निकला । हम कहेंगे कि लाडनूं में पानी नहीं है । क्या यह सत्य है कि लाडनूं में पानी नहीं है ? अगर हम एक गड्ढा भी खोद लेते जितना खोदने से पानी निकलता, उतनी लम्बाई और गहराई तक चले जाते तब पानी निकल आता । फिर यह शिकायत नहीं होती कि लाडनूं में पानी नहीं है । हम पूर्णरूपेण कहीं भी लगते नहीं हैं । कभी थोड़ा-सा गड्ढा ध्यान का खोद लिया, थोड़ा-सा गड्ढा भक्ति का खोद लिया, थोड़ा-सा गड्ढा समर्पण का खोद लिया । पूरा कभी नहीं खोदते और फिर कहते हैं कि पानी नहीं मिला । फिर कहते हैं आत्मा नहीं है, भगवान् नहीं है, परमात्मा नहीं है । आप रास्ता कोई-सा अपनाएं । सारे योग के रास्ते हैं, आत्म-साधना के रास्ते हैं । जो भी रास्ता लें, इतनी पूर्णता से लें कि उसके पीछे प्राण न्योछावर कर दें ।

६ श्वास-संवर

साधना का प्रयोजन है—अपने-आप से परिचित होना, अपनी शक्तियों से परिचित होना और अपनी शक्तियों का ठीक-ठीक उपयोग करना । हमारी पहली कठिनाई है कि हम अपनी शक्तियों से परिचित नहीं हैं । हमारी दूसरी कठिनाई यह है कि हम अपनी शक्तियों को ठीक-ठीक काम में नहीं लेते । वे पड़ी रहती हैं, सुप्त रहती हैं और हमारे उपयोग में नहीं आतीं । साधना के द्वारा उन शक्तियां को जानने का प्रयत्न करते हैं और जानकर उनके उपयोग की दिशाओं का उद्‌घाटन करते हैं । शक्ति मूलतः एक है । और हमें मानना चाहिए कि शक्ति के जागरण का द्वार भी एक ही है । क्योंकि वह द्वार इतना विशाल है, इतना लम्बा-चौड़ा है कि उसमें हजारों-हजारों द्वार समाविष्ट हो जाते हैं । उसकी विशालता इतनी है कि अगर हम अलग-अलग कोणों पर खड़े होकर देखते हैं तो अलग-अलग मार्ग आते हुए दिखाई देते हैं । किन्तु मूल को मिलाकर देखें तो ऐसा लगेगा कि एक ही रास्ता है और कोई रास्ता नहीं है । इसलिए जैन योग, बौद्ध योग, और भी कई योग पद्धतियों में तथा तंत्र में भी एक शब्द आता है —**एकायन** । यानी एक ही मार्ग है और कोई दूसरा मार्ग नहीं है । अगर इसमें प्रवेश पाना है तो एक ही रास्ता है, दूसरा कोई मार्ग नहीं । यह **एकायन प्रवेश** है । दूसरा कोई अयन नहीं है ।

आप निश्चित मानिए कि चित्त का विलय नहीं होगा तो शक्तियों का जागरण नहीं होगा । मन की चंचलता समाप्त नहीं होगी तो शक्तियां विकसित नहीं होगी, शक्तियां प्रकट नहीं होंगी । मानसिक विलय ही एकमात्र रास्ता है सारी शक्तियों के प्रकट होने का । यदि हम उस रास्ते को छोड़ देते हैं तो शक्तियों के अभ्युदय का, उनके जागरण का हमारे पास कोई विकल्प नहीं रहता । इसलिए मैं आपसे यह कहना चाहता हूं कि यह एक ही रास्ता है—चित्त को विलीन करना, मन को शान्त करना, मन को समाप्त करना, या मन के अस्तित्व को नकारना । रास्ता एक है, किन्तु मन को शांत कैसे करना, इसके लिए हम कोई नियम नहीं बना सकते । कोई नियम नहीं है इसका ।

आप आसन के द्वारा भी मन को शान्त कर सकते हैं, प्राणायाम के द्वारा भी मन को शान्त कर सकते हैं, आत्म-दर्शन के द्वारा भी मन को शान्त कर

सकते हैं और मन को मन देखकर भी उसे शान्त कर सकते हैं।

महापथ एक है। छोटी-मोठी पगडंडियां हजारों-हजारों मिलती हैं। किन्तु मूल एक है—चित्त को शान्त करना और उसके बिना कोई गति नहीं है। ऐसे लोग भी हुए हैं साधना के पथ में, जिन्होंने एक ही आसन का प्रयोग किया और अपने लक्ष्य तक पहुंच गए, चित्त-विलय की भूमिका में पहुंच गए। यह असम्भव बात नहीं है। आप अर्धमत्स्येन्द्र आसन का नियमित रूप से प्रयोग विश्वास के साथ करते चले जाइए। कुछ वर्षों बाद यह स्थिति आ सकती है कि आपका चित्त अपने-आप शान्त और सहज हो रहा है। जिस सुषुम्ना में प्रवेश पाकर मन विलीन होता है, उसके जागरण की क्रिया अर्धमत्स्येन्द्र आसन में सहज ही होती है। मच्छेन्द्रनाथ ने इसी आसन को अपनाया था। और इसी आसन में बैठकर वे अपने चित्त को समाहित करते थे। चित्त के समाधान की यह भी एक प्रक्रिया है। कोई व्यक्ति आसन नहीं करता, केवल श्वास पर ही लग जाता है, श्वास की प्रक्रियाओं पर लग जाता है, श्वास को शान्त करता है, श्वास का दर्शन करता है, वह भी उसी भूमिका पर पहुंच जाता है। बहुत सारे बौद्ध साधक **अनापानसती** की साधना के द्वारा ठीक वहां पहुंच जाते थे जहां कि ध्यान करने वाला पहुंचता है। वह श्वास-दर्शन की प्रक्रिया से, लम्बे समय तक घंटों-घंटों तक श्वास का दर्शन करते-करते उस स्थिति तक पहुंच जाता है। आसन, श्वास-दर्शन या तीसरा-चौथा कोई साधन—ये भाषाएं अनेक हैं, फलित एक है।

एक राजा को स्वप्न आया। उसने देखा, मेरे सारे दांत गिर गए हैं। मन में प्रश्न उपस्थित हुआ—यह क्या? प्रातः होते-होते राजा ने ज्योतिषियों को बुलाया। बुलाकर एक ज्योतिषी से कहा, "मुझे एक बहुत बुरा स्वप्न आया है। मैंने देखा कि मेरे सारे दांत गिर गए हैं। इसका फल क्या होगा?" ज्योतिषी बोला—"महाराज! बहुत बुरा हुआ। सचमुच बुरा स्वप्न है। बहुत ही अनिष्टकारक है।" राजा ने पूछा—"परिणाम क्या होगा?" ज्योतिषी ने कहा—"महाराज! क्या कहूं? कहना तो नहीं चाहता। किन्तु जब आप पूछ ही रहे हैं, आपकी जिज्ञासा है तो मुझे कहना होगा। स्वप्न बहुत बुरा है। परिणाम यह होगा कि आपकी सब संतानें आपके देखते-देखते मर जाएंगी। आप अकेले रहेंगे।" राजा को बहुत क्रोध आया। राजा क्रोध में पागल जैसा हो गया। उसे बहुत बुरा लगा। उसने आदेश दिया—"ज्योतिषी को जेल में डाल दो। यह कितनी अनिष्ट बात कहता है।"

राजा का आदेश था । ज्योतिषी कारा का बन्दी बन गया ।

राजा ने दूसरे ज्योतिषी को बुलाया । बुलाकर वही बात कही कि मुझे बहुत बुरा स्वप्न आया है । ज्योतिषी ने कहा—"बताओ !" राजा ने स्वप्न की बात बतायी । ज्योतिषी ने कहा—"यह किसने कहा कि बुरा स्वप्न है ? यह तो बहुत अच्छा स्वप्न है ।' राजा ने आश्चर्य की मुद्रा में पूछा—"अच्छा कैसे ? पहला ज्योतिषी तो कह गया कि बहुत बुरा है और मैंने भी सोचा कि बहुत बुरा है ।" ज्योतिषी ने कहा—"नहीं, महाराज ! गलत बात है । बहुत अच्छा स्वप्न है ।" राजा ने कहा—"फल बताओ । फल क्या होता है ?" ज्योतिषी ने कहा—"महाराज ! आप देखते चले जाइए । इसका इतना अच्छा फल होगा कि आप इतने दीर्घजीवी होंगे कि बहुत सारी स्थितयिां घटती जायेंगी और आप देखते रहेंगे । आप जीवित रहेंगे ।"

राजा बहुत खुश हुआ । उसने अपने मंत्री से कहा—"जाओ, इस ज्योतिष को पुरस्कार दो ।" एक को मिला कारागार और एक को मिला पुरस्कार । अन्तर कुछ भी नहीं था, केवल भाषा का अन्तर था । एक ने कह दिया कि आपके लड़के आपके देखते-देखते मर जाएंगे । दूसरे मे कहा कि आप इतने दीर्घजीवी होंगे, इतने चिरायु होंगे कि बहुत कुछ घट जाने पर भी आप सब कुछ देखते रहेंगे, आप बरकरार रहेंगे । मात्र भाषा का अन्तर था, तथ्य में कोई अन्तर नही था ।

मैं समझता हूं कि बहुत सारी बातें ऐसी होती हैं जहां भाषाएं भिन्न हो जाती हैं; अभ्युपगम भिन्न हो जाते हैं, हमारी स्वीकृतियां भिन्न हो जाती हैं, किन्तु परिणाम, निष्पत्ति और फलित में कोई अन्तर नहीं होता । प्रस्तुत विषय भी इसका एक उदाहरण है । योग के कुछ आचार्यों ने इस बात पर बहुत बल दिया कि श्वास का संवर होना चाहिए, श्वास का निरोध होना चाहिए, कुंभक होना चाहिए, श्वास शान्त होना चाहिए । उन्होंने उसे साधना की एक मुख्य पद्धति का रूप दिया । आप देखेंगे कि भगवान् महावीर ने नहीं कहा कि श्वास का संवर होना चाहिए । श्वास का निरोध होना चाहिए । उन्होंने ऐसा नहीं कहा—फिर मैं कैसे कह रहा हूं कि यह जैन साधना पद्धति का मुख्य अंग है । यह केवल भाषा का भेद है । किस व्यक्ति ने किस रूप में, भाषा के किस रूप को पकड़ा, यही हमें आज समझना है । आप देखें कि भगवान् महावीर ने कहा—संवर करो, तपस्या करो, उपवास करो । उपवास करो या एक व्यक्ति ने कहा, श्वास का संवर करो, दोनों में अन्तर क्या है ?

क्या कोई अन्तर है ? मैं समझता हूं कि परिणाम में कोई अन्तर नहीं आएगा। इस संदर्भ में मुझे कुछ बातें आपके सामने प्रस्तुत करनी हैं। श्वास उत्तेजित क्यों होता है ? श्वास शान्त कैसे होता है ? उत्तेजित होने के साधना क्या हैं ? हेतु क्या है ? और श्वास के शान्त और संयत होने के साधन क्या हैं ? एक ही बात दो भाषा की पद्धतियों में रख दी गयी। हमें देखने में वे अलग-अलग लगती हैं किन्तु वस्तुतः वे अलग नहीं हैं। श्वास शान्त और स्वाभाविक, चित्त प्रसन्न। चाहे मैं उलटकर यह कह दूं, चित्त शान्त और प्रसन्न, श्वास शांत और स्वाभाविक। महावीर ने कहा—उपवास करो। आप जानते हैं कि उपवास करते ही श्वास शांत हो जाता है। श्वास की उत्तेजना के कुछ कारण होते हैं। हम तेज श्वास क्यों लेते हैं ? स्वाभाविक गति से एक मिनट में पन्द्रह-सोलह श्वास होते हैं। अब एक व्यक्ति पहाड़ की चढ़ाई करता है, वह अधिक श्वास क्यों लेता है ? आप सोचते होंगे कि वह श्रम के कारण लेता है। यह बहुत स्थूल बात है। मूल बात यह है कि वह चढ़ाई का प्रयत्न करता है, उस समय उसे अतिरिक्त शक्ति लगानी पड़ती है। अतिरिक्त शक्ति लगाने के कारण उसे ऑक्सीजन की मात्रा अधिक अपेक्षित होती है, कार्बन डाई-ऑक्साइड को निकालने के लिए अधिक श्रम करना पड़ता है। होता यह है कि प्रवृत्ति बढ़ते ही कार्बन की मात्रा बढ़ जाती है, और ऑक्सीजन की मात्रा घट जाती है। तब फेफड़े को यह जरूरत होती है कि ऑक्सीजन तो अधिक ले और कार्बन डाई-ऑक्साइड को निकाले, उसका श्वास अपने-आप ही तेज हो जाता है।

एक व्यक्ति आवेश की स्थिति में आता है। चिन्ता, भय, क्रोध और वासना के आवेश जैसे ही मन में उतरते हैं, श्वास तेज हो जाता है। कार्बन की मात्रा बढ़ जाती है और ऑक्सीजन की मात्रा घट जाती है। श्वास अपने आप तेज हो जाता है। अधिक सर्दी और अधिक गर्मी में भी हमारा श्वास तेज हो जाता है। शरीर में बुखार आ जाता है और श्वास की गति तीव्र हो जाती है। जिस व्यक्ति को टाइफाइड होता है, श्वास की गति बहुत तेज हो जाती है। इसका कारण क्या है ? जिस व्यक्ति को टाइफाइड होता है उसके फेफड़े निकम्मे हो जाते हैं। काम करना बन्द कर देते हैं। फेफड़े का कुछ ही भाग ऐसा होता है जो काम करने में समर्थ होता है इसलिए उसे अतिरिक्त काम करना पड़ता है और अधिक श्रम करके श्वास को लेना होता है; श्वास की गति तेज हो जाती है। आप उपवास कीजिए, श्वास की गति मन्द हो जाएगी। हल्का आहार कीजिए, श्वास की गति मंद हो जाएगी। तो उपवास

में, अल्पाहार में श्वास की गति मंद होती है, और आवेश, श्रम आदि-आदि परिस्थितियों में, मानसिक आवेगों की परिस्थितियों में श्वास की गति तीव्र और तेज हो जाती है। जो व्यक्ति उपवास करता है, वह अपने आप ही श्वास का संयम कर लेता है। या यह मानिए कि अपने आप ही उसके श्वास का संयम हो जाता है। यह शान्ति मानसिक शान्ति है और वह आती है श्वास के द्वारा, श्वास के संयम के द्वारा। दोनों में मैं समझता हूं कोई अन्तर नहीं है।

महावीर ने कहा—**आत्मा को देखो।** कुछ साधकों ने कहा—**मन को देखो।** और कुछ साधकों ने कहा—**श्वास को देखो।** मैं समझता हूं कि तीनों में कोई अन्तर नहीं है। आप जैसे ही थोड़े गहरे में जाकर आत्मा को देखेंगे, आप स्वयं यह अनुभव करेंगे कि आपका श्वास शांत होता जा रहा है। जैसे ही आप भीतर की ओर देखेंगे, आपका श्वास शांत हो जाएगा। जैसे ही आप मन को मन से देखेंगे, मन की क्रियाओं का अध्ययन करेंगे, आपका श्वास शांत हो जाएगा। और आप श्वास को देखेंगे तो भी आपका श्वास शांत हो जाएगा। यह आत्म-दर्शन की प्रक्रिया, यह मनोदर्शन की प्रक्रिया और श्वास-दर्शन की प्रक्रिया—ये अलग-अलग प्रक्रियाएं लगती हैं, किन्तु परिणामतः तीनों में श्वास शांत हो जाता है। जो व्यक्ति श्वास का दर्शन करता है, वह भी फलतः अपने अस्तित्व-दर्शन की ओर मुड़ता है। जो आत्म-दर्शन करता है, वह भी अपने अस्तित्व-दर्शन की दिशा में जाता है और जो मन को देखता है, वह भी अपने अस्तित्व-दर्शन की दिशा में चला जाता है। अस्तित्व की दिशा से ये तीनों सूत्र बंधे हुए हैं। आप इन तीनों में से किसी को भी पकड़ लीजिए, आप वहां पहुंच जाएंगे जहां आपको पहुंचना है।

यह भेद क्यों आया ? यह अपनी-अपनी रुचि की बात है। अपने लक्ष्य और अपने मूल्यांकन की बात है। आप जानते हैं कि मूल्य की दृष्टियां अलग-अलग होती हैं। कोई व्यक्ति किसी को मूल्य देता है और कोई व्यक्ति किसी को मूल्य देता है। मूल्य के दृष्टिकोण सबके समान नहीं होते।

महराष्ट्र का एक व्यक्ति था **रामजा**। था चारवाहा किन्तु बहुत बड़ा धनी, बहुत सम्पन्न। उसने एक बार अपने इष्ट की आराधना के लिए मूर्ति बनायी। वह **खंडोबा** का उपासक था जो महाराष्ट्र के एक विशिष्ट देवता माने जाते हैं। उसने मूर्ति सोने की बनायी। **खंडोबा** का वाहन है—घोड़ा। उसने घोड़ा भी सोने का बनाया। मूर्ति भी सोने की और घोड़ा भी सोने

का। वह दोनों की बड़े सच्चे भाव से पूजा किया करता था। कुछ दिन बीते। ऐसा संयोग आया कि वह दरिद्र हो गया। धन चला गया। विपत्ति आयी। पैसे की कठिनाई आ गयी। उसने सोचा कि और अब कुछ भी नहीं बचा है, यह मूर्ति और घोड़ा बचा है। इन्हें बेचकर अपना काम चलाऊं। वह मूर्ति और घोड़े को लेकर एक जौहरी के पास गया। मूर्ति थी एक सेर सोने की और घोड़ा था तीन सेर सोने का। जौहरी को दिखाया तो उसने कहा—"मूर्ति के एक हजार रुपये तथा घोड़े के तीन हजार रुपये मिलेंगे।" चारवाहे ने कहा—"ऐसा नहीं हो सकता। यह भला कैसे हो सकता है कि मेरे भगवान् के तो मात्र एक हजार रुपये और उनके घोड़े के तीन हजार रुपये। कभी नहीं हो सकता।"

जौहरी ने उत्तर दिया—"भले आदमी! तुम्हारे लिए यह भगवान् है और यह घोड़ा है। मेरे लिए तो यह सोना है। मेरे लिए भगवान् भी नहीं और यह घोड़ा भी नहीं है।" **रामजा** के लिए **खंडोबा** भगवान् था और घोड़ा घोड़ा था। किन्तु उस जौहरी के लिए न वह भगवान् था और न वह घोड़ा था। उसके लिए दोनों सोना थे। अपनी-अपनी दृष्टि का अन्तर होता है। साधना की पद्धति में भी अन्तर रहा है। किसी साधक ने किसी एक पद्धति से साधना की और दूसरे ने किसी दूसरी पद्धति को महत्त्व दिया—यह अपनी-अपनी रुचि का अन्तर है।

हठयोग ने प्राण और अपान को महत्त्व दिया। हठयोग का मतलब ही है—प्राण और अपान का योग। बहुत सारे लोग कहते हैं कि हठयोग का अर्थ है—साधना में हठ का प्रयोग। यह गलत अर्थ है। हठयोग का यह कोई मतलब नहीं है। हठयोग की यह भावना नहीं है। **हकार** और **ठकार**—इन दोनों का पारिभाषिक अर्थ हठयोग के आचार्यों ने किया है—**'ह'** माने प्राण और **'ठ'** माने अपान। तो प्राण और अपान का जहां योग होता है, जहां सूर्य और चन्द्र का मिलन होता है, उसका नाम है—हठयोग। यानी सूर्य और चन्द्र का मिलन, प्राणवायु और अपानवायु का मिलना। उसका नाम है हठयोग। उन्होंने अपनी सारी पद्धति प्राणवायु और अपानवायु के आधार पर विकसित की। राजयोग की भी अपनी एक पद्धति है। उसमें प्राण और अपान को महत्त्व नहीं दिया गया, मुख्य स्थान नहीं दिया गया। उसमें मुख्य स्थान है—मन का और आत्मा का। 'मन को साधे सब सधे'—यानी मन को साधने पर सब-कुछ सध जाता है। मन को ही महत्व दिया। एक ओर

है प्राण और अपान और एक ओर है मन को साधने की बात। सचमुच यह भटकानेवाली बात है। आप क्या चाहेंगे ? क्या मन को साधना चाहेंगे या प्राण और अपान को साधना चाहेंगे ? किन्तु मैं देखता हूं कि यह पकड़ का अन्तर है। जो व्यक्ति मन को साधना चाहेगा और जैसे ही ऐसा प्रयत्न करेगा, अपने-आप ही प्राण और अपान उसके साथ सध जायेंगे। प्राण और अपान का संयम होना शुरू हो जाएगा। अगर मन पर आपका प्रभुत्व स्थापित होता है, मन को आप स्वीकार करते हैं या मन की वास्तविक सत्ता को नकारते हैं तो प्राण और अपान अपने-आप ही सध जायेंगे। यदि प्राण और अपान को साधना शुरू करते हैं तो मन अपने-आप ही विलीन होना शुरू हो जाएगा। यह पद्धति का स्वीकार, मुख्यता और गौणता का स्वीकार मात्र रहा।

ज्ञानयोग में सारा भार दिया गया है—आत्मज्ञान को। आत्मा को जानो और आत्मा को देखो। यदि आप आत्मा को जानने का प्रयत्न करते हैं, तो क्या मन की पकड़ छूट जाएगी ? क्या प्राण और अपान की बात उससे दूर हट जाएगी ? ऐसा नहीं होगा। जैसे ही आपने आत्मा की ओर ध्यान केन्द्रित किया, मन और प्राण—दोनों अपने-आप ही विलीन होते चले जाएंगे।

भक्तियोग में और क्या होता है ? चैतन्य महाप्रभु का-सा भावावेश प्रकट होता है। इसकी विस्मृति हो जाती है कि उस विस्मृति में प्राण शांत हो जाता है, मन शांत हो जाता है और स्मृति शांत हो जाती है। इन सारी पद्धतियों के मूल में एक बात काम कर रही है, वह यह है कि हम किसी एक बात को ठीक से पकड़ लें। उस बात में अपनी भावना को लगा दें। आसपास के परिपार्श्व को भी समझें। जब एक बात को ठीक पकड़ लेते हैं, और आसपास के परिकर को समझ लेते हैं तो फिर हमारी कोई उझलन नहीं होती। उपवास करने वाला उसके फलितार्थ को नहीं जानता। उपवास करने से निर्जरा होती है, यह बात ठीक है और यह सूत्र भी हमें मिला है। किन्तु उपवास करने का शरीर पर क्या असर होता है ? उपवास का हमारी इन्द्रियों पर क्या असर होता है ?—इन सारी बातों को अगर ठीक विस्तार से समझ लें तो हठयोग की बात समझ में आ जायेगी, राजयोग की बात समझ में आ जायेगी और ज्ञानयोग की बात भी समझ में आ जायेगी।

हम बहुत बार सोचते रहते हैं कि भगवान् महावीर के योग की पद्धति क्या है ? जैनों की साधना-पद्धति क्या है ? हम लोग संवर और निर्जरा को

लेकर चलते हैं, फिर प्राण, अपान और चक्रों की बात क्यों करते हैं ? ये प्रश्न बार-बार आते रहते हैं। मैं आपसे कहना चाहता हूं कि भगवान् महावीर ने ने जहां उपवास करने का विधान किया, संवर करने का विधान किया, वहां इन सारी बातों पर भी ध्यान नहीं दिया क्या ? आप देखें कि भगवान् की मुद्रा का वर्णन आता है कि उनका शरीर था बिलकुल सीधा और सरल। सीधा और सरल शरीर था, टेढ़ा-मेढ़ा नहीं था। एक पुद्गल पर उनकी दृष्टि टिकी रहती थी। इसका मतलब क्या है ? एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाने का मतलब है श्वास पर संयम करना। आप प्रयोग करके देख लीजिए। जैसे ही आपने किसी चीज पर दृष्टि टिकाई, अपने-आप ही श्वास मंद हो जाएगा। अगर श्वास मंद नहीं होता है, श्वास शांत नहीं होता है तो एक पुद्गल पर आपकी दृष्टि टिकी नहीं रह सकती।

यदि किसी व्यक्ति ने पादांगुष्ठासन का अभ्यास किया हो तो वह जानता है कि यह आसन तभी हो सकता है जबकि हमारा श्वास मंद हो। अगर श्वास मंद नहीं होगा तो पादांगुष्ठासन नहीं होगा। किसी बिन्दु पर ध्यान टिका तो तत्काल पादांगुष्ठासन हो जाएगा। यदि किसी बिन्दु पर ध्यान एकत्र नहीं हुआ तो आपका पादांगुष्ठासन नहीं होगा। यह कसौटी है उसकी।

आपने कभी ताड़ासन किया होगा ? ऐसे तो ताड़ासन कर सकते हैं किंतु जैसे ही आपका ध्यान ऊपर की उंगलियों पर केन्द्रित हुआ, आप ताड़ासन की मुद्रा में रह जाएंगे। जैसे ही आपका ध्यान हटा, ताड़ासन की मुद्रा समाप्त हो जायेगी। दोनों एक-साथ चलते हैं।

आप देखिए, एक आसन पर पांच-दस घंटे वे ही व्यक्ति बैठ सकते हैं जिन्होंने प्राणवायु पर, श्वास पर नियन्त्रण पा लिया है। प्राणवायु पर जिनका नियन्त्रण नहीं हुआ, श्वास पर जिनका नियन्त्रण नहीं हुआ, वे आधा घंटा के बाद ही यह शिकायत करने लग जाते हैं कि कमर टूटने लगी है। घुटने दुःखने लगे हैं। ऐसा क्यों होता है ? कमर क्यों टूटने लगती है ? घुटने क्यों दुःखने लगते हैं ? इसीलिए कि प्राण पर उनका नियन्त्रण नहीं है और वे श्वास के साथ अपने शरीर का सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाते हैं।

जो व्यक्ति लम्बे समय तक ध्यान में बैठना चाहते हैं, उन्हें श्वास पर नियन्त्रण पाना जरूरी है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा—**"आसनविजय, निद्रा-विजय और आहार-विजय—ये महावीर की साधना के मूल हैं।"** आसन की विजय होने से श्वास की विजय अपने आप ही हो जाती है। श्वास की विजय

उसके साथ प्राप्त होता है। श्वास को जीते बिना आसन को कभी नहीं जीता जा सकता।

इसलिए हमें श्वास को सूक्ष्म करने का प्रयत्न करना चाहिए, श्वास को देखने का प्रयत्न करना चाहिए, श्वास को श्वास को शान्त और मंद करने का प्रयत्न करना चाहिए। श्वास के शान्त होते ही आपकी आन्तरिक वृत्तियां शान्त हो जाएंगी। कषाय कम हो जाएगा। आप आत्मज्ञान की पद्धति में चलिए। कषाय की कमी का मतलब है—श्वास की कमी। क्योंकि जब हमारा कषाय कम होगा तो श्वास तीव्र कैसे हो सकता है? कषाय और मानसिक आवेग से होने वाला श्वास कभी भी शान्त नहीं होगा।

बहुत पुराने जमाने की बात है। चीन का एक प्रधानमन्त्री था। उसका नाम था 'गोत्से'। वह ध्यान सम्प्रदाय के एक महान् साधक के पास गया। उनका भक्त था वह। जाकर बोला, "भन्ते! अहं की परिभाषा जानना चाहता हूं। अहं क्या है? साधक गम्भीर हो गया। बहुत पहुंचा हुआ साधक था। उसने कहा, "क्या फालतू बकवास कर रहे हो। चले जाओ यहां से!" इतना डांटा कि वह आश्चर्य में पड़ गया। उसने सोचा, मैंने कोई अपराध तो नहीं किया। मैंने तो साधारण-सी बात पूछी कि अहं की परिभाषा क्या है? और बहुत विनय के साथ पूछी। कोई अविनय भी नहीं किया। मेरे मन में कोई दुर्भावना भी नहीं थी। मैंने बहुत सद्भावना के साथ पूछा था। मैंने समझा था कि बहुत पहुंचे हुए साधक हैं, बहुत बड़े आत्मज्ञानी हैं, तत्त्वज्ञानी हैं, और साधना में प्रवीण हैं, परन्तु सब धोखा था। आज इनका असली रूप पकड़ में आ गया। मुखौटा हट गया। सचाई सामने आ गयी। छोटी-सी बात के लिए मेरा इतना तिरस्कार कर दिया। प्रधानमन्त्री का मन गुस्से से भर गया। साधक देख रहे थे और उन्होंने जब देखा कि गुस्से की मुद्रा बिलकुल ठीक बन गयी है, तो बोले, 'प्रधानमन्त्री महोदय! इसी का नाम है 'अहं'।" प्रधानमन्त्री साधक के पैरों पर गिर पड़ा।

आप देखिए, जो व्यक्ति अहं की परिभाषा पूछने आया, शान्त था। श्वास शान्त था, और बिलकुल स्वाभाविक मुद्रा में था। अहं की परिभाषा पूछते-पूछते ही मुद्रा में तनाव आ गया। श्वास तेज हो गया। भृकुटी तन गयी। परिवर्तन। शरीर में परिवर्तन, श्वास में परिवर्तन, भावों में परिवर्तन। यह सारा क्यों हुआ? श्वास तेज क्यों हुआ? जैसे ही मन में आवेश उतरा, सारी स्थितियां बदल गयीं।

ये दो मुद्राएं हमारे सामने स्पष्ट हैं—एक शान्त मुद्रा और एक आवेश की मुद्रा। आप शान्त मुद्रा का अध्ययन कीजिए। शान्त मुद्रा में शरीर तनाव-मुक्त होगा, श्वास शांत होगा और मनोभाव भी शान्त होगा। दूसरी ओर अशान्त मुद्रा का अध्ययन कीजिए। अशान्त मुद्रा में श्वास तीव्र होगा, मनोभाव शिथिल होंगे और शरीर में तनाव आ जाएगा। ये दोनों स्थितियां हैं और इन दोनों स्थितियों में जो शान्त रहता है, कषाय जिसके शान्त रहते हैं, उसके श्वास का संयम हो जाता है। दूसरी स्थिति में चलें—जो व्यक्ति अधिक-से-अधिक श्वास को शान्त रखने का प्रयत्न करता है, उसके कषाय अपने आप ही शान्त हो जाते हैं। आप दोनों में से किसी एक को भी पकड़ लीजिए। चाहे इसको पकड़ें कि मैं बिलकुल ही कषाय को शान्त रखूंगा तो आप श्वास का संयम अपने आप ही कर लेंगे। चाहे आप श्वास के संयम को पकड़ लीजिए कि मैं अधिक-से-अधिक अपने मन को श्वास पर केन्द्रित रखूंगा, श्वास को शान्त रखूंगा तो कषाय अपने आप ही क्षीण होते चले जाएंगे।

श्वास-संवर का मतलब है, कषाय का भी संवर। श्वास-संवर का मतलब है, मनोभावों में शान्ति का प्रकटीकरण। श्वास-संवर का मतलब है शरीर को तनाव से मुक्त रखना। इन सारी दृष्टियों से हम देखें। तो मालूम होगा कि श्वास-संवर का बहुत बड़ा महत्त्व है और यह हमारी साधना-पद्धति का बहुत बड़ा अंग है।

अब प्रश्न होता है कि श्वास का संवर कैसे होगा? बहुत सीधी प्रक्रिया है कायोत्सर्ग की। आप कायोत्सर्ग करें, श्वास का संयम होना शुरू हो जाएगा। क्योंकि जैसे ही काया की स्थिरता होगी, काया के प्रयत्न कम होंगे तो आपका श्वास अपने-आप ही शान्त हो जाएगा। इसका एक कारण है, और वह शरीर-शास्त्रीय कारण है। हमारी जितनी भी प्रवृत्ति होती है, फिर चाहे वह छोटी ही प्रवृत्ति क्यों न हो, एसिड उत्पन्न करती है। यह आज के शरीर-शास्त्र का सर्वमान्य सिद्धांत है। अष्टावक्र गीता में एक श्लोक पढ़ा था, जो मुझे बहुत सुन्दर लगा। उसमें उन्होंने बतलाया था—प्रवृत्ति का नाम ही है 'विषम'। और निवृत्ति का नाम है 'सम'। उन्होंने सम और विषम की व्याख्या की। प्रवृत्ति का मतलब विषमता और निवृत्ति का मतलब समता। जैसे ही निवृत्ति होगी, वैसे ही हमारे शरीर की सारी धातुएं सम हो जाएंगी। धातुएं सम होंगी तो एसिड की मात्रा बिलकुल कम हो जाएगी। प्रवृत्ति बढ़ेगी तो विषमता बढ़ जाएगी। एसिड की मात्रा बढ़ जाएगी। धातु-साम्य

का बहुत महत्त्व है। प्रश्न हुआ कि रोग क्या है? महर्षि चरक ने उत्तर दिया—धातु-वैषम्य ही रोग है। आरोग्य क्या है? धातु-साम्य है आरोग्य और धातु-वैषम्य है रोग।

अब प्रश्न रहा कि धातु का वैषम्य क्यों होता है? इसका उत्तर है—शरीर की प्रवृत्ति। प्रवृत्ति जितनी होगी, उतना ही एसिड बनेगा, कार्बन डाई-ऑक्साइड बनेगा और उतना ही उसे निकालने के लिए श्वास को तेज होना पड़ेगा। आप निवृत्ति की स्थिति में चले जाइए। एसिड कम बनेगा, कार्बन डाई-ऑक्साइड कम बनेगा और उसे निकालने के लिए उतना ही श्वास को कम प्रयत्न करना पड़ेगा। जो लोग ध्यान करते हैं, घंटों तक बैठ जाते हैं, श्वास को बिलकुल मंद कर देते हैं। शरीर-शास्त्र की दृष्टि से देखा जाए तो जब पूरी मात्रा में श्वास नहीं जाता है तो कार्बन कम निकलता है। इसलिए वह ठीक नहीं होना चाहिए। किन्तु वहां वह ठीक है और इसलिए है कि जब शरीर शान्त रहेगा तो कार्बन की मात्रा कम बढ़ेगी। प्रवृत्ति शान्त रहेगी। आंतरिक प्रवृत्तियां भी कम रहेंगी। आवेग कम रहेगा तो कार्बन को निकालने के लिए कम श्वास की जरूरत होगी और थोड़ी ऑक्सीजन से पूरा काम हो जाएगा और रक्त का दोष भी समाप्त हो जाएगा।

इन सारी दृष्टियों से हम देखें। शरीर-शास्त्र की दृष्टि से, मानस-शास्त्र की दृष्टि से और आत्मज्ञान की दृष्टि से; इन सारी दृष्टियों से श्वास को शांत करना, मंद करना, सूक्ष्म करना बहुत लाभदायक है। यही है श्वास का संवर। यदि हम श्वास के संवर की बात को ठीक से समझ से लेते हैं तो मन को शांत रखने, शरीर को शान्त और तनाव-मुक्त रखने की बात को समझ लेते हैं। यदि हम श्वास को शान्त करने की बात को नहीं समझते हैं तो तनाव-मुक्ति की बात और आवेग-मुक्ति की बात की बात को भी नहीं समझते हैं। आवेग-मुक्ति की बात और कषाय-मुक्ति की बात को भी समझने के लिए यह अनिवार्य है कि श्वास-मुक्ति की बात को भी हम समझें। और श्वास-मुक्ति की बात समझने वाले को यह समझना जरूरी है कि वह आवेग मुक्ति की बात भी समझे।

साधक चत्मकारों की स्थिति में चले जाते हैं। घड़े को भी ऊपर उठा देते हैं, बड़ी-बड़ी शिलाओं को भी ऊपर उठा देते हैं, और कई बातें ऐसी दिखा देते हैं, स्वयं भी ऊपर उठ जाते हैं। राम ठाकुर था एक रसोइया। आसन करते-करते वह छत तक ऊपर उठ जाता था। बड़ा विचित्र था।

मालिक को भी मालूम नहीं था। एक दिन नौकर देखने गया तो रसोई का द्वार बन्द है। खिड़की से झांककर देखा तो राम ठाकुर कहीं दिखाई नहीं दिया। इधर-उधर देखा तो मालूम हुआ कि वह तो छत पर टंगा हुआ है। अधर में लटक रहा है। उसने मालिक से बताया। मालिक ने दौड़कर देखा तो उसे आश्चर्य हुआ। किवाड़ खोलकर अन्दर गया तो राम ठाकुर भी नीचे उतर आया। मालिक उसके पैरों में पड़ गया। यह क्या? ऐसा हो सकता है। परन्तु प्रश्न है कि हमारी शक्ति का नियोजन किस दिशा में हो? ये बातें भी असम्भव नहीं हैं। कषाय को कम करना भी असम्भव नहीं है, किंतु ये भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। एक व्यक्ति अपनी सारी शक्ति को कषाय को शांत करने में लगाता है। एक व्यक्ति अपनी शक्ति का नियोजन बाह्य स्थितियों के विकास में कर देता है। एक उपलब्धियों की दिशा में कर देता है अपनी-अपनी रुचि है। अपना-अपना मार्ग है। अपना-अपना दृष्टिकोण है। किन्तु एक ही शक्ति का विभिन्न दिशाओं में उपयोग किया जा सकता है। पानी से आप खेती भी सींच सकते हैं, पानी को पी भी सकते हैं, पानी से स्नान भी कर सकते हैं। किधर ले जा सकते हैं, यह आपकी रुचि का प्रश्न है, आपके सोचने का विषय है। यह चुनाव करने का आपका प्रश्न है कि कौन से विषय में आप गति करना चाहते हैं?

• नींद से तनाव कम होते हैं। फिर तनाव कम करने के लिए नींद ही क्यों न ली जाए?

जितनी प्रवृत्ति उतना तनाव। विष जमा होते हैं तनावों के कारण। नींद एक जरूरत है। कोई स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है। जितना ही नमक ज्यादा खाएंगे, उतनी ही प्यास ज्यादा लगेगी। नींद आएगी उसी समय जबकि मन में कोई तनाव नहीं होगा। नींद आ जाने पर पहले से संचित विष निकल जाते हैं। तनाव को शान्त करके नींद को जीत लेते हैं तो न अन्दर तनाव रहता है और न बाहर से दबाव पड़ता है। उसकी सम स्थिति बन जाती है।

• क्या यह सही है कि शान्त श्वास की स्थिति में क्रोध नहीं आता?

जिस समय हमारा ध्यान श्वास पर केन्द्रित होगा, उस समय कभी भी क्रोध नहीं आएगा। क्रोध आने से पहले श्वास को क्षुब्ध और उत्तेजित होना पड़ेगा। श्वास क्षुब्ध होने पर ही क्रोध आता है।

७ इन्द्रिय-संवर

शिष्य ने आचार्य से पूछा—"आत्मा परमात्मा कैसे हो सकती है ?"

आचार्य ने उत्तर दिया—"जब मन का मन्दिर उजड़ जाता है, इन्द्रियों की सारी प्रवृत्तियां नष्ट हो जाती हैं तब आत्मा परमात्मा बन जाती है।"

बहुत सीधा-सा सूत्र उन्होंने आत्मा से परमात्मा बनने का बताया। दो बातें उन्होंने मुख्य बतलाईं—मन का मन्दिर उजड़ जाए और इन्द्रियों का व्यापार नष्ट हो जाए। इन्द्रिय और मन हमारे जीवन के दो स्तम्भ हैं। इनके आधार पर हमारा सारा जीवन चलता और आचार्य ने उत्तर दिया कि इन्द्रियां भी समाप्त हो जाएं और मन भी समाप्त हो जाए। शेष रह जाए यह जड़ शरीर जैसे कोई सूखा वृक्ष खड़ा हो। तो फिर आत्मा परमात्मा बन जाएगी। बहुत अटपटी-सी बात आचार्य ने कही।

अगर इंद्रियां न हों, मन न हो तो हमारा जगत् ही क्या होगा ? यह सारा जगत् शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और संकल्पात्मक है। हम अपनी इंद्रियों के द्वारा जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं। कानों से हम सुनते हैं। आंखों से हम देखते हैं। नाक से हम सूंघते हैं। जीभ से हम चखते हैं और त्वचा से हम स्पर्श करते हैं। इन्हीं पांच इंद्रियों के द्वारा हम सम्पूर्ण जगत् से सम्पर्क स्थापित करते हैं। किन्तु आचार्य ने कहा कि इन्द्रिया समाप्त कर दो। मन के द्वारा हम इनका संकलन करते हैं, इन्हें याद रखते हैं और फिर काम में लेते हैं। आचार्य ने कहा की मन का मंदिर उजड़ जाए। इसका मतलब हुआ कि हमारा दृश्य जगत् के साथ सम्पर्क टूट जाए। और इस प्रकार हम अकेले पड़ जाएं कि जहां केवल हम हों और दूसरा कोई न हो। यह बहुत ही विचित्र स्थिति है। इसका प्रतिपादन आचार्य ने कर दिया। तो क्या सचमुच मन इतना खराब है ? इन्द्रियां इतनी खराब हैं ? क्या इन्द्रियां इतनी अनिष्ट हैं कि जिनके व्यापार को हम रोक लें ?

हिन्दुस्तान में इन्द्रियों को लेकर बहुत विचित्र धारणाएं रही हैं। इतने विचित्र मत रहे हैं, ऐसा लगता है मानों सारी दुनिया का नुकसान, सारी दुनिया की हानि, यदि कोई करने वाली है तो ये इन्द्रियां हैं, और कुछ नहीं

है। इन्द्रियों पर हमारे आचार्य इतने बरस पड़े कि कुछ कहा नहीं जा सकता। जितनी गालियां इन्द्रियों को दी गई हैं, उतनी शायद किसी और को नहीं दी गई। हर किसी ने इन्द्रियों को गालियां दी हैं। और सचाई यह है कि उनके बिना काम भी किसी का नहीं चल सका। इन्द्रियों के प्रति इतना रोष और आक्रोश प्रकट किया है मानो इनसे बढ़कर हमारा कोई दूसरा शत्रु नहीं है। ऐसे सम्प्रदाय भी रहे हैं। जिनका यह मत था कि आंख देखती है, इसलिए आंख को फोड़ दो। आंख को फोड़ डालना अच्छा है, रखना अच्छा नहीं है। क्योंकि आंख होगी तो विकार आएगा इसलिए अच्छा है कि आंख को फोड़ डालो। कान के पर्दे को फाड़ डालो। इन्हें खराब करने का, इन्हे विकृत करने का प्रयास किया जाता रहा है।

मैं जैन परम्परा में देखता हूं तो वहां भी इन्द्रियों के बारे में कई बातें मिलती हैं। केशी स्वामी ने गौतम स्वामी से पूछा—'आप शत्रुओं को कैसे जीत सकेंगे ? और आपके शत्रु कौन हैं ?' गौतम स्वामी ने कहा—'मन हमारा शत्रु है। कषाय हमारा शत्रु है। इन्द्रिय हमारी शत्रु हैं। मन को जीत लेता हूं तो कषाय जीत लिया जाता है। कषाय पर विजय होती है तब इन्द्रियां अपने आप विजित हो जाती हैं। हर धार्मिक कहता है—जितेन्द्रिय बनो। इन्द्रियों को जीतो। इन पर नियंत्रण करो। इनका निग्रह करो। इनको वश में करो।' मैं नहीं समझ सका, यह अकारण रोष क्यों ? इन्द्रियों का दोष कहां है ? इन्द्रियों का दोष क्या है, यह नहीं समझ में आता। दोष किसी का और निग्रह किसी का। दोष किसी दूसरे ने किया और निग्रह किसी दूसरे का हो रहा है। यह सचमुच बहुत जटिल बात है। हमें इस पर गंभीरतापूर्वक चिंतन करना चाहिए।

दोष इन्द्रियों का नहीं है। इन्द्रियां द्वार हैं, खिड़कियां हैं। इन खिड़कियों में से चैतन्य की रश्मियां बाहर आती हैं और बाहरी जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करती हैं। यदि ये खिड़कियां नहीं होतीं तो हमारा बाहरी जगत् होता ही नहीं। बिलकुल नहीं होता। हम अकेले में होते। हर आदमी अकेला होता। दूसरा कोई आदमी नहीं होता। या दूसरे के साथ किसी का सम्पर्क नहीं होता। सम्पर्क नहीं होने का मतलब है कि दूसरा कोई नहीं होता। सब कटे हुए और अकेले रहते। कोई भी जोड़ने वाला सूत्र नहीं होता।

आप कल्पना कीजिए कि एक आदमी गूंगा है, एक आदमी बहरा है और एक आदमी अंधा है। इनका बाहरी जगत् के साथ कैसे सम्पर्क होगा ? वह

वर्तमान की इस सृष्टि को कभी देख नहीं पाएगा। वह हमारे विचारों को कभी सुन नहीं पाएगा। वह अपने भावों को कभी व्यक्त नहीं कर पाएगा। क्योंकि वह विकल है। इन्द्रियों से हीन है। और इसलिए दरिद्र है वर्तमान या व्यावहारिक जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए। कितना अच्छा हो कि जिन लोगों ने यह प्रतिपादन किया कि इन्द्रियों को जीतो, उनकी दृष्टि में एक आदमी बहरा, गूंगा अन्धा बन जाए, तो वह सबसे अच्छा जितेन्द्रिय हो जाए। उसके लिए और कुछ करने की जरूरत ही न रहे। जो बहरा जन्मा, गूंगा जन्मा, अन्धा जन्मा वह तो कृतार्थ हो गया। साधना में सफल हो गया और उसकी नैया पार लग गई। जो विकलेन्द्रिय होता है, इन्द्रियों से हीन होता है, इन्द्रियों से शून्य होता है, उसे कोई अच्छा नहीं मानता। भगवान् ने यह भी कहा कि धर्म करो किन्तु तब तक कि जब तक इन्द्रियां ही न हों। क्योंकि इनके बिना धर्म भी नहीं हो सकता, हमारा काम भी नहीं चल सकता। दूसरी ओर इन्द्रियों को जीतो, इन्द्रियों को वश में करो। यह क्या है? मुझे लगता है कि यह एक आरोप की भाषा है। अर्थात् दोष हम उसे देते हैं जो सीधा हमारे नजदीक होता है। दोष कहां से आ रहा है, उस ओर हम ध्यान नहीं देते।

एक नाली है। नाली में से पानी भी आ सकता है, कीचड़ भी आ सकती है और गंदगी भी आ सकती है। नाली का काम तो यह है कि वह अवकाश देती है। आने वाला कोई भी हो। इन्द्रियां और कुछ भी नहीं करतीं। वे केवल अवकाश देती हैं, रास्ता देती हैं, मार्ग देती हैं। कोई भी आ जाए। चैतन्य की ऊर्मियां आएं, चैतन्य की रश्मियां आएं, तो उनके लिए इनके द्वार खुले हैं। वासना की ऊर्मियां आएं तो उनके लिए भी इनके द्वार खुले हैं। ये द्वार हैं, खिड़कियां हैं, कोई भी झांक सकता है। हमने क्या किया? झांकने वाले को नहीं देखा। झांकने को बुरा मान लिया, झांकने वाले को बुरा नहीं माना, या जिसमें झांका जा रहा है उसे बुरा मान लिया। यह बुराई का आरोप बड़ा विचित्र आरोप हो गया। जाना कहीं चाहिए था और चला कहीं गया।

बाप ने कहा—'बेटा? तू बहुत बदमाश है और इसीलिए बार-बार तुझे पीटना पड़ता है। मैं जब बच्चा था, कभी अपने बाप से मार नहीं खायी।' बेटा बड़ा होशियार था। उसने कहा—'पिताजी, मुझे लगता है कि आपके पिताजी बड़े भले आदमी थे।'

अब भला कौन है ? मार खाने वाला भला है या मारने वाला ? बुरा कौन हैं ? मार खाने वाला बुरा है या मारने वाला बुरा है ? यह निर्णय बहुत उलझन में पड़ गया। हम नहीं समझ पाए कि इन्द्रियां बुरी हैं या इन्द्रियों में से झांकने वाला बुरा है। बुरा कौन है ? मुझे लगता है कि इन्द्रियां बुरी नहीं हैं। इन्द्रियों में कोई बुराई नहीं है। आंख में कोई बुराई नहीं है। कान में बुराई नहीं है। नाक में कोई बुराई नहीं है। और त्वचा में कोई बुराई नहीं हैं। ये बेचारी जड़ हैं, अचेतन हैं। कुछ भी नहीं करने वाली हैं। केवल रास्ता और केवल रास्ता है। हमारे विराट् चैतन्य की रश्मियां इन्हीं इन्द्रियों के रास्ते से बाहर आती हैं और हमारी वासना की रश्मियां भी इन्हीं रास्तों से बाहर आती हैं।

हमें पहुंचना चाहिए था वासना तक और हम रुक गए इन्द्रियों तक। यह हमारी कठिनाई हो गई। मैं समझता हूं कि 'इन्द्रियों को जीतो', इस भाषा में कोई मतलब नहीं है। हमारी भाषा होनी चाहिए—'वासना को जीतो', 'संस्कार को जीतो' और 'जो इन्द्रियों को धूमिल बनाती हैं, उन वृत्तियों को जीतो।'

हमारे इस स्थूल शरीर में होते हैं सूक्ष्म शरीर। उनमें एक होता है वासना का शरीर, कर्म-शरीर जिसमें सारे संस्कार पलते हैं। आदमी ज्यादा खा लेता है। अच्छी चीज होती है तो ज्यादा खा लेता है। सुन्दर चीज होती है तो ज्यादा देख लेता है। किन्तु पशु वैसा नहीं करता। क्योंकि वासनाएं उसमें इतनी तीव्र नहीं होतीं। मनुष्य की वासनाएं बहुत तीव्र होती हैं। उसके संस्कार बहुत तीव्र होते हैं और संस्कार के कारण ऐसा करता है, इन्द्रियों के कारण ऐसा नहीं करता। जीभ यह कभी नहीं प्रेरित करती कि बहुत खाया जाए। जीभ का काम है स्वाद लेना और जो आए उसे आगे पहुंचा देना।

एक अंग्रेज पर्यटक तिब्बत में लामाओं के पास गया। जहां लामा का मठ था, उसके पास थी एक खाई। पचास गज गहरी और पचास गज चौड़ी। उसे कैसे पार किया जाए ? वह जैसे ही पहुंचा तो सामने लामा का एक दूत खड़ा दिखाई पड़ा। दूत ने कहा—'महाशय, आइए। मैं आपको योग-शक्ति के द्वारा पार पहुंचा दूंगा।' ऊपर कोई पुल नहीं था। उसने योग-बल के द्वारा अंग्रेज पर्यटक को पार पहुंचा दिया। वह लामा के पास पहुंचा

और देखा कि लामा एक लाल दरी पर बैठा है। उसके शरीर के चारों तरफ तीन फुट का नीले रंग का तैजस का एक वलय है। वह प्रणाम कर बैठ गया। इतने में एक व्यक्ति एक मृत शरीर को लाया। लाकर सामने रख दिया। लामा ने देखा और तत्काल ध्यानस्थ हो गया। कुछ मन्त्र-सा पढ़ा और दो-चार मिनट में मुर्दा जी उठा। मुर्दा खड़ा हुआ। लामा को प्रणाम किया और फिर सो गया।

लामा ने उस पर्यटक अंग्रेज डॉ० एलिकजेण्डर को बताया कि यह मुर्दा है। यह शव है। सात वर्षों से यह मरा हुआ है और अगले सात वर्षों तक यह ऐसे ही रहने वाला है। चौदह वर्ष तक ऐसे रहेगा। तुम अभी आए थे। खाई के पास तुम्हारी अगवानी कौन कर रहा था? किस व्यक्ति ने तुम्हें खाई पार कराया? अंग्रेज ने कहा कि आपका एक दूत आया था और उसी ने योगबल से खाई को पार कराया था। लामा ने कहा कि दूसरा कोई नहीं था, इसी का वासना शरीर था। और मैं इसके वासना शरीर को, सूक्ष्म शरीर को दुनिया के हर कोने में काम के लिए भेजता हूं। जो भी काम होता है, यह करके लौट आता है। मैं सात वर्षों से इससे काम ले रहा हूं और सात वर्षों तक आगे भी काम लेता रहूंगा। चौदह वर्षों के बाद यह समाप्त हो जाएगा।

हमारा सूक्ष्म शरीर, हमारा संस्कार का शरीर, हमारा वासना का शरीर इतना तीव्र होता है, इतना शक्तिशाली होता है कि वह सारी वासनाएं प्रेषित करता है और बेचारी इन्द्रियां दोष की भागी बन जाती हैं। हमारे संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं, इतने जम जाते हैं, जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। आपके शरीर के कण-कण में संस्कार जमे हुए हैं। आप नियमित रूप से कोई पांच-सात दिनों तक काम कर लेते हैं, फिर वह आपका एक संस्कार बन जाता है।

आजकल आम का मौसम है। लोग आम खाते हैं। महीने-दो महीने के बाद मौसम चला जाएगा। जब मौसम चला जाएगा आप भोजन करने के लिए बैठेंगे तो तत्काल आमरस की स्मृति हो जाएगी; क्योंकि उसका एक संस्कार है। और यह संस्कार समय आने पर अपने आप ही जागृत हो जाता है। एक वैज्ञानिक ने संस्कार-स्मृति के अनेक प्रयोग किए। उसने कुत्ते को बांध दिया। उसे ठीक नौ बजे भोजन कराता तो ठीक नौ बजते ही कुत्ते के मुंह से लार टपक पड़ती। चीज सामने आते ही लार टपक पड़ती। उसने

देखा कि भोजन सामने आते ही लार टपक पड़ती है और उसकी खाने की पूरी तैयारी हो जाती है। अगर भोजन नहीं आता तो भी ठीक समय पर लार टपक पड़ती। लार क्यों टपकती ? वह संस्कार बन गया था।

एक बीमार आदमी यह नहीं चाहता कि अमुक-अमुक चीजें खाऊं। किंतु जब खाने बैठता है तो उसका मन प्रबल हो उठता है और अपनी इच्छा को रोककर भी वह खा लेता है। अपनी भावना को दबाकर भी वह खा लेता है। सारी कठिनाइयों को सहकर भी वह खा लेता है और जो नहीं खाना चाहिए, वह भी खा लेता है। ऐसा कौन करता है ? यह संस्कार करता है। इन्द्रियां नहीं करती हैं, संस्कार करता है। तो हमें सारा ध्यान केन्द्रित करना चाहिए था संस्कार पर, वृत्ति पर और मन पर। किन्तु कर दिया इन्द्रियों पर।

आपने पहले सुना था केशी स्वामी के प्रश्न को। बहुत सुन्दर उत्तर दिया था गौतम स्वामी ने। उन्होंने यह नहीं कहा कि इन्द्रियों को पहले जीतो, सब जीत लिया जाएगा। उन्होंने कहा—'केशी ! सबसे पहले मन को जीतो। जब मन को जीत लोगे, मन की चंचलता समाप्त हो जाएगी तो कषाय अपने आप ही समाप्त हो जाएगा। मन जीता कि कषाय जीत लिया। कषाय कब उभरते हैं ? मन चंचल होता है तब कषाय उभरते हैं। मन स्थिर-शांत होता है तो कषाय नहीं उभरते, आवेग नहीं आता। जब मन वश में हो गया, मन स्थिर और शांत हो गया, तब कषाय अपने आप ही शांत हो गए। और जब कषाय शान्त हो गए, तब इन्द्रियां अपने आप ही विजित हो गईं। इन्द्रियों के लिए अलग से हमें प्रयत्न करने की जरूरत नहीं है।'

तंत्रशास्त्र में ठीक कहा गया है—इन्द्रियों की प्रवृत्ति में और निवृत्ति में मन ही प्रभु है। मन ही समर्थ है। मन ही इन्द्रियों को संचालित करता है और मन ही इन्द्रियों को निरुद्ध करता है। यदि मन नहीं चलता है तो इन्द्रियां नहीं चलतीं। मन रुका हुआ है, इन्द्रियां रुकी हुई हैं। मन चंचल है तो इन्द्रियां चंचल हैं। मूल बात है—संस्कार को पकड़ने की। इन्द्रियों को पकड़ने में कोई लाभ नहीं है।

आचार्य भिक्षु ने उन लोगों पर बहुत कड़ा प्रहार किया जो इन्द्रियों पर दोषारोपण करते थे। उनका एक ग्रन्थ है 'इन्द्रियवादी की चौपाई।' बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। आचार्य भिक्षु की कृतियों में वह एक श्रेष्ठ कृति है। उस कृति में उनका दार्शनिक रूप निखरा है। आचार्य भिक्षु को हम एक दार्श-

निक के रूप में 'इन्द्रियवादी की चौपई' में देख सकते हैं। आचार्य भिक्षु ने उन लोगों पर बड़ा व्यंग्य किया जो इन्द्रियों को दुत्कारते हैं। उन्होंने कहा कि रोग कहीं और निदान कहीं। आंखों को फोड़ने से तुम्हारा होगा क्या? बीमार हो गया ऊंट और दाग दिया बैल को। क्योंकि ऊंट तक हाथ पहुंचता नहीं, बैल तक पहुंच जाता है। मन को मारते नहीं, फोड़ते हैं आंख को। आप आश्चर्य करेंगे कि ऐसे बहुत से लोग हुए हैं जिन्होंने आंखों को फोड़ा है। इसलिए कि विकार न आए। आंख फोड़ने से उनका विकार मिट गया हो ऐसा मुझे नहीं लगता।

नमि राजर्षि से ब्राह्मण ने पूछा—'आप अभी दीक्षित क्यों हो रहे हैं? अभी बहुत से चोर हैं, अपराधी हैं, डाकू हैं, लुटेरे हैं, उनको पहले दण्डित कीजिए, फिर बाद में दीक्षा लीजिए।'

राजर्षि ने कहा—'यह बड़ी विचित्र दुनिया है। बहुत बार ऐसा होता है कि लोग मिथ्या दण्ड देते हैं, झूठा दण्ड देते हैं। जो अपराधी है वह बच निकलता है और जो अपराधी नहीं है, भोला-भाला है, वह दण्डित हो जाता है।' मुझे लगता है कि हमारी इन्द्रियां व्यर्थ में ही जेल में ठूंसी जा रही हैं। व्यर्थ ही बन्दी बनाई जा रही हैं। और इतना दंड उन्हें दिया जा रहा है जितना नहीं दिया जाना चाहिए। जिसे दंड दिया जाना चाहिए उसकी ओर हमारा ध्यान भी नहीं है और उसकी हम खबर भी नहीं लेते हैं।

किसे दंड दिया जाए? किसे पकड़ा जाए? किसका निग्रह किया जाए? किसे वश में किया जाए? मेरा विषय है—इन्द्रिय का संवर। तो दंड इन्द्रिय को ही दिया जाना चाहिए। किन्तु मैं समझता हूं कि यह मात्र विषय का दरवाजा है। पहुंचना हमें भीतर है। दरवाजे पर हम इतने लोग बैठ नहीं सकते। इतने लोग खुली जमीन में और खुले आकाश में बैठ सकते हैं, छोटे से दरवाजे पर इतने लोग कहां समाएंगे? वह तो एक दरवाजा हो गया। हमें पहुंचना है भीतर, भीतर और भीतर जहां कि वह चोर छिपकर बैठा है और जो अपनी चोरी के कारण, अपनी प्रवृत्ति के कारण बेचारी सारी इन्द्रियों को दूषित बनाए बैठा है। इसीलिए भगवान् ने कहा—'संवर करो। दरवाजे को बन्द करो। जो भीतर है, वहां तक बन्द करो। न केवल बाहर से बन्द करो, भीतर तक बन्द कर दो। जो विकार की रश्मियां-ऊर्मियां आ रही हैं, वहां से दरवाजे को बन्द कर दो।'

दो प्रणालिकाएं हैं। एक में से आ रही हैं चैतन्य की ऊर्मियां और दूसरी

में से आ रही हैं वासना की ऊर्मियां। जिस रास्ते से वासना की ऊर्मियां प्रवेश पा रही हैं, उनके द्वार को बन्द कर दो। इसी का नाम है प्रत्याहार। पहली बात हुई कि विषयों को ग्रहण मत करो—शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्श—इन्हें ग्रहण ही मत करो। इन्द्रियों के दरवाजे को बन्द कर दो।'

आचारांग सूत्र में इसका प्रतिवाद मिलता है। सूत्रकार ने कहा—'यह कैसे संभव है कि शरीर हो और विषयों का ग्रहण न हो। कानों में शब्द आ रहे हैं, उन्हें रोक पाना शक्य नहीं है। शब्दों को ग्रहण मत करो, उन्हें मत सुनो, यह संभव नहीं है। जब तक कान के पर्दे हैं, तब तक यह नहीं हो सकता। जब तक आंख हैं, यह नहीं हो सकता कि मत देखो।'

अग्रहण की बात कुछ समय के लिए ठीक है। हम घंटा भर आंख मूंद कर बैठ गए। पांच घंटा बैठ गए। ठीक है। किन्तु सारा जीवन इस प्रकार नहीं चल सकता। यह अल्पकालीन बात हो सकती है, जीवनकालीन बात नहीं हो सकती। आपने सर्वेन्द्रियां-मुद्रा कर ली। बाहर से किसी वस्तु को ग्रहण नहीं किया। यह कुछ समय के लिए हो सकता है। किन्तु शाश्वत समय के लिए यह बात संभव नहीं है। शाश्वत समय में हमें इन्द्रियों की प्रवृत्ति करनी ही होगी। उन्होंने फिर दूसरा विकल्प सुझाया कि तुम ऐसा मत करो। इस अग्रहण की बात पर इतना बल मत दो। तो क्या करो? जो विषय प्राप्त होते हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, उन पर राग-द्वेष मत करो, उनके साथ चेतना को मत जोड़ो। यह रहा दूसरा विकल्प। पहला था अग्रहण और दूसरा अनासक्ति।

प्रश्न जटिल है। राग-द्वेष न करो, यह बात ठीक है। परन्तु कैसे नहीं करें? केवल आंख मूंद ली या मन में सोच लिया कि जो भी सामने रूप आएगा, रंग आएगा, उस पर मैं राग और द्वेष नहीं करूंगा, यह कैसे संभव होगा? आंख मूंद लेने मात्र से तो यह संभव नहीं है। जैसे ही कोई सुन्दर रूप सामने आया, राग का भाव उत्पन्न हो जाएगा। जैसे ही कोई बीभत्स चीज सामने आयी, गन्दगी सामने आयी या विकृत चेहरा सामने आया, मन में घृणा का भाव पैदा हो जाएगा। सोच लेने मात्र से होगा कैसे?

तो फिर और आगे बढ़ें। वासना का निर्मूलन करें। यह कैसे हो सकता है? इसका उत्तर आचारांग में बहुत सुन्दर मिलता है। उस सत्ता की उपासना करो, उस सत्ता के जगत् में पहुंच जाओ जहां शब्द नहीं है, रूप नहीं है, गंध नहीं है, रस नहीं है और स्पर्श नहीं है।

आत्मा का अस्तित्व शब्दातीत, रूपातीत, गन्धातीत, रसातीत और स्पर्शातीत है। यह है आत्मा का अस्तित्व। वहां पहुंच जाओ, फिर संस्कार समाप्त, सारी वासनाएं समाप्त और सारा विकार समाप्त। गीता ने इसी भाषा में कहा—

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिन:।
रसवर्जं रसोप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते।

जो निराहार होता है, बाहर से कुछ लेता नहीं है, आंख मूंद लेता है, कान में भी उंगली डाल लेता है या रुई डाल लेता है, नाक को बन्द कर लेता है और त्वचा के संवेदन का भी संवरण कर लेता है, वह विषयों से दूर हो जाता है। जो निराहार होता है, बाहर से नहीं लेने वाला होता है, उसके विषय समाप्त हो जाते हैं। तो फिर प्रश्न उठा कि क्या विकार समाप्त हो गया? निराहार होने से, बाहर से नहीं लेने से क्या विषय समाप्त हो गए? विकार समाप्त नहीं हुए। तो फिर क्या करना चाहिए? रस नहीं छूटा। रस कैसे छूटेगा? वासना कैसे छूटेगी? विकार कैसे छूटेगा? प्रश्न तो यह है। उन्होंने कहा कि 'पर' की उपासना करो, 'पर' का दर्शन करो, ग्रन्थि समाप्त हो जाएगी। विकार और वासना समाप्त हो जाएगी। यह है 'पर-दर्शन' और इसी का नाम है 'आत्म-दर्शन'। जिस व्यक्ति ने 'आत्म-दर्शन' किया है, आत्मा को देखा है, आत्मा पर ध्यान केन्द्रित किया है, उस व्यक्ति ने सब विषयों से मुक्ति पा ली, विकारों से मुक्ति पा ली। फिर वह देखता हुआ भी नहीं देखता।

जो दर्शन का क्षण है वही मन की शांति का क्षण है। मन शांत तो इन्द्रियां शांत। मन चंचल तो इन्द्रियां चंचल। यह है आत्म-दर्शन का क्षण, आत्मा की उपासना, शब्दातीत स्थिति की उपासना।

इन्द्रिय-विजय का धागा कहां तक पहुंचता है? आप थोड़ी गहराई से ध्यान दें। इन्द्रिय-विजय का धागा यहां तक नहीं पहुंचता कि हमने एक चीज को खाना बन्द कर दिया और मान लिया कि रसना पर हमारी विजय हो गई। हमने दो-चार दिनों के लिए अमुक चीज को खाने का त्याग कर दिया, और हमने मान लिया कि रसना पर हमारी विजय हो गई। हमने थोड़े घंटों तक आंख मूंदकर ध्यान कर लिया और मान लिया कि चक्षु पर विजय हो गई। यह हमारी भ्रान्ति होगी। हम विजय के द्वार तक भी नहीं पहुंच पाएंगे। विजय का द्वार अभी खटखटाया ही नहीं है। अभी दूर खड़े हैं और

दूर खड़े विजय की कामना कर रहे हैं। जहां पहुंचना चाहिए, पहुंच नहीं पा रहे हैं। वह विजय तब होगी, जब हम गहराई में चलते चले जाएं और चलते-चलते वहां पहुंच जाएं जहां कि शब्द का प्रवेश नहीं है, रूप का प्रवेश नहीं है, दूसरे विषयों का प्रवेश नहीं है। जहां उनका प्रवेश समाप्त हो जाता है, उस भूमिका तक पहुंच जाएं तब हमारी विजय होगी। इतनी गहराई में जाने का प्रयत्न नहीं होता तो इन्द्रिय-संवर नहीं होता। आप इन्द्रिय-संवर को ठीक से समझें। इन्द्रिय का संवर, इसका मतलब है आत्मा का दर्शन, परमात्मा का दर्शन या भगवान् का दर्शन। जिस दिन भगवान् का दर्शन हो गया हमारा सारा आकर्षण समाप्त हो गया। जब तक वह दर्शन नहीं हुआ तब तक यह आकर्षण और रस समाप्त होने वाला नहीं है। मूल में हमारा रस बदलना चाहिए। रस का परिवर्तन नहीं होगा तो वैसा कभी नहीं होगा। हमें करना है रस का परिवर्तन।

शरीर के लिए इन्द्रिय-ज्योति की बहुत जरूरत है, बहुत जरूरत है। जो व्यक्ति अच्छे शब्द नहीं सुनता, उसका स्वास्थ्य अच्छा नहीं होता। अच्छे रंगों और रूपों को नहीं देखता, उसका मन प्रसन्न नहीं रहता। उसकी बुद्धि भी विकसित नहीं होती। जिसकी बुद्धि विकसित नहीं होती, उसकी इन्द्रियां भी ठीक काम नहीं करतीं। आप जाने दीजिए मनुष्य को। आप पशु जगत् में आइए, पक्षी जगत् में आइए, वनस्पति जगत् में आइए। आपको पता है या नहीं, आजकल ऐसे प्रयोग हुए हैं कि एक खेत में अच्छे-अच्छे संगीत की लहरियां वैज्ञानिकों ने प्रसारित कीं और पड़ोस के खेत में नहीं। वर्षा समान हो रही है। दोनों खेतों को खाद-पानी समान रूप से दिया जा रहा है। परन्तु संगीत की लहरी एक खेत को ही सुनाई जा रही है। वैज्ञानिकों ने देखा कि जिस खेत में संगीत की मधुर ध्वनियां थिरकती थीं, उसकी पैदावार ज्यादा हुई है। यह वनस्पति जगत् का प्रयोग है। आप पशु जगत् में देखिए। गायों को रेडियो सुनाया गया तो उनका दूध अधिक हुआ। जिन्हें गाने नहीं सुनाए गए, उनका दूध कम हुआ। छोटे-छोटे बच्चों को लोरी सुनाई जाती है तो उन्हें नींद आ जाती है। शब्दों में भी ताकत होती है।

विवेकानन्द अमेरिका से आए। एक व्यक्ति आया और बोलने लगा कि शास्त्रों में क्या पड़ा है, शब्दों में क्या धरा है? विवेकानन्द ने कहा—'बेवकूफ! मूर्ख! तुम बैठ जाओ।' वह व्यक्ति क्रोध में आ गया। उसने कहा—'आप संन्यासी होकर ऐसा बोलते हैं? आपने यह क्या किया?

आपने मुझे गाली दे दी ?' विवेकानन्द ने कहा—'अभी तो तुम कहे रहे थे कि शब्दों में क्या पड़ा है ? और अब तुम कह रहे हो कि मुझे तो गाली दे दी। तुम्हीं कह रहे थे शब्दों में क्या धरा है ?'

शब्दों में बहुत ताकत होती है। एक शब्द से कुछ का कुछ हो जाता है।

यह हमारा सिद्धांत है कि इष्ट शब्द, इष्ट रूप, इष्ट गन्ध, इष्ट स्पर्श और इष्ट रस, ये प्राप्त होते हैं तो शरीर प्रसन्न, इन्द्रियां प्रसन्न, मन प्रसन्न और सारा जीवन उत्फुल्ल होता है। अगर किसी व्यक्ति को आप गालियां ही गालियां देते चले जाइए, वह बिलकुल निकम्मा हो जाएगा। आप किसी बच्चे को प्रोत्साहन दीजिए, वह अगर अच्छा नहीं है तो भी आपके प्रोत्साहन से अच्छा बन जाएगा।

मैंने इन्द्रिय-संवर की चर्चा की। उसमें यह नहीं है कि आप अनिष्ट विषयों को ग्रहण कीजिए। कोई जरूरत नहीं है। अगर आप अनिष्ट विषयों को देखेंगे, ग्रहण करेंगे शायद आपके मन पर अच्छा असर नहीं होगा। किन्तु उसमें एक बात है और वह यह है कि जहां तक मैंने पहुंचना चाहा था, वहां तक आप पहुंच जाएं, मैं पहुंच जाऊं तो फिर ये अनिष्ट भी हमारे लिए इष्ट बन जाएंगे। हमारा मन इतना शक्तिशाली हो जाए कि अनिष्ट से अनिष्ट आने वाली चीज को हम इष्ट में बदल सकें। यह परिवर्तन की सत्ता हमारे अन्दर है। हमारे मन में है। हर एक खराब वस्तु को अच्छी में बदल सकते हैं। यह हमारी शक्ति और हमारी ताकत है।

एक व्यक्ति गाली को सुनकर जल-भुन उठता है तो दूसरा व्यक्ति प्रफुल्ल हो जाता है। आचार्य भिक्षु से एक व्यक्ति ने कहा—'आपका मुंह देखने वाला नरक में जाता है।' आचार्य भिक्षु खिल उठे। प्रफुल्ल हो उठे। और यदि किसी दूसरे व्यक्ति को कहा जाता तो वह तमतमा उठता। चेहरा लाल-पीला हो जाता। आवेश में आ जाता और साथ-साथ गालियों की बरसात भी कर देता। आखिर यह अन्तर कहां से आया ? अन्तर है उस मन की शक्ति में। उस व्यक्ति ने मन का इतना विकास कर लिया कि वह बाहरी अनिष्ट को इष्ट में बदल सकता है। मूल बात है कि हम वहां तक पहुंच जाएं, जिस सत्ता तक पहुंचने पर अनिष्ट को इष्ट में बदलने की और इष्ट को केवल इष्ट के रूप में स्वीकार करने की क्षमता हमारी विकसित हो जाए। और उसमें आने वाली गन्दगी, कीचड़, विकृति को अलग से छानने की क्षमता पैदा हो जाए।

• इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने की शक्ति कैसे विकसित हो सकती है ?

इन्द्रियों के इष्ट विषयों को ग्रहण करने की हमारी ताकत तभी विकसित होगी जबकि इन्द्रिय का संवर हो जाएगा। और जो द्वार गंदगी प्रेषित कर रहा है, उसका द्वार बन्द हो जाएगा तभी हम इष्ट वस्तुओं को ग्रहण कर सकेंगे। एक कामुक व्यक्ति कभी सुन्दर रूप को नहीं देख सकता। एक निर्विकार व्यक्ति ही रूप की सुन्दरता को समझ सकता है और देख सकता है। जो कीचड़ में फंसा हुआ है, वह सुन्दरता को नहीं पकड़ सकता। क्योंकि उस पर तो दूसरी भावनाएं छा जाती हैं। वह वास्तविकता को समझ ही नहीं सकता। जिसका मन शान्त, प्रसन्न और निर्विकार होता है, वही सही स्थिति को समझ सकता है। मैं यह समझता हूं कि इन्द्रिय का संवर वहां होना चाहिए। वहां से संवर हो गया तो फिर इष्ट विषयों को ग्रहण करने से हमारी इन्द्रियां प्रबुद्ध होंगी। हमारा शरीर और मन प्रबुद्ध होगा।

• अनिष्ट विषय को इष्ट बनाने की कोई प्रक्रिया हो सकती है क्या ?

एक चीज खाने को मिलती है। चीज अच्छी नहीं है। इष्ट नहीं है। किन्तु मन की प्रसन्नता और मन की शक्ति और धारणा जोड़ दी तो वह भी आपको प्रिय लगने लगेगी। ऐसा धारणा के कारण होता है। और इन धारणाओं के कारण ही इतने परिवर्तन होते हैं।

• शब्द को सुनकर प्रसन्नता या अप्रसन्नता होती है ? यह किसकी शक्ति है ?

शब्द शब्द होता है। उसमें प्रशंसा और अवर्णवाद न हो तो फिर शब्द का कोई अर्थ ही नहीं। सूर्य तो एक है। उल्लू के लिए सूर्य के प्रकाश का कोई मूल्य नहीं। यह उल्लू की आंख की रचना का भेद है। मनुष्य की आंख की रचना का भेद है। हम तो यह नहीं कह सकते कि सूर्य में तेजस्विता नहीं है। या सूर्य में प्रकाश नहीं है। ग्रहण करना हमारी रचना का भेद हो सकता है किन्तु सूर्य जो एक तेजोमय, प्रकाशमय पिण्ड है, उसे अगर उल्लू प्रकाश रूप में न ग्रहण कर सके तो हम सूर्य की तेजस्विता को अस्वीकार तो नहीं कर सकते ?

• संस्कार और कर्मों में क्या अन्तर है ?

कर्म बहुत सूक्ष्म पुद्गल और शक्तिशाली पुद्गल हैं। एक कार्य करते समय हम बाहर से कुछ पुद्गलों को लेते हैं। ये कहलाते हैं कर्म। और बार-बार काम करने से हमारे स्नायुयों में एक प्रकार का अभ्यास हो जाता है

और उसके आसपास अभ्यास को जीवित रखने वाले पुद्गल संचित हो जाते हैं। ये होते हैं संस्कार। संस्कार तो मृत्यु के बाद भी रह जाते हैं।

आपने एक घटना सुनी होगी। एक सैनिक अधिकारी था। उसकी अंगुलियां कट गईं। अंगुलियों का प्रत्यारोपण कर दिया गया। प्रत्यारोपण तो हो गया, परन्तु वह कहीं भी पार्टी या भोज में जाता, आसपास में जो लोग होते, तत्काल उसकी अंगुलियां उनकी पॉकेट के पास चली जातीं। उसे बड़ा संकोच होता, शर्म महसूस होने लगती। उसने जांच कराई तो मालूम हुआ कि जो अंगुलियां लगाई गई हैं, वे पॉकेटमार की हैं। उनमें वे संस्कार शेष थे। इसलिए जब भी कोई प्रसंग आता, वे अपने आप ही दूसरे की पॉकेट के पास चली जातीं। इस प्रकार संस्कार तो हमारे शरीर में शेष रह जाते हैं, परन्तु कर्म सूक्ष्म शरीर के साथ चले जाते हैं।

वाक्-संवर-१

एक कथाकार कथा कह रहे थे। विषय था—'क्रोध मत करो।' सुनने वाले सुन रहे थे। कुछ ऊंघ रहे थे। कुछ बातें कर रहे थे। कथावाचक ने बार-बार टोका। फिर भी वे नहीं माने। कथावाचक झल्ला उठा। गुस्सा आ गया। कथा हो रही थी—'क्रोध मत करो' और कथा करने वाला स्वयं क्रुद्ध हो उठा। ठीक उसी स्थिति का अनुभव मैं कर रहा हूं। विषय है—वाक्-संवर और मुझे बोलना है। मुझे वाणी का संवर नहीं करना है। ठीक उलटी बात हो रही है। अच्छा तो यह होता कि वाक्-संवर का वक्तव्य मौन के द्वारा होता। मैं भी मौन खड़ा रहता और आप भी मौन होकर सुनते।

'वाक्' एक बहुत बड़ा तत्त्व है। इस पर भारतीय मनीषियों ने पर्याप्त मीमांसा की है। 'मन' से कम नहीं की है। जितनी मीमांसा मन पर हुई है, मैं समझता हूं कि वाक् पर उससे अधिक हुई है। बहुत ज्यादा हुई है। और यहां तक हो गई कि आचार्यों ने कहा कि वाक् ही परमब्रह्म है, शब्द ही परमब्रह्म है। जैसे ब्रह्माद्वैतवाद एक दर्शन है वैसे ही एक दर्शन है शब्दाद्वैत-वाद। शब्द का अद्वैत, शब्द परमब्रह्म है और शब्द ही सब कुछ है। जो हमें दिखाई दे रहा है, वह सारा का सारा शब्द का ही विस्तार है। मूल शब्द ब्रह्म है और वही सब कुछ है। यह है शब्दाद्वैतवाद। यह ठीक वैसे ही विक-सित हुआ जैसे ब्रह्माद्वैतवाद विकसित हुआ।

आप भी अनुभव करेंगे कि हमारा यह सारा संसार शब्दमय है। कभी आप रेडियो सुनते हैं, ध्वनियां आने लग जाती हैं, शब्द आने लग जाते हैं और ऐसा लगता है कि सारी दुनिया कोलाहलमय हो रही है। सार संसार *प्रकम्पनमय है। तरंगें उठ रही हैं। ऊर्मियां उछल रही हैं। जहां तरंग हैं,* ऊर्मि है, प्रकम्पन है, वहां ध्वनि है और शब्द हैं।

व्याकरण के आचार्यों ने और मन्त्र के आचार्यों ने ध्वनि के चार रूप निर्धारित किए—**परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। परा**—यह प्राणमय ध्वनि है। **पश्यन्ती**—यह मनोमय ध्वनि है। **मध्यमा**—यह हमारी ध्वनि की व्यंजक-ध्वनि है और **वैखरी**—यह स्थूल ध्वनि है, जो मैं बोल रहा हूं। आप

इस क्रम से ले सकते हैं—स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम। हम जो बोलते हैं, वह स्थूल ध्वनि है, 'वैखरी' है। 'मध्यमा' सूक्ष्म ध्वनि है। 'पश्यन्ती' सूक्ष्मतर ध्वनि है और 'परा' सूक्ष्मतम ध्वनि है।

आज के विज्ञान को पढ़ने वाला जानता है कि ध्वनियों के बारे में कितना अनुसन्धान हुआ है ? इस विषय में कितनी चर्चाएं हुई हैं ? अभी-अभी कुछ दिन पहले हमने पढ़ा था कि रूस में कर्णातीत ध्वनि का विकास किया गया है। एक नया प्रयोग उन्होंने किया है कर्णातीत ध्वनि का, सूक्ष्म ध्वनि का। वैसे सूक्ष्म ध्वनि के द्वारा पहले से ही कुछ कार्य चल रहे हैं। जैसे—वस्त्रों का प्रक्षालन, हीरे को काटना आदि-आदि। हीरा हीरे से ही कटता है, अब यह मान्यता पुरानी पड़ गई है। अब हीरा ध्वनि के द्वारा भी कटने लग गया है। सूक्ष्म ध्वनि के द्वारा भी हीरा कट जाता है। अब एक नया प्रयोग और हुआ है कर्णातीत ध्वनि का। किसी व्यक्ति का ऑपरेशन करना है। आप कल्पना कीजिए कि एक रोगी है और उसे ऑपरेशन कराने की जरूरत है। वह ऑपरेशन-थिएटर में चला गया। ऑपरेशन की टेबल पर सो गया। डॉक्टर आया। उसके साथ में कोई औजार नहीं है। एक यंत्र चलाया जाता है और उससे सूक्ष्म ध्वनि की तरंगें निकलने लगती हैं। वे ध्वनि की तरंगें कुछ निश्चित वर्तुल में आती हैं। उन ध्वनि-तरंगों के द्वारा ऑपरेशन अपने आप हो जाता है। औजार तथा दूसरे उपकरणों की जरूरत नहीं होती। यह अभी-अभी सफल प्रयोग किया जा चुका है।

हम लोग बहुत सारी बातें सुनते हैं मन्त्रशास्त्र की। मंत्रों में बहुत बड़ी शक्ति होती है। मंत्र का प्रयोग किया और मकान को हिला दिया। मंत्र का प्रयोग करके मकान को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचा दिया। मंत्र का प्रयोग किया और ताले टूट गए। मंत्र का प्रयोग किया और देवता का आसन प्रकम्पित हो गया। हजारों-हजारों बातें हमारे प्राचीन साहित्य में—जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य—में भरी पड़ी हैं। ये बातें अविश्वसनीय-सी लगती थीं। भला मंत्र से ताला कैसे टूट सकता है ? मंत्र से मकान कैसे हिल सकते हैं ? मंत्र से कैसे हो सकता है कि एक आदमी खड़ा है, मंत्रवादी चाबुक का प्रहार कर रहा है और वे प्रहार अन्तःपुर में लग रगे हैं। यह कैसे हो सकता है ? असम्भव बातें लगती थीं और नहीं मानने जैसी बातें लगती थीं किन्तु विज्ञान ने सूक्ष्म ध्वनियों का विकास कर यह प्रमाणित कर दिया कि ध्वनि की तरंगों में इतनी बड़ी शक्ति होती है, इतनी बड़ी ताकत होती है जिसकी

हम साधारणतः कल्पना नहीं कर सकते। ध्वनि-तरंगों के द्वारा वे कार्य निष्पन्न हो सकते हैं जो हमारे किसी स्थूल उपकरण से नहीं हो सकते।

हमारे प्राण की ध्वनि सूक्ष्मतम होती है। जब ध्वनि प्राण में चली जाती है, तब वहां बहुत विचित्र स्थिति पैदा हो जाती है। आपने सुना होगा—बहुत सारे लोग कहते हैं, माला जपो, बोल-बोलकर जपो, लाभ होगा। मन से जपो, उससे भी अधिक लाभ होगा। यह इतना अन्तर क्यों आया ? बोलने वाला वही है, मंत्र वही है, केवल ध्वनि के प्रकंपन को सूक्ष्म करने के कारण लाभ की मात्रा में इतना अन्तर आ गया, शक्ति का संवर्द्धन हो गया। जो सूक्ष्म में शक्ति थी, उससे कहीं अधिक शक्ति सूक्ष्मतर में हो गई। यह ध्वनि-तरंगों का सिद्धान्त, ध्वनि के प्रकम्पनों का सिद्धान्त जो व्यक्ति समझ लेता है वह भावना, जप और संकल्प—इन तीनों से लाभ उठा सकता है।

एक दिन किसी बहन ने प्रश्न पूछा—'संकल्प-जप कैसे किया जाए ?' मैंने उसका उत्तर भी दिया था। किन्तु इस प्रसंग में जब उस पर विचार करता हूं तो मुझे लगता है कि संकल्प कर लिया, वह लाभप्रद होगा, वह सफल होगा, यह कहना कठिन है। किन्तु उस संकल्प को अन्तर्मन तक पहुंचा दिया और वह भी ध्वनि के सूक्ष्म प्रकम्पनों के द्वारा पहुंचा दिया तो आप सही मानिए कि वह संकल्प अवश्य ही फलप्रद होगा।

संकल्प के सिद्धान्त का एक सूत्र है—संकल्प उस समय करो जब ज्ञान-तन्तु शून्य होने जा रहे हों। आपने आसन का प्रयोग किया। आपने भस्त्रिका का प्रयोग किया। आपने प्राणायाम का प्रयोग किया। दीर्घ-श्वास का प्रयोग किया। करते-करते आपको ऐसा लगे कि स्थूल चेतना लुप्त होती जा रही है, तन्द्रा या अर्धचेतना की स्थिति आ रही है, उस समय आप संकल्प करें। वह संकल्प आपका अन्तर्मन तक पहुंच जाएगा। वह अन्तर्चित्त तक पहुंच जाएगा। उस समय संकल्प की ध्वनि सूक्ष्म होगी। वह ध्वनि अन्तर् में पैठेगी, ठेठ गहराई में पहुंच जाएगी, अवचेतन मन तक पहुंच जाएगी। अन्तर्मन उस बात को पकड़ लेगा तो वह काम जरूर होकर रहेगा।

मैं नहीं चाहता कि काम हो, मन में वैसा संकल्प भी किया। किन्तु जब काम करने का प्रसंग आता है, स्थिति आती है और वह काम कर डालता हूं। यह द्वन्द्व क्यों ? यह दुविधा क्यों ? यह द्वैध क्यों ? मैं नहीं चाहता कि यह काम करूं, और समय आता है, उस समय काम कर डालता हूं। ऐसा क्यों होना चाहिए ? ये मेरे मन के दो टुकड़े क्यों ? यह मन का विभाजन

क्या ? ऐसा होना चाहिए कि जो मैंने नहीं करने का सोचा वह काम फिर नहीं ही किया। ऐसा होना चाहिए। यह विभाजन बहुत स्वाभाविक विभाजन है। यानी मेरा मूल मन जो कहता है कि यह काम नहीं करूं, किन्तु वह बेचारा बहुत कम शक्तिशाली है। उसके हाथ में कोई बहुत बड़ी डोर नहीं है। जीवन की डोर उसके हाथ में नहीं है। वह सोचता है और बाहर की स्थिति को देखता है, सुनता है, समझता है और मन में संकल्प भी करता है कि यह काम अच्छा नहीं है और यह नहीं करना चाहिए, किन्तु जिसके हाथ में शक्ति का सूत्र है, जिसके हाथ में शक्ति का धागा है, जिसके हाथ में हमारे जीवन की पतवार है, वहां तक यह बात नहीं पहुंचती है। या हमारे अन्तर्मन में, हमारे अचेतन मन में यह संकल्प नहीं पहुंचता कि यह काम करणीय नहीं है।

जब स्थूल मन काम करता है, तब तो ठीक है कि मैं काम नहीं करूंगा। जैसे ही स्थूल मन पर अवचेतन मन का धक्का लगता है, बेचारा स्थूल मन दब जाता है। भार को वहन नहीं कर सकता, सहन नहीं कर सकता और घुटने टेक देता है। शान्त हो जाता है। एक आदमी मदिरापायी है। सोचता है कि अब मदिरापान नहीं करूंगा। किन्तु समय आया, शरीर में शिथिलता आयी, संस्कार जागा, स्नायु झंकृत हो गया और वह मदिरापान कर लेता है। वह इस बात को जानता है कि मदिरा पीने का परिणाम कितना बुरा होगा ? मदिरा पीने से शरीर पर क्या प्रभाव पड़ेगा. वह इस बात को जानता है। मदिरा पीने से आर्थिक स्थिति में कितना नुकसान होगा, वह जानता है किन्तु इन सारी बातों को जानते हुए भी, वह अपनी भावना को अवचेतन मन तक नहीं पहुंचा पाता। इसलिए सब कुछ जानते हुए भी मदिरापान उसके लिए विवशता है और वह मदिरा को छोड़ नहीं सकता।

हम अपने प्रत्येक आचरण के लिए इसी प्रकार उत्तरदायी हैं। कोई भी व्यक्ति अगर इस रहस्य को समझ ले, इस मर्म को पकड़ ले कि मुझे अपनी बात अवचेतन मन तक पहुंचा देनी है और वह अवचेतन मन तक अपनी बात पहुंचाने की प्रक्रिया को पकड़ लेता है, समझ लेता है, तो मैं समझता हूं कि उसका यह द्वैध समाप्त हो जाता है। फिर यह द्वैध नहीं रहता कि मैं कुछ सोचूं और हो जाए कुछ। यह द्वैध सदा के लिए समाप्त हो जाता है। किन्तु यह द्वैध तब तक रहेगा जब तक कि स्थूल मन और सूक्ष्म मन में ऐक्य स्थापित नहीं होगा। सामंजस्य नहीं होगा। और उस सामंजस्य की स्थापना में

सूक्ष्म ध्वनि का बहुत बड़ा योग है। हमारे स्थूल मन की बात को सूक्ष्म मन तक पहुंचाने के लिए सबसे सुन्दर और सरल माध्यम है—सूक्ष्म ध्वनि। यदि सूक्ष्म ध्वनि के द्वारा हम अपने स्थूल मन की बात को सूक्ष्म मन तक पहुंचा दें, अवचेतन मन तक पहुंचा दें तो यह हमारी समस्या थोड़े ही दिनों में हल हो जाएगी। यह आप अनुभव करके देख सकते हैं। प्रयोग करके देख सकते हैं। यह कोई प्रदर्शन की बात नहीं है, यह कोई चमत्कार की बात नहीं है, क्योंकि हमारा मन सहज ही चमत्कार की ओर दौड़ता है। किन्तु मैं समझता हूं कि जीवन-परिवर्तन की दिशा में जो अपने अनुभव में चमत्कार आता है, उसका इतना स्थायी मूल्य है, इतना अधिक मूल्य है कि बाहर के प्रदर्शन और चमत्कार उसके सामने फीके पड़ जाते हैं।

हमारे जीवन-परिवर्तन का रहस्य क्या है? यह वाणी और वाणी का सूक्ष्मीकरण। साधना की पद्धति में जप का विकास हुआ, भावना का विकास हुआ और संकल्प का विकास हुआ। ये तीन मुख्य चीजें रही हैं—जप, भावना और संकल्प। इससे आगे मौन का विकास हुआ। हमें पहुंचना मौन तक है जहां कि वाक् का प्रयोग न हो। केवल स्थूल वाक् का नहीं। वर्तमान में मौन की पद्धति को देखता हूं तो मुझे लगता है, कि साधक मौन का मर्म नहीं जानते। उनके हाथ चलते रहते हैं, उनकी आंखें चलती रहती हैं, संकेत द्वारा सारा चलता रहता है और मौन भी चलता रहता है। काम भी न रुके और धर्म भी हो जाए। ये दोनों ऐसे चलते हैं कि कोई कठिनाई नहीं होती। यह कौन-सा मौन है, समझ में नहीं आता।

मौन क्या है? वाक्-संवर क्या है? मैं उलटा ही चलूं। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—'भंते! मौन करने से क्या लाभ होता है? या मौन की निष्पत्ति क्या होती है? मौन का परिणाम क्या होता है?'

भगवान् ने कहा—'वचन-गुप्ति के द्वारा मनुष्य निर्विचारता को प्राप्त होता है। उसके विचार समाप्त हो जाते हैं।'

वचनगुप्ति और निर्विचारता का सम्बन्ध है। कायगुप्ति, वचनगुप्ति और मनोगुप्ति—ये तीन गुप्तियां हैं। हमने वचनगुप्ति कर ली, मौन कर लिया और मन में विकल्पों का सिलसिला चलता रहा। भगवान् ने कहा—वचन-गुप्ति का परिणाम होना चाहिए निर्विचारता। मन में विचार चलता रहा, मन में गुप्ति नहीं हुई, मन की चंचलता चलती रही, और वचन की गुप्ति हो गई, ऐसा होगा नहीं। यह हो नहीं सकता। जहां वचन की गुप्ति है वहां मन

की गुप्ति होनी चाहिए। और जहां मन की गुप्ति है वहां वचन की गुप्ति होनी चाहिए। जहां निर्विचारता है वहां मौन होना चाहिए और जहां मौन है वहां निर्विचारता होनी चाहिए। दो स्थितियां साथ में होनी चाहिए। हम दोनों के टुकड़े नहीं कर सकते। यह हो नहीं सकता। मौन का मतलब क्या है? आप नहीं बोले, इतना ही नहीं है। आप नहीं बोले, इसका भी एक मतलब तो है। आप नहीं बोले, इसका भी एक अर्थ है। आपके नहीं बोलने से, आपके शरीर की जो शक्ति बोलने से क्षीण होती थी, वह रुक गई। इतना लाभ तो अवश्य हुआ। बोलने से जो ताकत खर्च होती है, बोलने से जो श्रम पड़ता है, बोलने की प्रवृत्ति होने से जो शारीरिक स्नायुओं में तनाव आता है, उससे आप अवश्य बच गए। एक लाभ मिला। किन्तु मौन का जो लाभ चाहिए, वह नहीं मिला। और बिलकुल नहीं मिला।

मौन का लाभ क्या है? मौन का लाभ है—विचारों का विसर्जन, विचारों का निरसन। विचारों को निरस्त कर देना, विचारों को समाप्त कर देना, यह है मौन का लाभ। वह तब होगा, जब आपके मन में कोई विकल्प नहीं होगा। आप और गहराई में जाइए। मन में और वाणी में आखिर अन्तर क्या है? कोई बड़ा अन्तर नहीं है। एक ही चीज के दो पहलू हैं—मन और वाणी। दोनों में इतना-सा अन्तर है—मन शब्द के सहारे चलने वाला विकल्प है और वाक् शब्द के सहारे बाहर झलक पड़ने वाला विकल्प। जो विकल्प हमारे अन्दर पल रहा था उसे हम कहते हैं मन। जो विकल्प हमारे मुंह से बाहर निकल पड़ता है उसे हम कहते हैं—वाक्। पहले मन और फिर वाक्। वाक् है मन का उत्तरवर्ती चरण। पहला चरण मन और दूसरा चरण वाक्। मन शब्द के सहारे चलता है। क्या शब्द के बिना मन चलता है? शब्द का सहारा लिए बिना मन नहीं चलता। जितना चिन्तन, जितना विचार, जितना संकल्प और जितना विकल्प, सारा का सारा शब्द के सहारे चलता है। और वाणी भी शब्द के सहारे चलती है। दोनों शब्द के सहारे चलते हैं। शब्द के बिना मन नहीं चलता। शब्द के बिना वाणी नहीं चलती। केवल पहला चरण और दूसरा चरण, दोनों में बस इतना ही अन्तर आता है।

आपके मन में विकल्प चल रहे हैं। आपके मन में संकल्प के बादल उमड़ रहे हैं। विचार और चिंतन का सिलसिला बन्धा हुआ है। और आप सोचते हैं कि मौन हो गया। कभी नहीं हुआ। हो नहीं सकता। मौन का जो परि-

णाम होना चाहिए, मौन का जो अर्थ होना चाहिए, वह मौन नहीं हुआ। मौन तब होगा जब आपका विकल्प समाप्त हो जाएगा। आप शब्द को ग्रहण नहीं करेंगे। शब्द को ग्रहण नहीं करने का मतलब होगा—निर्विचारता। निर्विचारता का अर्थ होगा—मौन। और मौन का साथी होगा मन का संवर। यह मन का संवर और वाणी का संवर, मन की गुप्ति और वचन की गुप्ति, दोनों वास्तव में साथ-साथ चलते हैं।

हमारी बोलने की क्रिया को दो भागों में बांटा गया है—एक बहिर्जल्प और दूसरा है अन्तर्जल्प। बाहर का बोलना और भीतर का बोलना। जो बाहर का बोलना है, वह हमारी वैखरी वाणी है, स्थूल भाषा है। जो भीतर का बोलना है, वह अन्तर्जल्प है। अन्तर्जल्प और बाहिर्जल्प, दोनों जब तक समाप्त नहीं होते, तब तक मौन का अर्थ हमारी समझ में नहीं आता। मौन करें और अन्तर्जल्प को बन्द कर दें, फिर कभी वह अंगुली का संकेत नहीं करेगा। इशारा नहीं करेगा।

मौन या वाक्-संवर का मतलब है वाणी का सर्वथा अप्रयोग। न केवल वाणी का किन्तु शब्दों का भी सर्वथा अप्रयोग। मात्रिका का, ध्वनि का सर्वथा अप्रयोग। वाक्-संवर की अंतिम कक्षा वह होगी, जहां वर्ण का कोई प्रयोग नहीं हो रहा है। बाहर भी नहीं और भीतर भी नहीं। बाहर और भीतर दोनों शब्द-स्थानों में शब्द का सर्वथा अप्रयोग का नाम है वाक्-संवर।

- **ध्वनि को सूक्ष्म कैसे किया जा सकता है ?**

ध्वनि मूलतः सूक्ष्म में चलती है। वह बाहर आती है तब वाक् प्रयत्न के द्वारा उसे स्थूल करना पड़ता है। हमारे अन्तर् में जो प्राणमय ध्वनि हो रही है, वह स्वभावतः सूक्ष्म है। हम जिसे उपांसु जप कहते हैं, जैसे 'ओम, ओम' का जप करते हैं तो होंठों में करते हैं, बाहर नहीं लाते। जब बाहर लाना पड़ता है तब उसे स्थूल बनाना पड़ता है। हमारे शरीर में कुछ यंत्र हैं जो ध्वनि को बाहर फेंकते हैं। वे उसे स्थूल बना देते हैं। किन्तु स्वभावतः वह सूक्ष्म होती है। इसके लिए आप एक प्रयोग करके देखें। आप अपनी जीभ को दन्तमूल में लगाएं। 'अर्हम्-अर्हम' का उच्चारण करें। लगातार एक मिनट तक करते चले जाएं। उच्चारण बराबर होता है, परन्तु न आपको सुनाई देता है और न किसी दूसरे को।

- **एक व्यक्ति बोलता नहीं है किन्तु मन में विचार करता है। क्या उसे मौन का पूरा लाभ नहीं मिलता ?**

हम बोलकर प्रकंपन पैदा करते हैं, और बोले बिना सूक्ष्म ध्वनि पैदा करते हैं। परन्तु नहीं बोलने का पहला लाभ तो यही हुआ कि किसी को बुरी बात नहीं कही। एक बात तो स्पष्ट है। दूसरे में शरीर के अवयवों में जो तनाव आता, जो शक्ति का व्यय होता, वह नहीं हुआ। यह दूसरा लाभ हुआ। और तीसरा लाभ है कि बोलकर जो प्रकम्पन पैदा करता था, वह नहीं करता। ये तीन लाभ तो हैं। किन्तु मौन का जो वास्तविक लाभ होना चाहिए, नहीं बोलने के द्वारा जिस शक्ति के अर्जन का हमारा प्रयत्न और दृष्टिकोण है, वह अर्थ उससे निष्पन्न नहीं होता। जो शांति और जो शक्ति मौन के द्वारा प्राप्त होनी चाहिए, वह निर्विचारिता की स्थिति में ही हो सकती है। विचारयुक्त मौन कुछ लाभप्रद नहीं है, ऐसा तो नहीं है। किन्तु बहुत लाभप्रद होना चाहिए, वह नहीं होता।

- **क्या योग के माध्यम से हृदय और बोलने के केन्द्र को एक कर सकते हैं? क्या छः पर्याप्तियों को पांच पर्याप्तियों में बदल सकते हैं ?**

ऐसा तो सम्भव नहीं है। हमारे शरीर की रचना ऐसी है कि योग के द्वारा उस मूल रचना को नहीं बदला जा सकता, केन्द्रों को नहीं बदला जा सकता। ध्वनि के प्रकोष्ठ मन के प्रकोष्ठों से भिन्न हैं, उन्हें नहीं बदला जा सकता। किन्तु शक्ति में परिवर्तन किया जा सकता है। भाषा और चिन्तन में सामंजस्य स्थापित कर उनकी दूरी को जरूर कम किया जा सकता है। साधारण व्यक्ति के चिंतन में और उसकी भाषा में बहुत दूरी होगी। वह सोचेगा कुछ और बोलेगा कुछ। जो मन में वही वचन में, वही कर्म में, यह है महात्मता। महात्मा कौन होते हैं ? जिसके मन, वाणी और कर्म में एक-रूपता आ जाती है। दुरात्मा या छोटी आत्मा कौन होता है ? जिसके मन में कुछ, वाणी में कुछ और आचरण में कुछ। मैं समझता हूं कि देवता, चक्रवर्ती या विशिष्ट ऋद्धि प्राप्त व्यक्तियों के लिए यह बात आयी है कि उनके मन और भाषा एक होती है। फलित की भाषा में उनके चिंतन और भाषा में कोई द्वैत नहीं होता।

- **क्या भाषा को समाप्त किया जा सकता है ?**

मन शक्तिशाली होगा तो भाषा समाप्त हो जाएगी। इधर भाषा समाप्त होती है और उधर मन की शक्ति बढ़ती जाती है। देवताओं के मन और भाषा एक होने का प्रमुख कारण यह भी है कि उनके मन में इतनी ताकत आ गयी कि वे अपनी बात मन के द्वारा प्रकट कर सकते हैं। और आप सही

मानिए जितना हम मन से बोलते हैं उतना भाषा से नहीं बोलते। मैं यहां बोल रहा हूं। आप भीतर चले जाइए। आंख मूंद कर बैठ जाइए, आप मेरी बात को सोलह आना सुन रहे हैं तो वहां से आठ आना भी नहीं सुन पाएंगे। हम बोलने वाले के सामने बैठते हैं, इसलिए कि बोलने वाले के मन को पकड़ सकें। मन को पकड़ते हैं हाव-भाव के द्वारा, इंगित के द्वारा और आकार के द्वारा। हम मन को पकड़ने का प्रयत्न करते हैं। आदमी जो बोलता है, उससे ज्यादा उसकी आंखें बोलती हैं, उसका मुंह बोलता है, उसकी अंगुलियां बोलती हैं, उसके संकेत बोलते हैं, उसके इशारे बोलते हैं। वे ज्यादा बोलते हैं, और आदमी कम बोलता है। हम बोली को कम पकड़ पाते हैं, संकेत को अधिक पकड़ पाते हैं। मैं किस मुद्रा में हूं, किस प्रकार का भाव प्रदर्शित कर रहा हूं, यदि आप उसे नहीं समझेंगे तो मेरी बात का आठ आना अर्थ भी नहीं समझ पाएंगे। जब मन की ताकत और बढ़ जाती है तब वह अपना भाव सामने वाले पर अपने-आप प्रदर्शित कर देता है।

आप कल्पना करें कि पति-पत्नी हैं। दोनों में से किसी का वियोग हो गया। अब जो पीछे रहा, वह इतनी समग्रता की स्थिति में चला गया यानी उसका मन जो बिखरा रहता था, सब बातों से हटकर एक चिंता में चला गया। मन में ताकत आयी। क्योंकि उसका बिखराव समाप्त हो गया। उस समय उसके मन में जो चिंता है, कहने की जरूरत नहीं की नया आदमी भी आएगा और उस व्यक्ति को देखेगा तो उसकी आकृति को देखते ही समझ जाएगा कि यह व्यक्ति किस स्थिति में है? क्या अनुभव कर रहा है? मन जब शक्तिशाली बनता है, भाषा अपने-आप समाप्त हो जाती है। भाषा की जरूरत तब होती है, जबकि हमारे मन की ताकत कम होती है। देवता की अपनी कोई भाषा नहीं होती। जैन लोगों ने कहा है कि देवता कि अर्धमागधी भाषा होती है। वैदिकों में कहा कि देवता की भाषा संस्कृत भाषा है। अगर कोई इंग्लैण्ड का व्यक्ति होगा तो शायद वह कहेगा कि देवता की भाषा अंग्रेजी होती है। देवता की अपनी कोई भाषा नहीं होती। उनकी ताकत इतनी बढ़ जाती है कि अपनी अन्तर्शक्ति से भी अपने विचारों को प्रकट कर सकते हैं। वे आलम्बन ले सकते हैं परन्तु उन्हें कोई भाषा का बहुत बड़ा सहारा लेना पड़ता है, ऐसी बात नहीं है। केवली के वाक्द्रव्य होता है। मन द्रव्य होता है। किन्तु भाव-मन की जरूरत नहीं होती। दूसरी बात यह है कि भाषा को जो दे रहा है, वह मन दे रहा है। मन में जो बात आयी, वह

प्रेषित करेगा भाषा के पास, और भाषा उसे बाहर फेंक देगी। केवली के वह भावमन तो है नहीं। मन समाप्त है। अब केवल ज्ञान है। केवलज्ञान का काम भाषा को देना नहीं है। यह श्रुतज्ञान का काम है। इसलिए सारा प्रश्न जटिल बन जाता है। फिर भी हम इतना अवश्य मान लें कि चाहे केवली के लिए और चाहे सामान्य व्यक्ति के लिए, जैसे मन की शक्ति बढ़ती जाती है, भाषा वैसे ही मुक्त और कम होती चली जाती है।

• शब्द के माध्यम को छोड़कर दूसरे माध्यम को विकसित करने की क्या अपेक्षा है ?

बुद्ध जंगल में बैठे थे। उनके हाथ में कुछ पत्तियां थीं। बुद्ध ने पूछा, आर्यो ! बताओ कि मेरे हाथ में पत्तियां ज्यादा हैं या इस जंगल की पत्तियां ज्यादा हैं ?' शिष्यों ने कहा, 'भंते ! यह तो स्पष्ट है। आपके हाथ में दस, बीस, पचास पत्तियां होंगी। और जंगल में एक-एक पेड़ पर लाखों-करोड़ों पत्तियां होंगी।' बुद्ध ने कहा, 'देखो ! मैंने तुम्हें धर्म बताया है, जो बात कही है, वह इतनी-सी बात है। शेष सारा जंगल की पत्तियों के समान है। वह भाषा में आ नहीं सकता।'

अनेकान्त के अनुसार एक शब्द में एक वस्तु का अनन्तवां हिस्सा कहा जाता है। मैं कहता हूं लाल। यह लाल शब्द लाल रंग का प्रतिनिधित्व करता है, उसका वाचक बनता है, अर्थ होता है। किन्तु लाल रंग के अनन्त धर्म हैं। उनमें से अनन्तवें हिस्से के एक भाग का प्रतिपादन करता है। जो व्यक्ति तत्त्वज्ञानी होता है और वह देखता है कि शब्द के द्वारा जो कहना चाहता हूं, वह कुछ भी नहीं कह पाता; इसलिए वह शब्द के माध्यम को छोड़कर दूसरे माध्यम को विकसित करने लग जाता है।

अभी मौन वक्तव्य की बात चल रही थी। यह असम्भव बात नहीं है। हम लोग ऐसा करते भी हैं किंतु जानते नहीं और मैं समझता हूं कि बहुत सारे व्यक्ति अपनी मौन भाषा में दूसरों को बहुत कुछ समझा देते हैं। और जिन दो व्यक्तियों का परस्पर गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, वे मौन की भाषा को बहुत अच्छी तरह समझ भी लेते हैं। अथवा जिन दो व्यक्तियों की शक्ति का विकास हो जाता है, वे भी मौन की भाषा को समझ लेते हैं। जैन आगमों का एक प्रसंग है कि अनुत्तर विमान के देवता नीचे नहीं आते, मनुष्यलोक में नहीं आते। जब उनके मन में कोई जिज्ञासा उत्पन्न होती है, तब वे वहीं से अपने विचारों को प्रेषित करते हैं। वे विचार मनुष्यलोक में पहुंचते हैं। यहां जो व्यक्ति सर्वज्ञ होता है, विशिष्ट ज्ञानी होता है, वह उन विचारों को पकड़ लेता है। पकड़कर उसका उत्तर दे देता है, बिना बोले। केवल मानसिक उत्तर देता है, मन में उसका उत्तर दे देता है। और वह उत्तर उन तक पहुंच जाता है। यह है मौन सम्प्रेषण, मौन वचन। बोलने की कोई जरूरत नहीं। इसका विकास आज सामान्य स्तर पर भी हो रहा है। टेलीपैथी के काफी प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं। और वे बहुत सफल भी हुए हैं। योग के क्षेत्र में भी ऐसे प्रयोग होते हैं। और हमारे व्यावहारिक जीवन में भी एसे बहुत से प्रयोग होते हैं। मेरे मन में कोई उत्कट बात उत्पन्न हो गयी। और मैं जिस सम्बद्ध व्यक्ति को कहना चाहता हूं, वह ग्रहणशील है या मेरे साथ निकट का सम्बन्ध रखता है तो बिना कहे मेरी बात को पकड़ लेगा। हमने पचासों बार ऐसा देखा। एक व्यक्ति के मन की बात दूसरा व्यक्ति पकड़ लेता है। और एक क्षण में एक ही शब्दावली दोनों व्यक्ति बोलने लग जाते हैं। उधर वह कहता है और इधर वह कहता है। और मैं समझता हूं कि ऐसी घटना तो अनेक लोगों के जीवन में घटित होती है। यह विचार-संप्रेषण, टेलीपैथी का प्रयोग, यह मौन भाषा, इसे समझने में कोई कठिनाई नहीं है। थोड़ी-सी पद्धति से इसका प्रयोग करें तो और सुविधापूर्वक इस बात को पकड़ सकते हैं।

मौन की भाषा सबसे समर्थ और अच्छी भाषा होती है। उसमें किसी संदेह के लिए अवकाश नहीं रहता। हमारे शब्दों में, बोलने में तो बहुत अवकाश रहता है। मैं कुछ कहना चाहता हूं और सामने वाला व्यक्ति कुछ पकड़ लेता है। बड़ी कठिनाइयां भी होती हैं। बातचीत पकड़ने में तथा पत्रों के आदान-प्रदान में भी काफी कठिनाइयां होती हैं। एक-दूसरे की बात को दूर बैठा व्यक्ति ठीक से पकड़ नहीं पाता। किंतु यह अन्तःसंप्रेषण या मौन के द्वारा कही जाने वाली बात है, उसे पकड़ने में कोई विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं होता।

हम मौन भाषा का विकास करें, यह अपेक्षित है। और इसीलिए मौन अपेक्षित है। कल मैंने कहा था कि वाक्-संवर का क्या महत्त्व है? वाक्-संवर का क्या अर्थ है और वह कैसे किया जा सकता है? अब उसके नीचे की जो भूमिकाएं हैं अर्थात् वाक्-संवर का संवर तो उनमें है किन्तु पूरा संवर नहीं है, उन भूमिकाओं के बारे में भी कुछ बातें मैं आप लोगों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूं। स्वाध्याय या संकल्प आदि सारे भाषा के प्रयोग हैं। कल जैसे मैंने चर्चा की थी कि स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम—ये भाषा के उच्चारण के स्तर होते हैं। एक स्थूल उच्चारण करते हैं, एक सूक्ष्म उच्चारण करते हैं, एक सूक्ष्मतर करते हैं और एक सूक्ष्मतम करते हैं। उन उच्चारणों का यौगिक दृष्टि से क्या मूल्य है और व्यावहारिक दृष्टि से क्या मूल्य है—इस पर हम थोड़ा-सा विचार करें। एक व्यक्ति द्रुत उच्चारण करता है। एक व्यक्ति मध्यम उच्चारण करता है। एक व्यक्ति विलंबित उच्चारण करता है। उच्चारण करने में भी परिवर्तन आ जाता है। यद्यपि सूक्ष्म तक वह नहीं पहुंचता। किंतु उच्चारण करने की प्रक्रिया में भी अन्तर आ जाता है। योग के अनुसार हमारी सुषुम्ना ब्रह्म-रन्ध्र से सम्बद्ध है। वहां से एक रस का स्राव होता है। वह स्राव नीचे तक जाता है। योग का सिद्धान्त है कि जो व्यक्ति द्रुत उच्चारण करता है, तेजी से उच्चारण करता है, उस समय सुषुम्ना से टपकने वाले रस के नौ बिंदु स्रवित होते हैं। जो व्यक्ति मध्यम उच्चारण करता है, उसके बारह बिंदुओं का स्राव होता है और जो विलंबित उच्चारण करता है, उसके सोलह बिंदुओं का स्राव होता है। इस प्रकार स्राव की मात्रा बढ़ जाती है। वह अमृत का स्राव कहलाता है। वह स्राव जितना अधिक होता है, उतना ही लाभदायी माना जाता है।

नौ बिन्दु, बारह बिंदु और सोलह बिन्दु—इस प्रकार स्राव की मात्रा

बढ़ती है। इसका मतलब यह हुआ कि हम बहुत तेजी से न बोलें, बहुत जल्दीबाजी में न बोलें। जल्दबाजी में बोलने की अपेक्षा, विलंबित बोलते हैं और एक लम्बी मात्रा के साथ बोलते हैं तो उसकी शक्ति में परिवर्तन आ जाता है। आप लोग 'अर्हम्' का जप करते हैं। केवल उच्चारण ही नहीं, उसकी एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। उच्चारण किस प्रकार होना चाहिए? मंत्र-शास्त्रीय दृष्टि से या ध्वनि-शास्त्रीय दृष्टि से 'अर्हम'—के अ, र्ह, म्, बिंदु और नाद—ये पांच विभाग होते हैं। 'अ' का उच्चारण होना चाहिए ह्रस्व, 'र्ह' का उच्चारण होना चाहिए दीर्घ और 'म्' का उच्चारण होना चाहिए द्रुत। यहां तक हमारी ध्वनि स्थूल रहती है। अब 'म्' के बाद फिर हम लोटते हैं—प्रत्यावर्तन करते हैं और बिन्दु तक आते-आते हम सूक्ष्म में आ जाते हैं। और नाद तक पहुंचते-पहुंचते हम सूक्ष्मतम ध्वनि में चले जाते हैं। इस प्रकार उच्चारण ह्रस्व मात्रा से शुरू हुआ, वह अन्त में जहां समाप्त होता है, अति सूक्ष्म ध्वनि में बदल जाता है। हमारा उच्चारण स्थूल से सूक्ष्म होता चला जाता है। स्थूल में उतनी शक्ति नहीं है ग्रन्थि-भेदन की, जितनी शक्ति सूक्ष्म में है। उच्चारण जैसे सूक्ष्म होगा, वैसे ही उसमें शक्ति बढ़ती चली जाएगी और वह बहुत ही सूक्ष्मता से काम करेगा।

स्थूल ध्वनि व्यावहारिक दृष्टि से भी हमें प्रिय नहीं होती। आजकल ध्वनि पर बहुत अनुसन्धान हो रहे हैं। कोलाहल पर भी बहुत अनुसंधान हो रहे हैं। यह इतना जो शोर-शराबा, वाहनों का कोलाहल, वायुयानों, वाहनों तथा फैक्टरियों का शोर बढ़ गया है, शहर में रहने वाले लोग बिलकुल व्याकुल हो रहें हैं। हिन्दुस्तानियों को आज भी उतना अनुभव नहीं हो रहा है। विकसित कहलाने वाले राष्ट्रों के देखिए, उनकी आज क्या स्थिति है? क्या दशा है?

डॉ० ग्राहमबल ने ध्वनि का अनुसंधान किया। इसीलिए ध्वनि की अनुमापन पद्धति का नाम ही रख दिया—'डेसीबल'। मैं आपके सामने थोड़े से आंकड़े रखता हूं। आप देखें कि वे कितने आश्चर्यकारी हैं।

'डेसीबल' शोर की इकाई है। शोर सोनोमीटर या ध्वनिमापी से नापा जाता है। पत्तियों की मरमराहट होती है, उसका माप है दस डेसीबल। कानाफूसी का अनुमापन बीस डेसीबल होता है। घड़ी की टिक-टिक का माप है तीस डेसीबल। टाइप की खड़खड़ाहट का माप पचास डेसीबल होता है। जेट विमानों का होता है, एक सौ पचास डेसीबल।

अब इस डेसीबल के आधार पर अपनी ओर ध्यान दीजिए। बीस डेसीबल तक मनुष्य के लिए कोई कठिनाई पैदा नहीं होती। उसकी नींद में कोई विघ्न या बाधा नहीं होती। घड़ी टिक-टिक करती हुई चल रही है। आपकी नींद में सामान्यता कोई बाधा नहीं आएगी। आपका काम चल जाएगा। आपको नींद आ जाएगी। कोई फुसफुसा रहा है तब भी आपकी नींद में कोई बाधा नहीं आएगी। किन्तु पचास डेसीबल के बाद ध्वनि हमें अप्रिय लगने लगती है और इसका हमारे शरीर-तन्त्र पर प्रभाव पड़ने लग जाता है। हमारे कामों में बाधा उपस्थित हो जाती है। आज जहां वाहनों की खड़-खड़ाहट, फैक्टरियों की आवाज, या लड़ाई के दिनों में जब दस-दस, बीस-बीस जेट एक साथ गुजरते हैं. उस समय मनुष्य बिलकुल बहरा जैसा हो जाता है। आज कितना कोलाहल है और उस कोलाहल का प्रभाव क्या होता है? पचास डेसीबल से अधिक ध्वनि हमारे कानों में से निकलती है तो वह श्रवण-शक्ति पर प्रभाव डालती है। बहुत सारे लोग बधिर बन जाते हैं। कारखानों में काम करने वाले बहुत जल्दी बधिर बन जाते हैं। हृदय की बीमारी मस्तिष्क की शक्ति का ह्रास, पागलपन—ये सारे कोलाहल के कारण बनते हैं।

इस दृष्टि से हम सोचें तो दुनिया को कोलाहल-मुक्त बनाने की दिशा में फिर से हमारा प्रस्थान होना चाहिए। हमारी यात्रा उलटी चलनी चाहिए, मौन की दिशा में। बोलते-बोलते मनुष्य ने ऐसी ध्वनियों का आविष्कार कर लिया, कि वे आज मनुष्य के लिए स्वयं बहुत बड़ी घातक बन रही हैं। बहुत सारे लोग शान्त वातावरण में रहना चाहते हैं परन्तु उनको ऐसा अवसर ही नहीं मिलता। दिल्ली में अध्यात्म-साधना केन्द्र बना, और दिल्ली शहर से बाहर बना ताकि एकान्त रहे। किन्तु कठिनाई हो गयी कि हवाई-अड्डे की रेंज में आ गया। जब हवाई जहाज गुजरते हैं तो शहर से जो बचाव किया गया था, उसकी सारी कसर निकाल देते हैं। एकान्त भंग और मौन भंग हो जाता है। मैं समझता हूं कि मौन का अर्थ था—एकान्त। पुराने जमाने में मौन का अर्थ न बोलना तो था ही, किन्तु उसके साथ एकान्त भी था। पूज्यपाद एक बहुत बड़े आचार्य हुए हैं। उन्होंने लिखा—

'वाक् क्यों होती है? हमें बोलने की जरूरत क्यों होती है? दो कारण से जरूरत होती है। एक तो अपने मानसिक विकल्पों के कारण होती है। मानसिक चंचलता, मानसिक विकल्प इतने तीव्र हो जाते हैं कि हम अपनी

बात को कहे बिना रह नहीं सकते। तब उसे बाहर फेंकने की जरूरत हो जाती है। आप यह मत मानिए कि दूसरा होने पर ही कोई बोलता है। बहुत बार ऐसा भी होता है कि मानसिक आवेग की स्थिति में व्यक्ति अपने आप ही गुनगुनाने लग जाता है और अपनी भावना को बाहर फेंकने लग जाता है। यह होता है—स्वगत वार्तालाप। दूसरी बात का जो प्रसंग आता है, वह है 'जनेभ्यो वाक्। यानी जन-सम्पर्क। जन-सम्पर्क में वाक् का प्रयोग उपस्थित होता है। सामने कोई व्यक्ति आया, उससे बात करने की जरूरत होती है। जरूरत नहीं होती तब भी शिष्टाचार निभाने की दृष्टि से कुछ न कुछ बोलना पड़ता है। कोई व्यक्ति सामने आए और वह बात न करे तो वह समझता है कि मैं तो गया और उसने मुझसे कुछ पूछा ही नहीं। वहां व्यवहार का भंग होता है, लोप होता है। इस प्रकार जो व्यवहार की भूमिका पर जीने वाले लोग होते हैं, वे इस बात को पसन्द नहीं करते। इसलिए उन्हें बोलना ही पड़ता है। मैं सोचता हूं कि बहुत सारे धर्मों में जो मूर्ति का विकास हुआ, उससे कठिनाई मिट गई। लोगों का संस्कार पड़ गया कि जो मूर्ति बोलती नहीं है, हम पूजा कर आते हैं, वन्दना कर आते हैं, आरती उतार आते हैं, किन्तु मान और अपमान का प्रश्न नहीं। साधुओं के लिए यह बहुत बड़ी कठिनाई है। उनके पास लोग आएं, तो वे मूर्ति की तरह पूजा करके नहीं चले जाते, वन्दना करके नहीं चले जाते, क्योंकि वे जानते हैं कि यह जीवन्त प्राणी है। इसलिए वे यह भी अपेक्षा रखते हैं कि सन्त हमसे बोलें। हम वंदना करें, उसे स्वीकारें, हमारी ओर ध्यान दें, हमारी ओर देखें—ये सारी अपेक्षाएं रखते हैं। और ये अपेक्षाएं अगर पूरी नहीं होती हैं तो लोग कहते हैं—'क्या बताऊं, साहब! हम गए थे, महाराज ने हमारी ओर देखा ही नहीं, बोले ही नहीं। फिर हम क्यों जाएं?' यह व्यवहार की कठिनाई है, इसलिए बोलना ही पड़ता है। आचार्य ने ठीक कहा—'जनेभ्यो वाक्।' जहां जन-सम्पर्क होगा, वहां वाक् अवश्य होगी। वाक् की अनिवार्यता है, वाक् का प्रयोग करना ही होगा। आप जन-संपर्क भी करना चाहें और वाक् का संयम भी रखना चाहें, ये दोनों बातें साथ में नहीं चल सकतीं। वाक् का संयम करना है तो एकान्तवास में रहना होगा। इसलिए मैं समझता हूं कि मौन का परोक्ष अर्थ हो जाता है, एकान्तवास। एकान्त में रहना, जन-सम्पर्क से दूर रहना, जनता से दूर रहना, परन्तु इतना रहने पर भी कोलाहल से दूर रहना, आज की दुनिया में सम्भव नहीं लगता।

इस कोलाहल की आकुलता के वातावरण में मौन का महत्त्व और बढ़ जाता है। सूक्ष्म का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर लौटने का मूल्य और अधिक बढ़ जाता है। दुनिया में यह कैसे हो, इसका हम नियन्त्रण नहीं कर सकते। किन्तु अपने लिए नियंत्रण कर सकते हैं। स्थूल से सूक्ष्म ध्वनि की ओर जाने का अभ्यास हमारा बढ़े। हम यह प्रयत्न करें कि स्थूल से सूक्ष्म ध्वनि की ओर जाएं।

आप जप करते हैं, संकल्प करते हैं। यदि हमारा जप, हमारा संकल्प स्थूल वाणी में होगा तो उतना लाभदायी नहीं होगा, उतना शक्तिशाली नहीं होगा और उससे हम लाभान्वित नहीं होंगे। यदि हमारा जप, हमारा संकल्प सूक्ष्म वाणी में होगा तो वह अधिक शक्तिशाली बनेगा। हमें सूक्ष्म का अभ्यास करना है। जैसे आप 'अर्हम्' का उच्चारण नाभि से शुरू कर पांच रूपों में ले जाते हैं—नाभि, हृदय, तालु, बिन्दु और अर्धचन्द्र—ऊपर तक ले जाते हैं। इस उच्चारण से क्या प्रतिक्रिया होती है, उस पर भी आप ध्यान दें। योग ने मानसिक ग्रन्थियों के भेदन की पद्धति का विकास किया था। जब हमारा उच्चारण सूक्ष्म हो जाता है, उस समय ग्रंथियों का भेदन शुरू हो जाता है। आज्ञाचक्र तक पहुंचते-पहुंचते ध्वनि बहुत सूक्ष्म हो जाती है, सूक्ष्मतम हो जाती है और उन ग्रंथियों का भेदन भी शुरू हो जाता है। हमारी ग्रन्थियां जो सुलझती नहीं हैं, वे ग्रन्थियां इन सूक्ष्म उच्चारणों के द्वारा सुलझ जाती हैं। जैन आचार्यों ने इस पर विचार किया। उन्होंने कहा—'सम्यक्दृष्टि, विरति संयम और अप्रमाद—ये सारी स्थितियां विभिन्न उच्चारणों से होने वाले ग्रन्थि-भेद के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। ग्रन्थियों का भेदन होता है और स्थितियां विकसित हो जाती हैं। सम्यक्त्व की दृष्टि विकसित हो जाती है, व्रत की दृष्टि विकसित हो जाती है और अप्रमाद की दृष्टि विकसित हो जाती है। सूक्ष्म उच्चारण करने की जो एक विधि है, प्रक्रिया है, उसका विकास करते चले जाएं, तो हमारी दिशा होगी वाक्-संवर की दिशा। वाक्-संवर की दिशा का मतलब है निर्विकल्पता की दिशा, विचार-शून्यता की दिशा। निर्विचार की दिशा में प्रयाण करने से पहले विचार का भी सहारा लेना पड़ता है। आप सही मानिए कि विचार ही हमें निर्विचार तक पहुंचाता है। कोई भी विचारशून्य व्यक्ति निर्विचार की स्थिति में नहीं पहुंच सकता। लगता कुछ अटपटा है कि विचार निर्विचारता की स्थिति में कैसे पहुंच सकता है? पहले तो हमें कोई-न-कोई विचार लेना ही पड़ता है।

ध्यान सम्प्रदाय में एक साधक हुआ है। उसका नाम था 'मोकुराई'। वह केनिन मंदिर का अधिकारी था। उसका उपनाम था 'मौन गर्जन'। उसका एक छोटा शिष्य था। बहुत छोटा था, केवल बारह वर्ष का। नाम था—टोयो। वह बहुत प्रिय था। बार-बार आता था। एक दिन उसने गुरु से कहा—आप इतने लोगों को शिक्षा देते हैं, पढ़ाते हैं, ध्यान की पद्धति बताते हैं, कृपा कर मुझे भी बताइये। मेरे मन में भी अब जिज्ञासा पैदा हो गई है।' गुरु ने थोड़ा ध्यान दिया और कहा—'जाओ, एक हाथ का शब्द सुनो और सुनकर मुझे बताओ। एक हाथ का शब्द! एक हथेली का शब्द! उसने कहा—'ठीक है।' वह चल पड़ा। कुछ दूर चलने के बाद सोचा कि एक हाथ से शब्द कैसे होगा? शब्द के लिए कोई-न-कोई संघर्ष चाहिए। एक हाथ से शब्द कैसे होगा? शब्द के लिए दो का संघर्षण चाहिए। समस्या में उलझ गया और उसकी गहराई में चलना शुरू हो गया। कहते हैं—गहराई में जाओ, गहराई में जाओ, वह गहराई में उतरने लगा। सोचा, समझ में नहीं आया। बैठा था एक दिन वृक्ष के नीचे। शब्द हो रहा था। उसने सोचा, कोई दूसरा तो है नहीं, केवल पेड़ शब्द कर रहा है। दौड़ता हुआ अपने गुरु के पास आया और बोला—'मैंने एक हाथ का शब्द सुन लिया है।' गुरु ने कहा—'किसका सुना? कैसा है वह शब्द?' उसने कहा—'पेड़ का शब्द सुनकर आ रहा हूं।' नहीं, गलत है। वापस जाओ!' गुरु ने कहा। फिर जंगलों में घूमता रहा, भटकता रहा, ध्यान करता रहा, और सोचता रहा। एक दिन झरने के पास बैठा था। उसका पानी गिर रहा था। गिरते-गिरते वेग बढ़ा और शब्द तेजी के साथ होने लगा। उसने सोचा—समस्या का समाधान हो गया। वह दौड़कर आया और गुरु से बोला—'आज मेरी समस्या सुलझ गई।' गुरु ने पूछा—'क्या हुआ?' उसने कहा—'मैंने एक हाथ का शब्द सुन लिया।' गुरु ने पूछा—'कैसे सुना?' उसने कहा—'झरना झर रहा था, शब्द हो रहा था, और दूसरा कोई नहीं था।' गुरु ने कहा—'जाओ, अभी नहीं पहुंच पाये हो। फिर जाओ।' बेचारा फिर चला गया। दसों बार भटकता रहा, गुरु को निवेदन करता रहा परन्तु गुरु ने कोई समाधान स्वीकार नहीं किया। फिर उसने सोचा कि यह एक हाथ का शब्द आखिर बला क्या है। सोचता-सोचता इतनी गहराई में पहुंच गया, इतनी गहराई में चला गया, जहां शब्द समाप्त हो जाते हैं। दौड़ता हुआ आचार्य के पास आया और बोला—'आज मैंने एक हाथ का शब्द सुन लिया।' गुरु

ने पूछा—'क्या सुना ?' उसने कहा—'मैं ध्यान करते-करते शब्दातीत स्थिति में पहुंच गया ।' गुरु ने कहा—'चलो, काम हो गया ।'

शब्दातीत अवस्था में पहुंच जाना, विचारातीत अवस्था में पहुंच जाना, विकल्पातीत अवस्था में पहुंच जाना, निर्विकार की स्थिति में पहुंच जाना, यह है मौन की स्थिति, यह है वाक्-संवर। किन्तु वह पहुंचा विचार के द्वारा। एक विचार लेना होगा आपको, एक संकल्प लेना होगा आपको ।

बौद्ध साधकों में यह पद्धति रही है—कोई भी शिष्य साधक के पास जाता और कुछ पूछता, तो गुरु कोई न कोई समस्या या पहेली उसे दे देते । चीनी भाषा में पहेली को 'कुंग-एन' और जापानी भाषा में 'कोन' कहते हैं। उस पहेली को पहले सुलझाना पड़ता । मैं समझता हूं कि हमारे यहां जो यह धर्म्य-ध्यान की पद्धति है, कोई भिन्न पद्धति नहीं है । उसका भी यही रूप रहा है । किन्तु वह आज थोड़ा विस्मृत हो चुका है । एक प्रश्न को लेना, उस पर चिंतन शुरू करना और चिन्तन करते-करते अचिन्तन की भूमिका तक पहुंच जाना और सूक्ष्म के साथ साक्षात् सम्पर्क स्थापित कर लेना ।

तीन चीजें होती हैं—सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट । इन तीनों से से किसी एक पर धारणा करते हैं, उसके साथ सम्पर्क हो जाता है । यह है विचार से निर्विचार की ओर जाने की प्रक्रिया । यह है शब्द से शब्दातीत स्थिति में पहुंचने की प्रक्रिया ।

शब्द के सहारे अशब्द की स्थिति तक पहुंचना है । इसमें एक बात पर और ध्यान दें । शब्दों का चुनाव भी हमारा बहुत उपयुक्त होना चाहिए । यह 'अर्हम्' का चुनाव क्यों किया गया ? जप के लिए अमुक-अमुक शब्दों का चुनाव क्यों किया गया ? शब्दों का भी बहुत महत्त्व है । हम जिन शब्दों का उच्चारण करते हैं, वे शब्द हमारे आस-पास में प्रकम्पन उत्पन्न करते हैं जिस प्रकार की ध्वनि-तरंगें पैदा करते हैं उनका हमारे पर बहुत बड़ा असर होता है । हमने पूना के डक्कन कॉलेज में देखा, बंगलौर के म्यूज़ियम में देखा कि ध्वनि का उच्चारण होते ही किस प्रकार के प्रकम्पन होते हैं । आप आश्चर्य करेंगे देखकर कि जैसे ही हम उच्चारण करते हैं हमारे शब्द विद्युत् की चमक की रेखा बनाते हुए इस प्रकार दौड़ने लग जाते हैं कि जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते । अतिशय चपल गति से दौड़ने लग जाते हैं । हम किस प्रकार प्रकंपन अपने आस-पास उत्पन्न करते हैं और किस प्रकार का उच्चारण किस प्रकार का प्रकंपन पैदा करता है, किस प्रकार की ध्वनि और तरंगें

उत्पन्न करता हैं इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। मंत्रशास्त्र में शब्दों पर विचार किया गया। 'अ' से लेकर 'ह' तक की वर्णमाला में, इस मातृका में कुछ अक्षर होते हैं शुभ, कुछ होते हैं अशुभ, और कुछ होते हैं मिश्र। आप लोगों ने साहित्य के क्षेत्र में दग्धाक्षर की चर्चा सुनी होगी। दग्धाक्षर ऐसे होते हैं कि उनका योग पड़ जाने पर कविता करने वाले का अनिष्ट हो जाता है। हमारे यहां एक घटना प्रचलित है। एक साधु नागौर में था। उसने एक कोई कविता बनाई। कोई व्याख्यान बनाया। व्याख्यान बनाते समय ध्यान नहीं रहा और दग्धाक्षर का प्रयोग हो गया। उसने लिखा—यह रचना लिखी 'नागौर' में। अन्त में आ गया 'नागो रमे'। इसके दो अर्थ हो जाते हैं। एक तो यह कि नागोर शहर में और दूसरा अर्थ यह कि नागो रमे—यानी नग्न होकर रमण कर रहा है। कहते हैं कि दग्धाक्षर का ऐसा योग हुआ कि थोड़े ही समय में नागोर में रहते-रहते मुनि पागल हो गया और वस्त्र-विहीन होकर नग्न ही रमण करने लगा।

पहले तो शब्द के प्रभाव के बारे में कुछ संदेह भी हो सकता था परन्तु अब संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है। अब ध्वनि-तरंगों का व्यक्ति के मन पर, व्यक्ति के विचारों पर, और उसके शरीर पर असर होता है; यह सिद्धांत विज्ञान के द्वारा भी प्रस्थापित हो चुका है। तब हम क्यों न स्वीकार करें कि उस संघटना में इस प्रकार के कोई विचार आ जाते हैं और मन पर उनका असर हो जाता है। कालूगणी बहुत अच्छी कविता बना सकते थे परन्तु बनाते नहीं थे। प्राय: बहुत कम बनाते थे। बहुत सारे व्यक्ति प्रार्थना करते कि आप कविता क्यों नहीं बनाते हैं? वे कहते कि यह बहुत कठिन काम है, कहीं दग्धाक्षर आ जाए तो ठीक नहीं रहेगा। इस विचार से उन्होंने कविता नहीं बनाई। दूसरों को प्रेरित करते, तब भी कहते कि दग्धाक्षर का पूरा-पूरा ध्यान रखना।

वर्ण-विन्यास का अवश्य ही एक परिणाम होता है। एक प्रकार की शब्दावली इस प्रकार आती है कि सुनने वाले पर भी उसका चमत्कार होता है और स्वयं पर भी एक असर होता है। एक शब्दावली का विन्यास इस प्रकार होता है कि शायद सुनने वाले को भी प्रिय नहीं लगती और खुद को भी पूरा संतोष नहीं होता। लिखने वालों के लिए तो बहुत बड़ी कठिनाई है, बहुत बड़ा प्रश्न है।

एक पद्धति रही है—ज्योतिष की। ज्योतिषी कई पद्धतियों से प्रश्न का

जवाब देते थे। एक पूरी पद्धति मातृका के आधार पर विकसित हुई। पूछने वाला आया, उत्तर देने वाला सामने बैठा है। वह प्रश्नकर्त्ता से कहता है कि प्रश्न करो। प्रश्नकर्त्ता ने अपना प्रश्न लिख कर दे दिया। उत्तर देने वाला देखता है कि किस वर्ण से प्रश्न शुरू हुआ और किस वर्ण से दूरा हो रहा है, इसके मध्य में जितने वर्ण आए हैं उन वर्णों में शुभ वर्ण कितने हैं और अशुभ वर्ण कितने हैं—ये चार बातें हैं। आदि का वर्ण, अंत का वर्ण और मध्य के वर्णों में किनकी बहुलता है इसके आधार पर वह सारे प्रश्नों का उत्तर देता है। यह विद्या यहां रही है और इसका प्रयोग काफी अंशों में होता रहा। वर्णों का योग कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। इस श्लोक में इस बात की सूचना मिलती है—

अमंत्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषो नास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः॥

'कोई भी अक्षर ऐसा नहीं है कि जो मंत्र न हो। हर अक्षर में मंत्र की शक्ति है। ऐसा कोई भी मूल नहीं है, जड़ नहीं है जो कि दवा न हो। ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जो योग्य न हो। योजना करने वाला दुर्लभ है। संघटना करने वाला दुर्लभ है। उनका योग मिलाने वाला दुर्लभ है।'

एक व्यक्ति ने पांच पंक्तियां इस प्रकार योग मिलाकर लिख दीं कि पढ़ने वाले का मन प्रफुल्ल हो उठता है। जो व्यक्ति योग करने में कुशल नहीं है, पांच पन्ने भी भर दिए, पढ़ने वाले पर कोई असर नहीं होगा। यह साहित्य क्या है? यह काव्य क्या है? काव्य में और क्या अन्तर होता है? एक कालिदास है संस्कृत का कवि और दूसरा अन्य कोई साधारण संस्कृत कवि है। क्या अन्तर है कालिदास में और दूसरे में? अन्तर और कुछ नहीं है केवल वर्णों के विन्यास का अन्तर है। किसमें कितनी क्षमता है? कौन शब्दों की किस प्रकार की योजना करने में समर्थ है? जो शब्दों की योजना करने में समर्थ होता है, वह उनमें प्राण भर देता है। जो प्राण भरने में निपुण नहीं होता, वह प्राण भरने के स्थान पर कभी-कभी प्राण हर भी लेता है। शब्द के विषय पर हमें गहराई से ध्यान देना होगा। शब्द रचना, शब्द की पद्धति और शब्द का सूक्ष्मीकरण, यह सारा जप और संकल्प का विषय है। जप और संकल्प की प्रक्रिया को ठीक समझ लेते हैं तो मौन की दिशा में प्रयाण हो जाता है और उससे हम लाभ उठा सकते हैं।

• विचार-शून्यता पहले चरण में ही प्राप्त हो जाती है या उसके लिए लम्बी साधना अपेक्षित है ?

यह कोई छलांग नहीं है कि हम सीधे विचार-शून्यता तक पहुंच जाएं। उससे पहले हमें बहुत कुछ करना होता है। एक आदमी बहुत भारी-भरकम है। डॉक्टर ने सलाह दी कि तुम्हें चर्बी घटानी है। ऐसा तो नहीं कि उसने आज ही खाना कम किया और शरीर की चर्बी घट गयी। या खाना बन्द कर दिया और घट गयी। खाना बन्द नहीं कर सकता। बन्द कर दे तो समूचा ही घट जाए। एक प्रक्रिया होती है कि खाना कुछ कम किया। कभी कुछ खाया, फिर कम किया। इस प्रक्रिया से चलते-चलते तो चर्बी घटाने की स्थिति तक पहुंच सकता है किन्तु छलांग भरकर नहीं पहुंच सकता। निर्विचारता तक पहुंचना अच्छी बात है। यह लक्ष्य है हमारा, किन्तु हम विचार को एक साथ छोड़कर निर्विचारता तक नहीं पहुंच सकते। विचार की भूमिका का सहारा लेकर ही निर्विचारता तक पहुंच सकते हैं।

• हमारी ग्रन्थियों के जो स्राव होते हैं उनका समुचित उपयोग होने पर ही लाभ प्राप्त होता है। इस दशा में हम मौन रहकर क्या ग्रन्थि-स्राव के प्रतिकूल कार्य नहीं करते ?

स्राव की स्थिति से विचार करें तो खूब बोलना चाहिए और स्राव से लाभ उठाना चाहिए। और इसीलिए बोलते भी हैं। जब यह स्थिति आ जाए कि स्राव से बड़ा लाभ हमें मिलने लग जाए तब छोटे लाभ को छोड़ देना चाहिए। छोटा लाभ तब तक प्राप्त करना चाहिए कि जब तक उससे बड़ा लाभ प्राप्त न हो। जब हमारा मन स्वयं ब्रह्मरंध्र में विलीन हो जाए, जहां कि अमृत झर रहा है, उसी में चला जाए, तब इस स्राव को बन्द कर देने में कोई हर्ज नहीं होगा, कोई हानि नहीं होगी।

• साधना का सम्बन्ध राग-द्वेष की ग्रन्थियों के खुलने में है, तब फिर शरीर की ग्रन्थियों पर इतना ध्यान क्यों दें ?

राग-द्वेष की ग्रन्थियां भी शरीर की ग्रन्थियों के साथ ही खुलती हैं।

१०

मन

मन का निवास शरीर के किसी एक स्थान में है या समूचे शरीर में ? आपने मन को चेतना का स्तर बताया । वह चेतना का स्तर कैसे हो सकता है ? मन अचेतन है या चेतन ?

हमारे पास तीन दृश्य वस्तुएं हैं—शरीर, वाणी और मन । दृश्य का अर्थ आंखों से दिखाई देने वाली नहीं, किन्तु क्रिया से प्रत्यक्ष होने वाली वस्तु है । शरीर, वाणी और मन की क्रिया हमें प्राप्त है इसलिए इन तीनों का अस्तित्व हम प्रत्यक्षतः स्वीकार करते हैं ।

शरीर अचेतन है, वाणी अचेतन है और मन भी अचेतन है । शरीर अपने आप क्रिया नहीं करता । इनकी क्रिया के पीछे जो प्रेरक तत्त्व है वह है चेतना । उसी के प्रकाश से हमारा शरीर, वाणी और मन सक्रिय है ।

हमारी चेतना सूर्य की भांति अखण्ड है । वह अनावृत होती है तब उसके प्रकाश में कोई अवरोध नहीं होता । उसकी क्षमता का कोई विभाजन नहीं होता । हमारी चेतना अनावृत नहीं है, इसलिए वह सर्वात्मना प्रकट नहीं हो रही है । उसकी कुछ रश्मियां प्रकट हो रही हैं और वे भी किसी माध्यम से प्रकट नहीं होतीं । वे अपने आप प्रकट होती हैं । आवृत चेतना के प्रकट होने का एक माध्यम है—इन्द्रिय । आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा—इन पांचों इंद्रियों के माध्यम से जो चेतना प्रकट होती है वह इंद्रिय-स्तर की चेतना है । यह वास्तव में चेतना का स्तर नहीं है, चेतना के प्रकट होने का स्तर है । व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से इसे इन्द्रिय-स्तर की चेतना कहा जा सकता है ।

आवृत चेतना के प्रकट होने का दूसरा माध्यम है मन । मस्तिष्क के माध्यम से जो चेतना प्रकट होती है वह मन के स्तर की चेतना है । मन अपने आप में अचेतन है । वह मस्तिष्क की क्रिया है । किन्तु उसके माध्यम से जो चेतना प्रकट होती है वह मानसिक चेतना है । इंद्रिय-स्तर की चेतना में भी मस्तिष्क माध्यम होता है, किन्तु इन्द्रियों के पृथक्-पृथक् केन्द्र बने हुए हैं । दूसरे में वह मस्तिष्क का एक छोटा कार्य है । इन्द्रियों के स्तर पर जो

चेतना प्रकट होती है वह केवल वर्तमान को पकड़ती है, वर्तमान को जानती है। आंख के सामने कोई रूप आया, आंख ने देख लिया। उसका काम समाप्त हो गया। आगे क्या है, पीछे क्या है, उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कान में शब्द पड़ा, सुन लिया। उस शब्द का क्या अर्थ है ? उस शब्द के बारे में क्या सोचना है ? यह कान का काम नहीं है। इंद्रियों के माध्यम से प्राथमिक स्तर की चेतना प्रकट होती है, इसलिए उसमें वर्तमान को जानने की ही क्षमता होती है। मन के स्तर पर प्रकट होने वाली चेतना में त्रैकालिक ज्ञान की क्षमता होती है। वह वर्तमान को जानती है, अतीत का स्मरण करती है और भविष्य की कल्पना करती है। इंद्रिय-ज्ञान की जो क्रिया होती है उसकी प्रतिक्रिया मानसिक ज्ञान की चेतना में होती है। मन इंद्रियों के ज्ञान का संश्लेषण और विश्लेषण करता है।

मस्तिष्क में स्मृति या संस्कार का बहुत बड़ा संग्रह है। इन्द्रियां जो ग्रहण करती हैं वह मस्तिष्क में संगृहीत हो जाता है। योग की भाषा में उसे हम वृत्ति या संस्कार और मनोविज्ञान की भाषा में उसे अक्षय संचय कोष कह सकते हैं। जब-जब बाह्य उत्तेजनाएं मिलती हैं तब-तब प्रतिघात होता है। हमने एक व्यक्ति को पहले देखा। वह स्मृति में नहीं रहा दस वर्ष बाद जैसे ही वह व्यक्ति सामने आया वैसे ही हमारे स्मृति-तंत्र पर प्रतिघात हुआ। स्मृति जागृत हो गयी। हमने उस व्यक्ति को पहचान लिया। यह प्रतिक्रिया प्रतिघात के कारण हुई। किन्तु उसका संस्कार मस्तिष्क के संचय-कोष में संचित था। जो संचित था वह उत्तेजना मिलते ही उत्तेजित हो गया। मन की क्रिया उत्पन्न हो गयी।

मन की क्रिया का संचालन मस्तिष्क के द्वारा होता है, इसलिए वह यांत्रिक क्रिया है। किसी का मस्तिष्क खराब हो जाए तब मन की क्रिया नहीं होती। मस्तिष्क के माध्यम से मानसिक चेतना प्रकट होती है। जब वह माध्यम बिगड़ जाता है तब वह क्रिया नहीं होती। टेपरिकार्डर का फीता घूमा, भाषा उसमें संगृहीत हो गयी। किन्तु वह भाषा पुनः तब प्रकट होगी जब यंत्र में कोई गड़बड़ नहीं है। यंत्र में गड़बड़ होने पर भाषा संगृहीत रहेगी किन्तु प्रकट नहीं होगी। मन यांत्रिक क्रिया का प्रतिफलन है इसलिए उसे अचेतन कहते हैं। वह चेतना के प्रकाश से प्रकाशित होता है इसलिए उसे चेतन भी कहा जा सकता है। उसे चेतन या अचेतन कहना हमारी अपेक्षा है। यदि मस्तिष्क की आत्मिक क्रिया को देखते हैं तो कह सकते हैं

कि मन चेतन है और यदि मस्तिष्क की यांत्रिक क्रिया को देखते हैं तो कह सकते हैं कि मन अचेतन है ।

इस लम्बी चर्चा का सिंहावलोकन इस भाषा में होगा कि आवृत चेतना शरीर के माध्यम से प्रकट होती है । मुख्य माध्यम दो हैं—इंद्रिय और मन । माध्यम स्वस्थ होते हैं तब चेतना प्रकट हो जाती है और वे विकृत हो जाते हैं तब चेतना प्रकट नहीं होती । शरीर के माध्यम के बिना कुछ भी प्रकट नहीं होता—न शक्ति, न ज्ञान और न आनन्द ।

• मन की परिभाषा क्या है ?

बृहद् मस्तिष्क के द्वारा जो चैतन्य प्रकट होता है, जिसमें त्रैकालिक ज्ञान की क्षमता होती है, उसका नाम है मन ।

• मन की क्रिया क्या है ?

मन की तीन क्रियाएं हैं—स्मृति, चिन्तन-मनन और कल्पना । स्मृति तब होती है जब धारणा होती है । धारणा का अर्थ है—संचय-कोष । हमारे मस्तिष्क में असंख्य संचय-कोष हैं, छोटे-छोटे मस्तिष्कीय कोष (Brain Cells) हैं । उनमें स्मृति संचित रहती है । बाहरी उत्तेजनों से वह प्रकट होती है । स्मृति के आधार पर विचार होता है, फिर कल्पना होती है ।

• क्या मन इस शरीर के साथ समाप्त हो जाता है या चेतना के साथ आगे भी जाता है ?

मन इस शरीर के साथ समाप्त हो जाता है । अगले जन्म में नया शरीर बनता है और नये शरीर में नया मन ।

• क्या उसमें पूर्वजन्म की स्मृति होगी ?

उसमें अतीत की स्मृति होगी । वर्तमान जीवन के अतीत की स्मृति उसे वर्तमान मस्तिष्क के माध्यम से होती है । पूर्वजन्म की स्मृति सूक्ष्म शरीर में संचित रहती है । उसका संचय-कोष यदि उत्तेजित हो सके तो पूर्वजन्म की स्मृति भी मन को हो सकती है ।

• इसको यदि हम न मानें तो आप किस प्रकार समझायेंगे ?

आप न मानें इसमें कोई कठिनाई नहीं है, किन्तु जो है उसे न मानना एक बात है, उसका अस्तित्व दूसरी बात है । क्या हमारे न मानने से वह नहीं होगा ? ऐसा नहीं हो सकता । उसे नहीं मानने से कोई हानि या लाभ होगा—यह प्रश्न प्राथमिक नहीं है । प्राथमिक प्रश्न यह है कि हम चिन्तन की सूक्ष्मता में होते हैं तब उसे अस्वीकार नहीं कर सकते । बहुत सारे ऐसे जीव

हैं जिनका ज्ञान बहुत कम विकसित है। ऐसे मनुष्य भी हैं जिनका ज्ञान बहुत कम विकसित है। वे बहुत सारी सच्चाइयों को नहीं जानते और नहीं मानते। उनके नहीं जानने और नहीं मानने से हानि या लाभ का प्रश्न नहीं होता। कारण कि अस्तित्व उनसे परे है। एक फीते (Reel) पर अनेक चित्र अंकित हैं। अब कोई कहे कि मैं उसमें चित्र नहीं देखता इसलिए नहीं मानूंगा कि उसमें चित्र हैं। उसके न मानने से क्या अन्तर पड़ेगा ? क्या फीते में जो चित्र हैं वे नहीं होंगे ? क्या उनका अस्तित्व समाप्त हो जाएगा ? नहीं होगा। जो है, जो प्रकट होने वाला है उसे हम कैसे अस्वीकार करें ? हमारी स्मृति नये सिरे से शुरू नहीं होती। उसका आरम्भ नया नहीं होता। उसको न मानने में सबसे बड़ी कठिनाई यही आती है कि उसका प्रारम्भ बहुत जटिल हो जाता है। यह नया सिलसिला हमने शुरू क्यों किया ? यह कैसे हुआ ? यदि हम नया सिलसिला शुरू करते हैं तो उसका कोई हेतु समझ में नहीं आता और यदि यह सिलसिला चालू है तो फिर चालू सिलसिले में कोई नया हेतु नहीं होता। यह ऐसा चलता आ रहा है और हम शरीर से सर्वथा मुक्त नहीं होंगे तब तक यह चलता रहेगा। उसका कोई आदि-बिन्दु नहीं है। शरीर के द्वारा ही शरीर का निर्माण होता है। शुद्ध चेतना कभी शरीर का निर्माण नहीं करती। वह मन और वाणी का निर्माण नहीं करती। यह सारा शरीर के द्वारा होता है। हमारा कर्म-शरीर कार्य-शरीर को उत्पन्न करता है। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को उत्पन्न करता है। हमारी दुनिया में जितना स्थूल है वह सारा सूक्ष्म के द्वारा निर्मित है। स्थूल को देखने का माध्यम सूक्ष्म को नहीं देखता। उसे देखने के लिए माध्यम को भी सूक्ष्म करना होता है। फिर वहां समझाने की बात नहीं होती, स्वयं की समझ सत्य से जुड़ जाती है।

• इसका मतलब यह हुआ कि सूक्ष्म के साथ परम्परागत मन भी चलता है ?

मन नहीं चलता। चेतना और सूक्ष्म शरीर साथ-साथ चलते हैं। सूक्ष्म शरीर में जो संस्कार शेष रह जाते हैं उनकी स्मृति मन के माध्यम से फिर हो सकती है।

• उन संस्कारों का निवास सूक्ष्म शरीर में कहां होता है ?

जैसे हमारे स्थूल शरीर में वृत्ति केन्द्र हैं, वैसे ही सूक्ष्म शरीर में भी संस्कारों के केन्द्र हैं। उन केन्द्रों में संस्कार संचित रहते हैं।

• यह एक सिद्धांत की बात है। हमें इसका अनुभव नहीं होता। क्यों ?

जब हम सोते हैं तब हमारा स्थूल मन निष्क्रिय हो जाता है। उस समय ज्ञान की क्रिया चालू रहती है। हमें स्वप्न आता है, अनुभव भी होता है। वह किसके द्वारा होता है ? जब हम गहरी अनुभूति में होते हैं उस समय अवचेतन मन में चले जाते हैं। अवचेतन मन जो क्रिया करता है, जिस शक्ति और सामर्थ्य से करता है, वह स्थूल मन कभी नहीं कर सकता। अवचेतन मन की तुलना में चेतन मन की शक्ति बहुत अल्प है। आज के मानसशास्त्री और पुराने योगी, जिन किन्हीं ने भी गहराई में पैठने का प्रयत्न किया वे वास्तविकता तक पहुंचे। उन्होंने सूक्ष्म चेतना का प्रतिपादन किया। वह भले ही हमें आंखों से न दीखे, किन्तु वह अनुभव से परे नहीं है। गहरे में उतरने पर सूक्ष्म शक्ति की अपेक्षा अवश्य होगी। उसका नाम कुछ भी रखें। ध्यान द्वारा उसका अनुभव भी होगा कि स्थूल शरीर से हटकर हम किसी ऐसे शरीर में जा रहे हैं जो शक्ति का बहुत बड़ा केन्द्र है, स्थूल मन से हटकर किसी ऐसी सूक्ष्म चेतना में जा रहे हैं जो बहुत बड़ा प्रकाश केन्द्र है।

• हम इसे मान्यता-भर समझ लें, उसमें उलझें नहीं। वर्तमान को सामने रखकर चलें, क्या इतना काफी है ?

यह ठीक है। उलझने की जरूरत नहीं है। हमें चलना तो हमेशा ही वर्तमान से होगा, स्थूल से चलना होगा। हम इस नियम को न भूलें कि हमारी गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है, सूक्ष्म से स्थूल की ओर नहीं होती। ध्यान में स्थूल का आलम्बन लेते हैं, फिर सूक्ष्म की ओर जाते हैं। व्यावहारिक बात यह है कि हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलें। हमारा लक्ष्य स्थूल से सूक्ष्म तक पहुंचने का हो। स्थूल के स्तर पर सूक्ष्म को अस्वीकार न करें। सूक्ष्म तक पहुंचने पर स्थिति अपने आप स्पष्ट हो जाती है। स्थूल में ही उलझ जाते हैं तो फिर आगे नहीं बढ़ सकते।

• मन के निवास के बारे में आप और स्पष्ट करें।

कुछ लोग कहते हैं कि मन समूचे शरीर में रहता है और कुछ लोग कहते हैं कि वह शरीर के अमुक-अमुक हिस्से में रहता है। ये दोनों बात सापेक्ष इसलिए कि हमारा जो भी ज्ञान प्रकट हो रहा है उसका मुख्य केन्द्र है मस्तिष्क—बृहद् मस्तिष्क, लघु मस्तिष्क और उसके नीचे का पृष्ठरज्जु का हिस्सा। हमारा ज्ञान ज्ञानवाही नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क तक पहुंचता है। इसलिए मानना चाहिए कि मन का मुख्य केन्द्र मस्तिष्क है। इस कोण से

कहा जा सकता है कि मन का निवास मस्तिष्क में है। उसकी क्रिया ज्ञानवाही तंतुओं के माध्यम से सारे शरीर में होती है। इसलिए हम कहें कि मन सारे शरीर में व्याप्त है, तो यह कहा जा सकता है। यदि दोनों अपेक्षाओं को ठीक समझ लें तो दोनों बातें कहने में कोई कठिनाई नहीं है।

• चित्त और बुद्धि का सम्पर्क मन के साथ है या तीनों एक हैं ?

बुद्धि मन से अलग वस्तु है। मन इन्द्रियों की सहायता से अपना कार्य करता हैं। बुद्धि मन की सहायता से अपना कार्य करती है। हम पुस्तकों को पढ़कर या सुनकर जानते हैं, यह सब विद्या है, बुद्धि नहीं है। बुद्धि सहजात होती है। मानस-शास्त्रियों ने भी यह स्वीकार किया है कि बुद्धि जन्म के साथ ही उत्पन्न होती है। बाद में उसका विकास नहीं होता। साधारणतया हम कहते हैं कि बुद्धि का विकास हो गया, किन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से यह बात सही नहीं है। बुद्धि का कभी विकास नहीं होता। जन्म-काल में जितनी बुद्धि होती है उतनी ही रहती है। वह न घटती है और न बढ़ती है। विद्या का विकास होता है। वह बाहर से आती है। बुद्धि बाहर से नहीं आती।

निर्णय करना, विवेक करना बुद्धि का काम है। एक आदमी बिलकुल ही पढ़ा-लिखा नहीं होता, फिर भी सही निर्णय लेता है और ढंग से काम करता है। वह ऐसा बुद्धि के द्वारा करता है। वह विद्यावान् नहीं है किन्तु बुद्धिमान् है। बुद्धि का चमत्कार विद्या से बहुत अधिक है। बुद्धि के उच्च स्तर को हम प्रतिभज्ञान भी कह सकते हैं। जिसे हमने कभी सुना नहीं, जाना नहीं, ऐसी वस्तु हमारे सामने आ गयी, उसके बारे में बुद्धि निर्णय ले सकती है, उसका विश्लेषण कर सकती है। उसमें ऐसी क्षमता हैं। मन का काम इन्द्रियों के द्वारा जो प्राप्त करता है उसका संकलन और विश्लेषण करना मात्र है। किंतु जो नया ज्ञान उत्पन्न होता है वह सारा का सारा बुद्धि के द्वारा होता है। इन्द्रिय-स्तर की चेतना से अधिक समर्थ मानस-स्तर की चेतना है और उससे अधिक समर्थ बौद्धिक-स्तर की चेतना है। यह इन्द्रिय-स्तर और अतीन्द्रिय-स्तर का मध्यवर्ती चेतना का स्तर है।

• अब आप चित्त के बारे में भी बताएं।

सामान्य भाषा में मन और चित्त को एक कहा जाता है। किन्तु गहरे में जाने पर चित्त बुद्धि का ही पर्याय है।

• मन ही बंध और मोक्ष का कारण है। क्या यह सही है ?

यह कहा जाता है कि मन बांधता है और वही मुक्त करता है। यह इतना

सीधा नहीं है जितना कि शब्दों में कहा जाता है। मन कोई स्थाई तत्त्व नहीं है। वह उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है। फिर उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। इसलिए बंध और मोक्ष का हेतु मन से परे है, कोई दूसरा तत्त्व है। कषाय बंध का हेतु है और उसका उपशमन मोक्ष का हेतु है। कषाय का कार्य मन पर आरोपित होता है किन्तु इस कार्य-चक्र में उसका मौलिक योग नहीं है। जिन वृत्तियों का, जिन संस्कारों का हमने संचय कर लिया वे जब उभरते हैं तब बन्धन को लाते हैं। जिन संस्कारों का हमने विलय कर दिया, वे हमें मुक्ति की ओर ले जाते हैं। संस्कार का निर्माण बंधन है और उसका विलय मोक्ष है। संस्कार के उभरने पर मन उत्तेजित होता है, और उसका विलय होने पर मन शान्त हो जाता है। संस्कार परोक्ष में रहता है और मन हमारे प्रत्यक्ष में, इसलिए हम कहते हैं कि मन ही बंध और मोक्ष का कारण है।

• 'मन कुछ नहीं है'—यह मेरी समझ में नहीं आया। इसे फिर स्पष्ट करें।

मैं यह नहीं कह रहा हूं कि मन कुछ नहीं है। मैं यह कहना चाहता हूं कि वह एक प्रवाह है। प्रवाह को हम यह नहीं कह सकते कि वह कुछ नहीं है। देशकृत प्रवाह में पानी की पहली धार आगे बढ़ जाती है और उसके स्थान पर नई धार आ जाती है। धार बनी रहती है किन्तु एक ही धार नहीं रहती। रास्ता चालू है, स्रोत खुला है तब तक प्रवाह रहता है। स्रोत को बन्द कर देते हैं, फाटक को बन्द कर देते हैं तो पानी का प्रवाह रुक जाता है। इसलिए प्रवाह स्थायी तत्त्व नहीं। जब तक फाटक खुला रहा, बांध में से पानी नहरों में प्रवाहित होता रहा। फाटक को बन्द कर दिया गया, पानी का प्रवाह रुक गया। मन एक संकल्प करता है। वह चला जाता है। दूसरा संकल्प आ जाता है। वृत्तियों का स्रोत खुला होता है, संकल्प आते रहते हैं। वृत्तियों का स्रोत बन्द होता है, संकल्प का प्रवाह समाप्त हो जाता है। मन भी समाप्त हो जाता है, शान्त हो जाता है।

• मन को कैसे शान्त रखें जिससे वह कुछ भी न रहे ?

श्वास का कुंभक किया, मन की क्रिया समाप्त हो गई। मन नए सिरे से उत्पन्न नहीं हुआ, कुंभक फाटक बन गया। ऐसा क्यों हुआ ? इस पर थोड़ा चिंतन करें। मानसिक चेतना मस्तिष्क के कोष्ठों द्वारा अभिव्यक्त होती है। वे कोष्ठ श्वास के द्वारा सक्रिय होते हैं। शरीर की सारी क्रिया श्वास के द्वारा

चालू रहती है। श्वास जब नहीं रहता तब शरीर की क्रिया ठप्प हो जाती है। श्वास की उत्तेजना मिलती है तब मस्तिष्क काम करता है। मन की क्रिया होती है तब मस्तिष्क काम करता है। जैसे ही हमने श्वास को बन्द किया श्वास की उत्तेजना समाप्त हो गई। उसके समाप्त होते ही मस्तिष्क की क्रिया भी शान्त हो गयी। मन को हम उत्पन्न करते हैं तब वह उत्पन्न होता है। उसके प्रवाह को रोक देते हैं तब वह अनुत्पन्न हो जाता है।

• मन की शांति के लिए हमें क्या करना है ?

मन की शान्ति के लिए कुछ भी नहीं करना है। नहीं करना ही मन को खाली रखना है और मन को खाली रखना ही मन की शान्ति है। मन को जितना भरेंगे उतनी ही अशान्ति होगी। भरे हुए बर्तन में कोई वस्तु नहीं समा सकती। भरे हुए घर में कोई आदमी नहीं रह सकता। खाली बर्तन में कोई चीज समा सकती है। खाली घर में आदमी रह सकता है। खाली मन में चेतना का अवतरण हो सकता है। यह चेतना का अवतरण ही मन की शान्ति है। अन्तरंग की सक्रियता बढ़ेगी, मन निष्क्रिय हो जाएगा। अन्तरंग की सक्रियता ही मन की निष्क्रियता है। भीतरी जागरूकता ही बाहरी सुषुप्ति है। शान्ति कोई मूर्च्छा नहीं है। वह भीतरी आग का प्रज्वलन है।

• हम मन से परिचित कैसे हो सकते हैं ?

हम मन से परिचित हैं। उससे अपरिचित होना है। परिचय का दूसरा पहलू अपरिचय है। अपरिचित हुए बिना हम किसी से परिचित नहीं हो सकते। हम ध्यान करें, मन से अपरिचित होने का अभ्यास करें, उसका परिचय हमें अपने आप हो जाएगा।

११ मन का विलय

मैं देखता हूं कि जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं है, उसका लय या विलय कैसे होगा ? भाषा बहुत लचीली है। बहुत सारे व्यक्ति अपने भावों को अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा का चाहे जैसे प्रयोग कर देते हैं। किसी ने कहा कि हमने साधना की और मन का विलय हो गया। ध्यान किया और मन का विलय हो गया। मन शान्त हो गया, किसी रूप में विलीन हो गया। तो दूसरी भाषा यह है कि मन था ही नहीं। विलय हुआ किसका ? जिसका कोई अस्तित्व हो, उसका विलय हो सकता है। पर मन था कहां ? मन नही था। जैन, बौद्ध आदि जो साधना की धारणाएं हैं उनकी भाषा है—मन का कोई अस्तित्व ही नहीं है। मन का कोई आधार ही नहीं है, मन की कोई प्रतिष्ठा ही नहीं है और मन कहीं स्थित नहीं है। फिर उसी बात को भिन्न-भिन्न भाषाओं में कह देना पड़ता है। कभी आदमी मजबूरी के कारण कहता है, कभी अपनी समझ के कारण कह देता है।

उज्जैनी के पास नटों की एक बस्ती थी। एक मुखिया नट था। उसके बेटे का नाम था रोहक। राजा ने एक बार आदेश भेजा—'एक बूढ़ा हाथी वहां आ रहा है। तुम्हारे गांव में रहेगा। तुम्हें उसकी सार-संभाल करना है, देखभाल करना है। मुझे प्रतिदिन उसका कुशल-संवाद भेजना है। पर एक बात का ध्यान रखना कि मौत का समाचार मत भेजना। यदि मौत का समाचार सुना दिया तो सुनाने वाला भी मौत का शिकार हो जाएगा।' बड़ी उलझन थी। रोज कुशल-समाचार देना परन्तु मौत का समाचार न देना। कुछ दिनों तक यह क्रम चलता रहा। रोज संवाद जाते रहे। हाथी बूढ़ा तो था ही। मरने जैसा था और मरने के लिए ही शायद भेजा गया था। कुछ दिनों बाद वह मर गया। अब गांव के लोगों ने सोचा कि क्या करें ? बहुत चिन्ता की बात है। आज क्या संवाद दें राजा को ? अगर कुशल-संवाद दें तो झूठ होगा। झूठ कहें तो मृत्यु और अगर यह भी कह दें कि मर गया तो भी मृत्यु। करें क्या ? रोहक ने एक बात सुझा दी। दूत गया और जाकर बोला—'महाराज, प्रणाम !' 'कहो, कैसे है हाथी ?' राजा ने पूछा। दूत ने

कहा—'क्या बताएं आपका, हाथी आज एक बहुत विचित्र स्थिति में चला गया। बोलता भी नहीं है, सुनता भी नहीं है, हिलता-डुलता भी नहीं है। न खाता है, न पीता है। न श्वास लेता है। और न कुछ ही करता है।' राजा ने कहा—'क्या हुआ ? मर गया क्या ?' दूत ने कहा—'यह आप जानें। मैं तो मरा नहीं कहता। आप ही कहते हैं।'

सचमुच यह भाषा का ही अन्तर था। मर गया, यह कहना नहीं था किन्तु वह सब कुछ कह दिया जो मृत के लिए कहा जा सकता है। 'अब हाथी इस दुनिया में नहीं है'—यह बताना था। 'वह मर गया'—इस भाषा में भी बताया जा सकता है, और 'वह खाता नहीं है, पीता नहीं है, बोलता नहीं है, हिलता-डुलता नहीं है, श्वास नहीं लेता है'—इस भाषा में भी बताया जा सकता है।

आप चाहे यह कहें कि हमारा चिंतन नहीं हो रहा है, विचार नहीं हो रहा है। हम सोच नहीं रहे हैं, हम कल्पना नहीं कर रहे हैं। आप कह सकते हैं कि मन मर गया, मन का अस्तित्व नहीं है। मन विलीन हो गया, मन का अस्तित्व नहीं है—यह भाषा का भेद हो सकता है। तात्पर्य में मुझे कोई भेद दिखाई नहीं देता। वास्तव में सचाई यह है कि मन को उत्पन्न करने वाला यंत्र जब निष्क्रिय हो जाता है तब मन उत्पन्न ही नहीं होता। जब मन उत्पन्न नहीं होता तब हम कहते हैं कि मन का विलय हो गया। मन की अनुत्पत्ति की दशा, मन के जन्म न लेने की दशा, ठीक इसी भाषा में है मन का विलय हो जाना। हम कुछ भी कहें। कोई कठिनाई की बात नहीं है। हम यह कहें कि मन का विलय हो गया तो तात्पर्य यही है कि मन का अस्तित्व नहीं रहा। अगर हम यह कहें कि मन उत्पन्न नहीं हुआ, तात्पर्य होगा कि मन का अस्तित्व नहीं है। मूल बात तो तात्पर्य की है। तात्पर्यार्थ में हम जिसकी मीमांसा करते हैं वह यह है कि एक ऐसी स्थिति आ सकती है जहां मन नहीं रहता। हम यह मानकर न चलें कि मन रहता ही नहीं। यह स्थिति भी हमारी घटित होती है कि मन नहीं ही रहता। तो हमारे चेतना के स्तर पर दो स्थितियां निर्मित हो गयीं—एक मन के होने की स्थिति और एक मन के न होने की स्थिति। यह मन के न होने की स्थिति मनोविलय की स्थिति है और मन के होने की स्थिति वह है जिसका आप सब लोग अनुभव करते हैं।

मन होता है और बहुत होता है। इसलिए हम मन नहीं होने की बात

सोचते हैं। अगर मन नहीं होता तो शायद हम मन के होने की बात सोचते। किन्तु मन होता है और बहुत बार होता है। इसलिए अब हम इस खोज में हैं कि मन न हो। यह बात क्यों सोचते हैं। इसका भी एक कारण है। मन का होना कोरा मन का होना ही नहीं है। मन का होना बहुत सारी समस्याओं का होना है। क्योंकि जिस यंत्र के द्वारा मन संचालित होता है और मन में जो प्रवाहित होता है, उस नलिका में बहुत सारी चीजें ऐसी भी आती हैं, जिन्हें हम नहीं चाहते। इसलिए हम बहुत बार सोचते हैं कि मन न हो तो बहुत अच्छी बात है।

मन उत्पन्न होता है प्राण के द्वारा। यदि प्राण न हो तो मन उत्पन्न नहीं होता। प्राण मन को उत्पन्न करता है, मन जागृत होता है या निर्मित होता है। जैसे ही मन उत्पन्न होता है, अपना काम करने लगता है, वृत्तियां उस पर हावी हो जाती हैं। उस छोटे-से बच्चे पर वृत्तियां इतनी हावी हो जाती हैं कि बेचारा मन कुछ भी नहीं रहता। इतने आवरण ऊपर आ जाते हैं कि उनके इशारों पर उसे चलना पड़ता है। प्राण और वृत्ति—एक उत्पन्न करने वाला और एक हावी होने वाला, ये दो तत्त्व ऐसे हैं जो मन जैसे भोले बच्चे को दुःखी बना डालते हैं। आप अनुभव करेंगे कि जीवन से बहुत बार आवेग आते हैं। आवेग क्यों आते हैं। क्या आप सोचते हैं कि मन के आवेग हैं? मन का अपना कोई आवेग नहीं है। किन्तु वृत्तियों में आवेग होते हैं और वे मन पर इस प्रकार छा जाते हैं कि हमें ऐसा लगता है कि सारी खुराफ़ात मन की है। सारी दुष्टता मन की है। पर मन में कोई खुराफ़ात नहीं है।

एक साधक था। उसका नाम था **हेकुइन** उसके पास **नोबु सिजे** नाम का योद्धा आया। आकर बोला—महाराज! स्वर्ग क्या है और नरक क्या है?' योद्धा था, आंखों में उसके लालिमा थी। हाथ में तलवार थी। बड़ी तेजी के साथ आया और तेजी के साथ बोला—'क्या आप बतलाएंगे कि स्वर्ग क्या है और नरक क्या है?' साधक ने कहा—'तुम बहुत बड़े योद्धा हो, किन्तु लगता है कि तुम्हारी आत्मा में तेज नहीं है। यह तलवार लिये फिरते हो किन्तु आत्मा में तेज कहां है? तुम्हारे भीतर कोई शक्ति नहीं है, कोई प्राणवत्ता नहीं है। निकम्मे योद्धा बन गए!' 'इतना कहना योद्धा का अपमान करना था। तलवार की निन्दा और योद्धा के पराक्रम की निन्दा, कितनी गहरी चोट थी! योद्धा इतना उग्र हो गया कि म्यान से तलबार निकाल ली। साधक ने

कहा—'म्यान से तलवार निकाल लेने पर ही कोई योद्धा नहीं बन जाता। तलवार निकालने मात्र से कोई योद्धा बन जाए तब तो दुनिया में बहुत सारे लोग योद्धा कहलाएंगे। तलवार चलाना तुम कहां जानते हो? और ऐसी तलवार ले रखी है जिसमें धार ही नहीं है।' योद्धा के लिए इतना काफी था। वह उबल पड़ा। उसने तलवार चलाने के लिए जैसे ही हाथ बढ़ाया, साधक बोल पड़ा—'यह नरक का द्वार है। योद्धा शान्त हो गया। तलवार नीचे गिर गई। हाथ जोड़कर साधक को प्रणाम किया। साधक ने कहा—'यह स्वर्ग का द्वार है।' अब आप देखिये कि दो-चार मिनटों में ही नरक का द्वार भी उसके सामने आ गया और स्वर्ग का द्वार भी सामने आ गया। वह स्वर्ग की दिशा में भी प्रयाण कर गया और नरक की दिशा में भी प्रयाण कर गया। उसने नरक के दरवाजे को भी खटखटा लिया और स्वर्ग के दरवाजे को भी खटखटा लिया। यह क्या है? आप सोचेंगे कि यह सारी मन की क्रिया है, मन का बोझ है, मन की कलुषता है। पर मैं ऐसा नहीं सोचता। जो मन दो मिनट बाद स्वर्ग का द्वार बन गया, वह मन कहीं भी नहीं ले जा सकता और ले जाने का अधिकारी भी नहीं है। किन्तु बेचारे पर दोष मढ़ देते हैं जो उसमें नहीं है। यह नरक का दर्शन और स्वर्ग का दर्शन, नरक के दरवाजे को खट-खटाना और स्वर्ग के दरवाजे को खटखटाना—ये दोनों बातें हमारी वृत्तियां कर रही हैं, न कि मन कर रहा है।

हमारी चेतना के दो स्तर होते हैं। एक होता है ज्ञान का स्तर और एक होता है वेदना (वृत्ति या संज्ञा) का स्तर। अज्ञानी आदमी वेदना के स्तर पर जीता है और ज्ञानी आदमी ज्ञान के स्तर पर जीता है। जानना ज्ञानी आदमी का काम है। क्या घटित हो रहा है, उस तत्त्व को जानना ज्ञानी का काम है। ज्ञानी दुनिया में आंख मूंदकर नहीं चलता। वह सब कुछ जानता है और जान कर चलता है। किन्तु जानता है, वेदन नहीं करता—यह है हमारी ज्ञान की स्थिति या चेतना की स्थिति। दूसरी है वेदना की स्थिति। अज्ञानी आदमी जानता कम है, या नहीं जानता, किन्तु वेदना करता है। वेदना के स्तर पर जीता है।

श्रीमज्जयाचार्य ने देखा, नाटक हो रहा है। पर उनके मन में कोई संवेदना नहीं हुई। नाटक होता रहा और उनका अपना काम चलता रहा। जान लिया पर वेदना के प्रवाह में वे नहीं बहे। हमारा क्रोध, हमारा अभिमान, हमारी माया, हमारा लोभ और हमारी आकांक्षा—यह प्रवाह-पाती चेतना

वेदना का हेतु है। बहुत सारे लोग सोचते हैं कि मैं अकेला रहकर क्या करूंगा ? जो काम सब लोग कर रहे हैं, उसमें फिर मुझे क्या कठिनाई है। काम करने की कोई जरूरत नहीं है, पर सोचता है कि जब सब ही कर रहे हैं, तब फिर मैं अकेला बचकर क्या करूंगा ? बहुत सारे लोग होते हैं जो इसी भाषा में सोचते हैं कि जिसे सब करें वह काम हमें कर लेना चाहिए। कोई जरूरत नहीं सोचने और विचारने की। यह होती है प्रवाहपाती चेतना। एक होती है लोकसंज्ञा—लोकानुकरण, जो अनुकरण के आधार पर किया जाता है, लौकिक मान्यताओं के आधार पर किया जाता है। बहुत सारी ऐसी लौकिक मान्यताएं होती हैं, उनके आधार पर हमारी चेतना का निर्माण होता है और हम काम करते चले जाते हैं।

एक व्यक्ति ने एक दिन पूछा था कि जैसे मनोविज्ञान में मौलिक मनोवृत्तियों का निर्धारण है, वैसे ही योग में वृत्तियों का निर्धारण है या नहीं ? उस दिन संक्षेप में मैंने इसका उत्तर दिया था, किन्तु आज विस्तार में इस पर चर्चा कर रहा हूं। क्रोध आदि मौलिक मनोवृत्तियां हैं। जैन परिभाषा में इन्हें संज्ञा कहा जाता है। वे दस हैं—क्रोध-संज्ञा, मान-संज्ञा, लोभ-संज्ञा, आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा, मैथुन-संज्ञा, परिग्रह-संज्ञा, ओघ-संज्ञा और लोक-संज्ञा। ये दस मौलिक मनोवृत्तिया हैं और ये प्राणिमात्र में मिलती हैं। जो चेतना के स्तर पर पहुंच गए, जो ज्ञानी हो गए, उनकी बात आप छोड़ दीजिए। जो ज्ञानी नहीं हुए हैं, वेदना के स्तर पर जी रहे हैं, उनमें ये दसों वृत्तियां मिलती हैं।

हम बहुत प्रभावित हो जाते हैं। बाहर कोई घटना घटित होती है, किसी के यहां दुःख हुआ, कोई रोता है तो सुनने वाला भी रुआंसा हो जाता है। 'थावच्चापुत्र' के पड़ोस में बच्चे का जन्म हुआ, गीत गाये जाने लगे और एक सुनहला अवसर आया। 'थावच्चापुत्र' प्रफुल्ल हो गया और खिल उठा। कुछ दिन बाद 'थावच्चापुत्र' के पड़ोस में मृत्यु हो गई, करुणा क्रन्दन और चीत्कार होने लगा। 'थावच्चापुत्र' का मन रुआंसा हो गया।

हम अनुभव करते हैं कि बहुत सारे प्रभावों को लोग ग्रहण करते हैं, और तभी ग्रहण करते हैं जब हम वृत्ति के स्तर पर, वेदना की चेतना के स्तर पर जीते हैं। अज्ञानी आदमी वेदना के स्तर पर जीता है, इसका मतलब यह हुआ कि आप एक कसौटी अपने हाथ में रखें, या हर कोई व्यक्ति अपने पास रखे कि मेरे मन पर अगर दूसरी स्थितियों का प्रभाव होता है, सामने जैसा

घटित होता है, उसका प्रभाव होता है, इसका मतलब यह है कि मैं वृत्ति का जीवन जी रहा हूं, वेदना का जीवन जी रहा हूं। और यदि सामने घटित होने वाली घटनाएं आपको प्रभावित नहीं करतीं, तो निश्चित्त ही उस कसौटी पर कसकर आप यह देख सकते हैं, आप ज्ञान का जीवन जी रहे हैं, ज्ञान के स्तर का जीवन जी रहे हैं, वेदना के स्तर का जीवन नहीं जी रहे हैं।

हमारे जीवन में जितने ऊबड़-खाबड़ स्थल आते हैं, जितने उतार और चढ़ाव आते है, जितनी समस्याएं और उलझनें आती हैं, वे सारी की सारी इन वृत्तियों के माध्यम से मन में संक्रान्त होती हैं। मन बेचारा इतना भोला है कि ले लेता है। हर बात को पकड़ लेता है। बच्चे के हाथ में जाकर आप कुछ भी दे देजिए, बच्चा ले लेगा। उसे पता नहीं कि लेना चाहिए या नहीं लेना चाहिए। यह मन का भोलापन ही है, मन का दोष नहीं है। मन का अपना कोई दोष नहीं है, मन की अपनी कोई मलिनता नहीं है, मन की अपनी कोई क्रूरता या कपटता नहीं है। अगर दोष मानें तो वह इतना ही कि वह भोला है और भोला होने के कारण वृत्तियों को स्वीकार कर लेता है।

मन पर जितना प्रभाव होता है वह सारा का सारा वृत्तियों का होता है। प्राण मन को उत्पन्न करता है और वृत्तियां उसे दोषपूर्ण बनाती हैं। अब हमें करना क्या है ? हमारा ध्यान सीधा जाता है मन को शान्त करें, मन को विलीन करें, मन को किसी चीज में मिला दें। मैं समझता हूं कि यह मूल को पकड़ने की बात नहीं है। जिसे हमें पकड़ना चाहिए, वह है वृत्तियों का संशोधन। वृत्तियों का संशोधन होना चाहिए। जब वृत्तियों का संशोधन होगा, तब आप सहज ही मानिए कि मन की जितनी चंचलता है, मन की जितनी सक्रियता है, वह अपने आप ही कम हो जाएगी।

उस योद्धा को किसने तलवार म्यान से निकालने के लिए प्रेरित किया ? उस योद्धा को किसने तलवार हाथ में उठाने के लिए प्रेरित किया ? और उस योद्धा को किसने तलवार साधक के गले के नजदीक ले जाने के लिए प्रेरित किया ? वृत्तियों ने ऐसा किया। जैसे ही वृत्ति पर चोट लगी, अभिमान की वृत्ति पर चोट लगी, तलवार उठ गई, म्यान से निकल गई और साधक के गले तक पहुंच गई। जैसे ही अभिमान की वृत्ति पर थोड़े छींटे डाले गए, तलवार नीचे गिर गई। हम लोग स्वयं अनुभव, करें कि जहां-जहां

हमारी वृत्ति पर चोट होती है मन एकदम उछल पड़ता है। यह उछलन मन की नहीं है, यह चंचलता मन की नहीं है, यह है वृत्ति की ऊछाल और चंचलता। हमें वास्तव में विलय करना है वृत्ति का, शोधन करना है वृत्ति का, निरसन करना है वृत्ति का। इसीलिए जैन साधकों ने इस बात पर सबसे अधिक बल दिया कि कषाय को समाप्त करो। निष्कषायता की स्थिति को प्राप्त करो। कषाय-मुक्त होने की स्थिति आएगी तो अपने आप वृत्तियां क्षीण हो जाएंगी। वृत्तियां क्षीण होंगी तो मन अपने आप ही क्षीण हो जाएगा। मन को स्थिर करने की, मन को विलीन करने की या मन को अनुत्पन्न करने की कोई जरूरत नहीं है।

१२ मनोविज्ञान और चरित्र-विकास

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। कोई भी मनुष्य नितांत वैयक्तिक नहीं हो सकता। कोई ऐसा लोहावरण होता जिसमें से छनकर कोई दूसरी चीज व्यक्ति में संक्रांत नहीं होती तो व्यक्ति शुद्ध अर्थ में व्यक्ति रहता। किन्तु ऐसा कोई लोहावरण नहीं है। ऐसा कोई कवच नहीं है जिसे बेधकर बाहर की कोई भी चीज न आए। इसलिए कोई भी व्यक्ति शुद्ध अर्थ में व्यक्ति नहीं है। हर व्यक्ति समाज है। समाज समुदाय है। उस पर दूसरों का प्रभाव पड़ता है, परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है, वातावरण का प्रभाव पड़ता है, परंपरा का प्रभाव पड़ता है, सिद्धांत का प्रभाव पड़ता है, वंशानुक्रम का प्रभाव पड़ता है और शरीर-रचना का प्रभाव पड़ता है। ये सारे प्रभाव मनुष्य पर पड़ते है। इन प्रभावों से प्रभावित होकर वह अपने जीवन को चलाता है। हम जिसे कहते हैं मनुष्य का चरित्र, वह चरित्र क्या है? इन सारे प्रभावों, उसके मस्तिष्क पर पड़ने वाले सारे विचार-प्रतिबिंबों द्वारा उसकी जिस वृत्ति का निर्माण होता है, वह है चरित्र।

मनोविज्ञान ने चरित्र-निर्माण का विश्लेषण किया, उसके कारणों पर विचार किया। उसके अनुसार मनुष्य में दो प्रकार के गुण होते हैं—एक मौलिक मनोवृत्ति और एक अर्जित स्वभाव, या आदतें। कुछ मनोवृत्तियां ऐसी हैं जो प्राणी में मौलिक होती हैं। न केवल मनुष्य में ही बल्कि हर प्राणी में होती हैं। वे किसी बाहर के प्रभाव से नहीं आतीं। जैसे—भूख। भूख मनुष्य की भौलिक मनोवृत्ति है। लड़ाई, यह भी मौलिक मनोवृत्ति है। लड़ना-झगड़ना और संघर्ष करना मौलिक मनोवृति है। काम-वासना मौलिक मनोवृत्ति है। ये कुछ मौलिक मनोवृत्तियां हैं जो मनुष्य में सहज ही पायी जाती हैं। ये बाहर से आती नहीं, अर्जित नहीं होतीं। कुछ अर्जित होती हैं और उन्हीं को हम कहते हैं चरित्र, आदत या स्वभाव। वे अर्जित की जाती हैं। उनके अर्जन में अनेक सिद्धांत काम करते हैं। मनोविज्ञान के अनुसार अर्जित आदतों को तीन भागों में बांटा गया है। एक प्रथम श्रेणी की आदतें जो साधारण आदतें होती हैं और उससे चरित्र का निर्माण होता है, जैसे—

भय और प्रलोभन । मनुष्य के चरित्र-निर्माण में भय और प्रलोभन का बहुत बड़ा स्थान है । बच्चा कोई काम करना नहीं चाहता । स्कूल में जाना नहीं चाहता । माता ने कहा—"बेट, स्कूल चले जाओ ।" "नहीं जाऊंगा ।" "यह लो आठ आना ।" बेटा स्कूल चला गया । आठ आना में स्कूल जाना हो गया । बच्चा कोई काम करना चाहता है और माता चाहती है कि वह यह काम न करे । मानता नहीं है । भय दिखाया, "उधर मत जाओ, हौआ है ।" बच्चा डर गया, फिर वहां नहीं गया ।

भय और प्रलोभन—ये दोनों बहुत काम करते है । आप केवल बच्चे के लिए ही न सोचिए, ये हर आदमी के लिए काम करते हैं । हम लोग भगवान् महावीर में विश्वास करते हैं, आत्म-कर्त्तृत्व में विश्वास करते हैं, आत्मा में विश्वास करते हैं, अपने कर्म में विश्वास करते हैं, कर्म के फल में विश्वास करते हैं । फिर जगह-जगह क्यों जाते हैं ? क्योंकि हमें डर रहता है । हम देवता की मनौती मानते हैं । अगर देवता की मनौती नहीं मनाई जाएगी तो न जाने क्या हो जाएगा ? बीमारी हो जाएगी और कोई उपद्रव हो जाएगा । यह भय हमको वहां तानकर ले जाता है । भय के कारण बहुत सारे काम करते हैं । जो काम लोग नहीं भी करना चाहते वह भी भय के कारण करते हैं । और मैं समझता हूं कि बहुत लोग धर्म भी भय के कारण करते हैं । धर्म इसलिए करते हैं कि नहीं किया तो परलोक बिगड़ जाएगा । नरक मिलेगा । इतने कष्ट भुगतने होंगे । निरंतर वेदना, अनन्त भूख, अनन्त प्यास, अनन्त सर्दी, अनन्त गर्मी—ये सारी सहन करनी होंगी । मन में यह भय है, इसलिए आप चाहते हैं कि धर्म करें ।

मन में प्रलोभन है कि धर्म करेंगे तो स्वर्ग मिलेगा । इतने बड़े प्रासाद, इतना आराम, इतना सुख, और इतनी शक्ति, इतना वैभव और इतना ऐश्वर्य —यह प्रलोभन धर्म की ओर आकृष्ट करता है । और भय अधर्म से बचाता है तथा धर्म की ओर आकृष्ट भी करता है । मैं समझता हूं कि यदि आज धर्म के साथ यह भय और प्रलोभन की बात छूट जाए तो पीछे कितना बचेगा ? क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि भय और प्रलोभन ये दोनों मिट जाएं तो पीछे धार्मिक लोग कितने बचेंगे ? कहना कठिन है । बहुत कठिन है । दुनिया के अधिकांश लोगों में जो धर्म चल रहा है, भय और प्रलोभन— इन दो प्रेरणाओं से चल रहा है । ये दोनों धर्म के गुरुत्वाकर्षण हैं जो जनता को अपनी ओर खींच रहे हैं । यह गुरुत्वाकर्षण समाप्त हो जाए तो शायद

मनुष्य का धर्म के प्रति आकर्षण भी कम हो जाए।

हमारे चरित्र-निर्माण में भय और प्रलोभन का बहुत बड़ा स्थान रहता है। यह अस्वाभाविक नहीं है। बहुत सारे लोग खाने में रुचि लेने वाले होते हैं। किन्तु अमुक-अमुक चीजें नहीं खाते। क्यों नहीं खाते? स्वास्थ्य बिगड़ जाएगा। वे खाना इसलिए नहीं छोड़ रहे हैं कि खाना छोड़ने में उनकी दृष्टि परमार्थ की है। किन्तु इसलिए छोड़ रहे हैं कि स्वास्थ्य खराब हो जाएगा। स्वास्थ्य के बिगड़ने का भय रहता है। मिर्च नहीं खाना है। मिर्च नहीं खाने का मन पर क्या असर होता है, इसलिए मिर्च छोड़ने वाले कम मिलेंगे, और मिर्च खाने से पेट पर, पेट की क्रिया पर क्या असर होता है, इस दृष्टि से मिर्च को छोड़ने वाले ज्यादा मिलेंगे। मनुष्य के चरित्र-निर्माण में भय और प्रलोभन का बहुत बड़ा स्थान रहा है और रहेगा। इसे कभी मिटाया नहीं जा सकता। अगर यह मिट जाए तो दो बातें हो सकती हैं—या तो मनुष्य पूरा पशुता की ओर चला जाएगा या फिर पूरा परमार्थ की ओर चला जाएगा। फिर यह बीच की स्थिति नहीं रहेगी। भय और प्रलोभन की स्थिति समाप्त तब हो सकती है जब परमार्थ की दृष्टि समाज में इतनी विकसित हो जाए कि हर आदमी परमार्थ को सामने रखकर काम करता रहे। फिर भय और प्रलोभन की जरूरत नहीं रहेगी। या मनुष्य इतना पशुता की ओर चला जाए, इतना मूर्च्छा में चला जाए, फिर उसे भय और प्रलोभन की जरूरत नहीं रहेगी। ये दो स्थितियां हैं। एक वह छोर है जहां मनुष्यता का पूरा पतन होता है, और एक वह छोर है, जहां मनुष्यता का पूरा-पूरा विकास होता है। यह मध्य का बिन्दु है। यहां जो चरित्र का निर्माण होता है वह भय और प्रलोभन के आधार पर होता है।

दूसरी स्थिति है प्रशंसा और निंदा की। यह भी हमारे चरित्र-निर्माण में सहायक बनती है। मैंने एक काम किया और गुरुजनों ने उसका समर्थन कर दिया, अनुमोदन कर दिया तो मैं चाहूंगा कि वह काम फिर करूं, मेरी वह आदत बन जाएगी, स्वभाव बन जाएगा और मैं बार-बार उसे दोहराना चाहूंगा, करना चाहूंगा। मैंने कोई काम किया और पहले ही किसी ने टोक दिया कि तुमने अच्छा नहीं किया, बस वह स्थिति समाप्त। वह नहीं होगा। तो हमारे करने में, हमारी आदत के निर्माण में इनका भी बहुत बड़ा स्थान है। जिस काम के करने से मुझे प्रशंसा मिलती है, समर्थन मिलता है, अनुमोदन मिलता है और दूसरों का बल मिलता है, वह काम करना मैं पसंद

करूंगा। उस काम से बचना चाहूंगा जिस काम को करने पर निन्दा होती है, दूसरे लोग बुरा मानते हैं, अपयश करते हैं।

आज अगर किसी को पूंजीवादी कहा जाए तो वह कतराता है। क्योंकि आज पूंजीवाद के प्रति घृणा का भाव या निन्दा का भाव अर्जित हो गया है। दूसरी ओर आप देखिए कि जो बिलकुल डिक्टेटर हैं, पद्धति में डिक्टेटरशिप मान्य है, किन्तु वे भी अपने को लोकतन्त्री कहलाना पसंद करते हैं। वे नहीं चाहते कि अधिनायकवादी के रूप में दुनियां के सामने उनका चेहरा प्रस्तुत हो। क्योंकि अधिनायकवाद आज एक प्रकार से धूमिल हो गया है। उसका मूल्य घट गया है, अवमूल्यन हो गया है। कोई उसे पसन्द नहीं करता। इस स्थिति का निर्माण समाज की निन्दा और प्रशंसा के आधार पर हुआ है। मनुष्य के चरित्र-निर्माण में निन्दा और प्रशंसा का भी बहुत बड़ा योग रहता है।

सुख और दुःख—ये भी चरित्र-निर्माण में बहुत सहायक बनते हैं। बच्चे की आदतें इसी आधार पर अर्जित होती हैं। बच्चे ने आग की ओर हाथ बढ़ाया, ताप लगा, अच्छा नहीं लगा। वह हाथ को अपनी ओर खींच लेता है। पानी पीया, अच्छा लगा, पानी पीने लग जाता है। कोई बात अपने मां-बाप से कही, मां-बाप ने उसे थपथपाया। बड़ा आराम मिला, सुख मिला और वह काम करने लग जाता है। कोई भी आचरण किया और मन को प्रसन्नता मिली, वह काम करना सीख जाता है। आंख पर पट्टी बांधकर चला, लड़खड़ा गया, खम्भे से चोट खा ली, वैसा काम आगे नहीं करेगा। मुझे याद है जब मैं बच्चा था—छोटा बच्चा था—एक दिन न जाने मन में क्यों ऐसा आया कि आंख पर पट्टी बांध ली और पट्टी बांधकर चलने लगा। चलते-चलते घर का दरवाजा आया। वहां भीत थी। सीधा नहीं जाकर दरवाजे से टकरा गया। चोट लग गई, जिसका निशान अभी तक बना हुआ है। फिर कभी पट्टी नहीं बांधी। जिस काम में हमें दुःख का अनुभव होता है, फिर वह काम हम छोड़ देते है। एक श्रेणी के तीन युगल मैंने आपके सामने प्रस्तुत किए, जो हमारे चरित्र को प्रभावित करते हैं।

भय और प्रलोभन, प्रशंसा और निन्दा, सुख और दुःख—ये तीन युगल हैं, एक ही श्रेणी के, एक ही कक्षा के, जो मनुष्य के चरित्र को प्रभावित करते हैं और बहुत सारे लोगों का चरित्र इन बातों से प्रभावित होता है। सामान्य लोगों का तो अकसर होता ही है। इन्हीं बातों के आधार पर कुछ

बनते हैं, बिगड़ते हैं, बनाते है और बिगाड़ते हैं, चलते हैं और ठुकराते हैं।

दूसरी है कर्तव्य की भूमिका, दायित्व की भूमिका। यह पहली भूमिका से ऊर्ध्वगामी है। जिन लोगों में दायित्व की चेतना जागृत हो जाती है, वे व्यक्ति उन बातों से ऊपर उठ जाते हैं। वे अपने चरित्र का निर्माण दायित्व के आधार पर करते हैं। उन्हें दायित्व की अनुभूति हो जाती है और वे अपने चरित्र को विकसित करते हैं। आप अनुभव करते होंगे कि बहुत सारे लोग चंचल होते हैं, बहुत नटखट होते हैं। उनका आचरण भी अच्छा नहीं होता। किन्तु जब किसी दायित्व के पद पर आ जाते हैं और दायित्व का अनुभव कर लेते हैं तो उनके चरित्र में अन्तर पड़ जाता है और सचमुच ही बदल जाते हैं वे। कुछ लोग नहीं बदलते। स्वभाव अच्छा नहीं होता, तो उन्हें यह परामर्श दिया जाता है—'अरे भाई! यह ऐसे नहीं सुधरेगा, जरा जिम्मेदारी इस पर डाल दो, इस पर थोड़ा बोझ डाला और अपने आप ही यह ठीक हो जाएगा।' यह सलाह बहुत सारे समझदार लोग देते हैं और आपने भी शायद सुना होगा। हमने देखा है। हमारे साधु-साध्वी जगत् में भी हम इस बात का अनुभव करते हैं। ऐसे प्रयोग भी चलते हैं। किसी व्यक्ति की किसी आदत में परिवर्तन करने की जरूरत होती है और वह नहीं होता है तो उसे दायित्व सौंपकर बदलने का प्रयत्न किया जाता है। लोग तो सोचते हैं कि यह व्यक्ति उसके योग्य नहीं था, फिर इस पर यह दायित्व क्यों सौंपा गया? क्यों डाला गया? किन्तु मैं यह अनुभव करता हूं कि दायित्व डालने पर उस व्यक्ति में सचमुच परिवर्तन आ जाता है। परन्तु दायित्व की अनुभूति अवश्य होनी चाहिए। ऐसा व्यक्ति जिसे दायित्व का अनुभव न हो, उसमें परिवर्तन की सम्भावना नहीं की जा सकती। किन्तु जिसे दायित्व की अनुभूति हो जाए तो सचमुच उसमें परिवर्तन आने लग जाता है। चरित्र-निर्माण की दूसरी श्रेणी का हेतु है—दायित्व-बोध।

तीसरी श्रेणी जो इससे आगे की है, वह है धर्म-बोध, धार्मिक चेतना का जागरण, विवेक का जागरण। जो व्यक्ति इस प्रेरणा से प्रेरित होकर अपने चरित्र का निर्माण करता है वह उच्चतम कक्षा का चरित्र-निर्माण होता है।

मुआज को यमन का शासक नियुक्त किया गया। मोहम्मद साहब ने पूछा—'तुम यमन के शासक बने हो। तुम्हारे सामने बहुत सारे अभियोग आएंगे और तुम्हें फैसला करना होगा। बताओ, तुम किस आधार पर करोगे?' उसने कहा—'अल्लाह की पवित्र पुस्तक कुरान के आधार पर सारे फैसले

करूंगा।' मोहम्मद ने फिर पूछा—'वैसी बात अगर तुम्हें पवित्र पुस्तक में नहीं मिलेगी तो बताओ फिर किस आधार पर करोगे ?' उसने कहा—'अगर उस पवित्र पुस्तक में उसका कोई निर्णय नहीं मिलेगा तो मैं पैगम्बरों के आधार पर उसका फैसला करूंगा।' मोहम्मद ने फिर पूछा—'अगर उनके निर्देशनों में भी तुम्हें मार्गदर्शन नहीं मिला, कोई समाधान नहीं मिला तो बताओ फैसला किस आधार पर करोगे ?' तब उसने कहा—'अगर पैगम्बर के निर्देशनों में भी मुझे आधार नहीं मिला तो फिर मैं अपने विवेक के आधार पर फैसला दूंगा।' यह है विवेक का जागरण। जो व्यक्ति विवेक को साथ लेकर चलता है, विवेक-चेतना को जागृत कर चलता है, उसके चरित्र का निर्माण विवेक के आधार पर होता है। और यह बहुत ही ऊंची बात है, उच्चतम भूमिका की बात है। हमारी धार्मिक चेतना को जागृत करना विवेक को जागृत करना है।

हमें कठिनाई भी बहुत है। धर्म-चेतना या परमार्थ की चेतना के बारे में मतभेद भी बहुत रहे हैं। एक ऋषि कहता है—'यह बहुत बड़ी कठिनाई है, हम कैसे यह निर्णय करें कि हमारा यह आचरण सही है और यह गलत है। धर्म और अधर्म स्वयं आकर हमें यह नहीं कहते हैं कि मैं धर्म हूं और मैं अधर्म हूं। अगर वे आकर हमें यह निर्णय दे दें कि यह तुम्हारा आचरण अच्छा है और यह तुम्हारा आचरण अच्छा नहीं है। यह धर्म है और यह अधर्म है। मैं स्वयं धर्म आकर कह रहा हूं यह आचरण तुम्हरा धर्म है। और इसी प्रकार अधर्म आकर कह दे कि यह तुम्हारा आचरण अधर्म है, यह बात मैं स्वयं अधर्म कह रहा हूं।' तो मनुष्य को कोई कठिनाई नहीं होगी। देवता, गन्धर्व आदि कोई आकर यह नहीं कहता है कि यह धर्म है और यह अधर्म है। तो फिर निर्णय किस आधार पर करें ? तो आखिर रहा विवेक ही आधार। हमें निर्णय करना होगा विवेक के आधार पर। किसी भी चीज का निर्णय हमारा विवेक ही करेगा। और विवेक के आधार पर ही हम हर चीज का निर्णय करते हैं। सुकरात को जहर की प्याली दी जा रही थी। सारे मित्र, प्रशंसक, भक्त और समर्थक उदास हो रहे थे, रुआंसे हो रहे थे, आकुल-व्याकुल हो रहे थे। घबराए हुए बोले—'गुरुदेव ! यह क्या हो रहा है ? अभी आप हमारे सामने हैं, दो क्षण में आप मर जाएंगे। बहुत बड़ा अनर्थ हो जाएगा।' सुकरात पर्वत की भांति अविचल था। मन में कोई प्रकम्पन नहीं था, कोई भय नहीं था। मन में कोई घबराहट नहीं, मन में कोई वेदना नहीं। शांत भाव से

बैठा था। भक्तों ने जब बार-बार यह कहा तब सुकरात बोला—'क्यों घबराते हो ? तुम्हें कष्ट क्यों हो रहा है ? तुम जानते हो कि इस दुनिया में कुछ लोग नास्तिक हैं और कुछ लोग आस्तिक। जो नास्तिक हैं, वे कहते हैं कि आत्मा नहीं है। जब आत्मा नहीं है, तो कौन मरेगा ? आस्तिक कहते हैं कि आत्मा है पर आत्मा अमर है। आत्मा अमर है तो फिर वह मरता नहीं है। फिर चिन्ता क्या ? नास्तिकों की बात मैं मानूं, तो फिर मुझे कोई चिन्ता नहीं है। क्योंकि आत्मा है ही नहीं तो फिर मरेगा कौन ? आस्तिकों की बात मानूं तो आत्मा अमर है, फिर मुझे चिन्ता क्या ?'

अब आप सुकरात से इस आचरण का विश्लेषण करें। उसका चरित्र कितना उदात्त बना कि सामने मृत्यु के झोंके आ रहे हैं और वह बिलकुल अभय होकर बैठा है। मौत के नगाड़े बज रहे हैं और सुकरात शांत होकर बैठा है, वह जहर नहीं पी रहा है, अमृत की प्याली पी रहा है। यह इतना उदात्त चरित्र किस आधार पर बना ? विवेक के आधार पर बना। यदि मनुष्य में विवेक का जागरण न हो तो मौत आना तो दूर की बात है, कोई यह कह दे कि तुम छह महीने के बाद मर जाओगे तो छह महीने किसको आएंगे, वह पहले दिन ही आठ आना मर जाएगा।

ये तीन कक्षायें आपके सामने प्रस्तुत हैं जो हमारे चरित्र को प्रभावित करती हैं और जिनके आधार पर हमारे चरित्र का निर्माण होता है। आप भगवान् महावीर के चरित्र को लें, उनके शिष्यों के चरित्र को लें। उनका इतना विशाल उदात्त चरित्र किस आधार पर बना ? भारतवर्ष के दूसरे धर्मों के सन्तों के चरित्र को आप लें, उनका चरित्र इतना उदात्त किस आधार पर बना ? यह बना है धर्म-चेतना और विवेक-चेतना के जागरण के आधार पर। मैं समझता हूं कि धर्म की चेतना ही परमार्थ की चेतना है। धर्म-शून्य चेतना परमार्थ-चेतना नहीं हो सकती। उसके आधार पर उदात्त चरित्र का निर्माण नहीं हो सकता।

कोई आदमी गाली देता है और जिसे गाली दी जाती है वह आशीर्वाद देता है। मनुष्य का सामान्य स्वभाव है गाली के प्रति गाली। किन्तु गाली के प्रति शुद्ध हृदय होना और गाली देने वाले के प्रति भलाई की कामना करना, ऐसा चरित्र विवेक-चेतना या धर्म चेतना के आधार पर ही बन सकता है ; अन्यथा ऐसा नहीं हो सकता।

चरित्र-निर्माण में वंशानुक्रम का भी बहुत बड़ा योग रहता है। लोग विवाह

करते हैं, तब देखते हैं कि घराना कैसा है ? आचार्यश्री दीक्षा देते हैं तो देखते हैं कि घराना कैसा है ? पीछे का इतिहास क्या है ? किस प्रकार के व्यक्ति इस घराने में पैदा हुए हैं ? उन्होंने क्या आचरण किए हैं और क्या काम किए हैं ? यह देखना बहुत महत्त्व की बात है ।

आज मेडिकल साइंस में इस विषय में बहुत अनुसंधान हो रहे हैं । बहुत सारी बीमारियां पैतृक होती हैं । अभी कुछ डॉक्टरों ने कहा था कि कैंसर भी पैतृक बीमारी है । हृदय-रोग भी पैतृक बीमारी है । संक्रामक रोग तो बहुत सारे पैतृक होते ही हैं । इस प्रकार बहुत सारी बीमारियां पैतृक होती हैं । उनका मूल ढूंढा जाता है पैतृक परम्परा में । होमियोपैथिक चिकित्सा में तो इस पर बहुत ही ध्यान दिया जाता है । इसके पिता को क्या बीमारी थी और माता को क्या बीमारी थी—इसका पूरा विश्लेषण किया जाता है । मनुष्य के चरित्र पर भी इसका प्रभाव आ सकता है । चरित्र-निर्माण में बहुत बड़ा योग रहता है—माता-पिता के आचरण का । एक घटना है । एक ऋषि ने एक व्यक्ति को देखा । वह बहुत ही उद्दण्ड था । उसके आचरण को देखा और पूछा—'बताओ, तुम किसके लड़के हो ?' लड़के ने कहा—'मैं सावलक का लड़का हूं ।' ऋषि ने पूछा—'तुम्हारी माता ?' उसने कहा—'कौशला ।' ऋषि बोला—'नहीं हो सकता, ऐसा हो नहीं सकता ।' अब निर्णय कौन करे? लड़का कहता है कि मेरे माता-पिता ये हैं और ऋषि कह रहा है कि तुम्हारे माता-पिता ये नहीं हैं । बहुत बड़ा आरोप है, अभियोग है । लड़के के मन में उलझनें भर गईं । बड़ा चिन्तित-सा हो गया । उसे ऋषि पर गुस्सा भी आया । वह दौड़ता हुआ माता-पिता के पास पहुंचा । बड़ा उद्दण्ड था । जाकर बोला—'बताओ, मैं किसका लड़का हूं ?' अरे ! यह क्या प्रश्न ? यह भी कोई पूछने की बात होती है । हमारे लड़के हो तुम ।' लड़का बोला—'नहीं, सही बताओ ।' माता ने कहा—अरे, इसमें भी सही-गलत होता है क्या ?' उसने कहा—'ऐसे नहीं होगा ।' वह बाहर गया और तलवार लेकर आया । उसने कहा—'सही-सही बताओ, नहीं तो सिर काटता हूं ।' माता-पिता ने सोचा, यह तो अच्छी मुसीबत आ गई । पता नहीं यह प्रश्न किसने खड़ा कर दिया । आखिर उसने बहुत ही रुद्र रूप धारण कर लिया । तब वे बोले—'तुम शिकारी के लड़के हो ।' तो फिर यहां कैसे आ गया ?' लड़के ने पूछा । पिता ने कहा—'अनाथ हो गए थे, तुम्हारी रक्षा के लिए कोई नहीं रहा, और हमें ऐसा योग मिल गया कि हमने तुम्हें पाल लिया, पोष लिया, तुम हमारे

लड़के बन गए।

अब आप देखिए कि लड़के के आचरण से ऋषि ने निर्णय कर लिया कि वह 'सावलक' और 'कौशला' का पुत्र नहीं हो सकता। उनकी जो परम्परा है, वह उद्दण्डता की परम्परा नहीं है। उनकी परम्परा क्रूरता की परम्परा नहीं है। उनकी परम्परा शिकारी की परम्परा नहीं है। और उस परम्परा में इस प्रकार का आचरण नहीं आ सकता। कहीं-न-कहीं वर्णसंकर हुआ। कहीं-न-कहीं कोई गड़बड़ है और कहीं-न-कहीं कोई दोष है। बात पकड़ ली गई वंश-परम्परा के आधार पर और आखिर में वह सही निकली। आप भारतीय साहित्य में देखेंगे कि ऐसी पचासों घटनाएं हैं। एक बहुत बड़ा कवि था। राजा उसे समस्यापूर्ति करने देता तो वह महान् कवि न केवल समस्या-पूर्ति करता, बल्कि बहुत सारे रहस्यों को भी उद्घाटित कर देता। एक बार राजा ने उससे अपने बारे में पूछा। कवि ने कहा—'महाराज! आप अपने बारे में मत पूछिए, मत पूछिए।' राजा ने कहा—'नहीं, बताना ही होगा।' कवि ने कहा—आप दासी के लड़के हैं।' राजा को क्रोध आ गया। उसने हैरान होकर कहा—'यह कैसे हो सकता है?' कवि ने कहा—'मैं जो कुछ कहता हूं उसमें अन्तर नहीं हो सकता।' अब भला राजा को यह कह दे कि तुम राजपुत्र नहीं हो, दासी पुत्र हो, कितनी भयंकर बात थी। आखिर राजा को परीक्षा करनी पड़ी। उसने परीक्षा की और उसके बाद यह सही निकला कि वह दासी का ही पुत्र है। राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कि इस व्यक्ति ने कैसे बताया कि मैं दासी का बेटा हूं। उसने कवि से पूछा—'कवि! तुम बताओ, यह बात तुमने कैसे पकड़ी?' कवि ने कहा, 'पकड़ी क्या, तुम्हारे स्वभाव से मैंने देख लिया कि तुमने जो भोजन दिया, उसमें क्या दिया? आटा, तेल और थोड़ा-सा घी। अगर तुम राजपुत्र होते तो इतने बड़े विद्वान् को इस प्रकार का भोजन नहीं देते। यह तुम्हारी कृपणता बतला रही है कि तुम दासी के पुत्र हो।' सचमुच वही निकला। आप देखिए कि मनुष्य के स्वभाव के आधार पर उसके वंश को जाना जा सकता है, वंश का निर्णय किया जा सकता है। यह पैतृक परम्परा हमारे चरित्र-निर्माण में बहुत बड़ा हाथ बंटाती है।

चरित्र-निर्माण का एक हेतु है—परम्परा। जिस प्रकार की विचार पर-म्परा में व्यक्ति जन्म लेता है, उस प्रकार के चरित्र का निर्माण हो जाता है। तेरापंथ की परम्परा में उन्होंने जन्म लिया है, वे वंदना करेंगे तो घुटने टेककर

पंचांग वंदना करेगे और तमिलनाडु की शैव परम्परा में जिसने जन्म लिया है, वह नमस्कार करेगा अपने देवता को तो अष्टांग दण्डवत् करेगा। हर आदमी पर अपनी परम्परा का प्रभाव होता है और मनुष्य उसे सीखता है, उसे ग्रहण करता है।

चरित्र-निर्माण का एक हेतु है—पर्यावरण। जिस प्रकार का वातावरण हमारे आस-पास निरन्तर बना रहता है, उसका भी असर पड़ता है। आप अपने बच्चे को धूम्रपान करने वाले, निंदा-चुगली करने वाले आदमियों के पास छोड़ दीजिए, वह धूम्रपान करना सीख जाएगा, निन्दा-चुगली करना सीख जाएगा। हम लोगों ने दो-ढाई वर्ष के बच्चे से इतनी अभद्र गाली सुनी कि हम कल्पना भी नहीं करते कि वह इतनी गन्दी गाली वह दे सकता है। मन में जिज्ञासा हुई। हमने उसके माता-पिता से पूछा कि यह बच्चा ऐसी गाली कैसे दे सकता है? उन्होंने बताया कि हमारे पास तो यह कम रहता है, नौकरों के पास अधिक रहता है। उन्हीं के पास रहता है, उन्हीं के साथ खेलता है। ज्यादा सम्पर्क उन्हीं का रहता है। तो वे जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं, वैसा ही प्रयोग यह करने लग गया। यह सारा वातावरण का प्रभाव है। जैसा वातावरण होता है, उसी के अनुसार मनुष्य अपने को बनाता है।

चरित्र-निर्माण का एक हेतु है—शरीर-रचना। शरीर रचना का भी स्वभाव पर असर पड़ता है। स्वभाव-निर्माण में उसका बहुत बड़ा योग रहता है। जिस व्यक्ति की रीढ़ की हड्डी सीधी नहीं है, टेढ़ी-बांकी है, जटिल है, उसके बहुत अच्छे स्वभाव की कल्पना नहीं कर सकते। शरीर के और भी ऐसे केन्द्र और स्थल हैं, जिनमें कोई त्रुटि होती है तो स्वभाव में परिवर्तन आ जाता है, बहुत बड़ा परिवर्तन आ जाता है।

ये चार बातें हैं। इनके आधार पर मनोविज्ञान ने मनुष्य के चरित्र का विश्लेषण किया है। मैं सोचता हूं कि धार्मिक लोग हैं, धर्म में विश्वास करने वाले हैं, विवेक-चेतना की भूमिका पर सोचने और काम करने वाले हैं, फिर भी हम इससे अज्ञात न रहें कि मनुष्य के स्वभाव पर किन-किन बातों का प्रभाव पड़ता है। उन सारी स्थितियों को ठीक समझकर और उनका मूल्यांकन कर यदि हम चरित्र-निर्माण की ओर ध्यान दें तो अधिक लाभान्वित हो सकते हैं।

• क्या व्यक्तिगत चरित्र-निर्माण में सामाजिक वातावरण की अनिवार्यता है ?

एक वातावरण होता है सामाजिक संदर्भों का और एक होता है अपना वैयक्तिक। वैयक्तिक का असर काफी होता है और बहुत ज्यादा होता है। परन्तु वैयक्तिक चरित्र को बाहर आने में, विकसित होने में सामाजिक वातावरण की अपेक्षा रहती है।

• चरित्र-निर्माण में वंशानुक्रम का प्रभाव अधिक होता है या पर्यावरण का ?

अब देखिए कि दोनों का अपना-अपना स्थान है और दोनों का अपना-अपना महत्त्व है। कुछ बातों में वंशानुक्रम प्रधान होता है तो कुछ बातों में पर्यावरण प्रधान होता है। इसलिए दोनों की तुलना नहीं की जा सकती। दोनों की अपनी विशेषताएं हैं।

• धार्मिक चेतना का हमारे जीवन में क्या योगदान है ?

धार्मिक चेतना व्यक्ति को परमार्थ की भूमिका पर ले जाती है। फिर उसके सोचने का, चिन्तन करने का सारा क्रम बदल जाता है। जैसे मैंने बताया कि एक व्यक्ति को गाली दी, जो सामान्य मनोवृत्ति है कि गाली दी तो उसे गाली देना चाहिए। या गाली का जवाब इस प्रकार देना चाहिए कि दूसरी बार वह गाली न दे। अब जब वह धार्मिक चेतना से प्रभावित हो जाता है तो वह सोचता है कि इसने गाली दी और अगर वह दोष मुझमें है तो इसे छोड़ना चाहिए और अगर दोष मुझमें नहीं है तो यह गाली मुझ पर लागू ही नहीं हुई। तो फिर मुझे रोष क्यों करना चाहिए ? इस प्रकार सारे चिन्तन को बदल देता है।

• बच्चे में जो परिवर्तन होता है वह माता-पिता के कारण अधिक होता है या परिस्थितियों के कारण अधिक होता है या उसमें कर्म प्रधान होता है ?

माता-पिता का असर होता है, यह तो निश्चित है ही। परन्तु थोड़ा बहुत परिवर्तन वातावरण से भी होता है। और व्यक्तिगत संस्कारों से भी होता है। यह थोड़ा बहुत जो परिवर्तन है, इसे मनुष्य ग्रहण कर लेता है। एक दृष्टि से देखें तो माता-पिता एक होते हैं। किन्तु माता-पिता भी अनेक हो जाते हैं। बदल जाते हैं। जैसे एक बच्चा गर्भ में आया। माता बहुत शांत थी। शांत अवस्था में गर्भ धारण किया। बच्चा शांत प्रकृति का हो गया। किसी कारण से गर्भकाल में माता बहुत उद्दण्ड हो गई, तो बच्चा भी बहुत उद्दण्ड हो जाता

है। माता के स्वभाव का परिवर्तन भी बच्चे के स्वभाव-परिवर्तन का निमित्त बन जाता है। एक मनोवैज्ञानिक ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया कि एक अमेरिकी महिला के कमरे में नीग्रो का चित्र टंगा रहता था। अपने गर्भकाल में वह बार-बार उस चित्र को देखती। उसका इतना बड़ा प्रभाव हुआ कि जो बच्चा जन्मा वह ठीक उस नीग्रो जैसा काला और उसी आकृति वाला हुआ। फिर जब उसका विश्लेषण किया गया तो मनोवैज्ञानिकों ने यही निर्णय दिया कि इस तस्वीर पर अधिक ध्यान केन्द्रित होने के कारण ऐसा मानसिक परिवर्तन हो गया। तो इस प्रकार के परिवर्तन भी उसमें निमित्त बन जाते हैं।

यह इतना मिला-जुला प्रोग्राम है कि इसे अलग बांटना कठिन है। अब कोई यह कहे कि यह मकान जो खड़ा है, इसमें पत्थर की प्रधानता है, सीमेंट की प्रधानता है, छत की प्रधानता है या नींव की प्रधानता है? प्रधानता किसी की नहीं है। सबका मिला-जुला कार्य है। उत्तरी ध्रुव में जन्म लेगा, वह गौर वर्ण हो जाएगा। अफ्रीका में जन्म लेगा तो बिलकुल काला बन जाएगा। यह प्रभाव किसका है? बाह्य वातावरण का है। कोई भी कर्म जो विपाक में आता है, बाह्य निमित्तों से ही आता है, अन्यथा नहीं आता। उसकी जो अभिव्यक्ति होती है, उसे भी निमित्त चाहिए। जिस प्रकार का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मिलता है, उस प्रकार की सारी वृत्तियां उसकी बन जाती हैं। उसी प्रकार का कर्म उसके हृदय में आ जाता है। चरित्र का मामला इतना मिश्रण है कि अनेक बातें इसमें मिलती हैं। इसीलिए मैंने कहा था कि ऐसा कोई कवच हमारे पास नहीं है, जो हम नितान्त व्यक्ति ही रहें। हम इतने सामाजिक हो जाते हैं और इतने प्रभावों को ग्रहण करते हैं कि शुद्ध अर्थ में कोई भी व्यक्ति व्यक्ति नहीं रह जाता। सब बातों का ध्यान भी नहीं रहता। अब पैतृक-परम्परा से जो मिला है, उसका क्या ध्यान रखेगा?

१३ भोजन का विवेक

वस्तु का लक्षण है होना और होने का लक्षण है क्रिया करना। जो क्रियाशील नहीं होता वह सत् नहीं होता। सत् वह होता है जिसमें क्रिया होती है और निरंतर होती है। कुछ वस्तुओं में स्वाभाविक क्रिया होती है और कुछ वस्तुओं में स्वाभाविक और सांयोगिक—दोनों प्रकार की क्रिया होती है। क्रिया का स्रोत है शक्ति और शक्ति का स्रोत है आहार। हमारे शरीर-तंत्र में दो मुख्य अवयव हैं—मस्तिष्क और पाचन-संस्थान। मस्तिष्क ज्ञानकेन्द्र और क्रियाकेन्द्र है। वह शरीर की प्रवृत्तियों पर नियंत्रण पाता है, उनका संचालन करता है। पाचन-संस्थान आहार का परिवाक कर उसका शरीर के साथ सात्म्य करता है।

मस्तिष्क और शरीर—दोनों की क्रिया प्राण-ऊर्जा या विद्युत-ऊर्जा द्वारा होती है। मस्तिष्क को अपनी क्रिया करने के लिए बीस वोल्ट विद्युत-ऊर्जा चाहिए। उसकी पूर्ति ग्लूकोज और ऑक्सीजन—इन दो स्रोतों से होती है। परिमित भोजन पाचन-संस्थान के हिस्से में आने वाली विद्युत-ऊर्जा से काम चला लेता है। अतिरिक्त भोजन अतिरिक्त विद्युत-ऊर्जा का उपयोग करता है। पाचन-संस्थान द्वारा अतिरिक्त विद्युत-ऊर्जा का उपयोग किये जाने पर मस्तिष्क को मिलने वाली विद्युत-ऊर्जा की मात्रा कम हो जाती है। फलतः पेट की क्रिया प्रधान और मस्तिष्क की क्रिया गौण हो जाती है। आदमी अधिक आहारवान् और कम बुद्धिमान् हो जाता है। क्या कोई भी समझदार इसे पसन्द करेगा ?

आहार के बारे में हमारा दृष्टिकोण बहुत ही सीमित है। परिमित भोजन आहार का एक मानदंड है। किन्तु वही एकमात्र नहीं है। संतुलित भोजन का भी अपना महत्त्व है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो कुछ भी खाकर शरीर की अपेक्षा पूरी कर लेते हैं। सब वैसे नहीं होते। जिनकी प्राण-ऊर्जा सशक्त होती है, जो अपने अन्तःस्रावों पर पूर्ण अधिकार पा लेते हैं, उनमें रासायनिक परिवर्तन की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। साधारण आदमी ऐसा नहीं कर पाते। वे संतुलित भोजन के अभाव में शरीर और मन—दोनों

दृष्टियों से रुग्ण हो जाते हैं।

शरीरशास्त्र के अनुसार क्रोध, आवेश, स्वभाव का चिड़चिड़ापन, विक्षोभ—ये शरीर के रोग हैं। यूरिक एसिड की मात्रा बढ़ जाने से ये उत्पन्न होते हैं। यह मात्रा 'एंजाइम' (एक रासायनिक पदार्थ) की मात्रा घट जाने से बढ़ती है और उसकी मात्रा की पूर्ति होते ही यूरिक एसिड की मात्रा घट जाती है। मनुष्य का स्वभाव बदल जाता है। क्रोध हंसी में बदल जाता है। क्रोध के निमित्तों की स्वीकृति कर्मवाद के सिद्धान्त में बाधक नहीं है।

आहार वही नहीं है जो हम मुख से खाते हैं। मुख्य आहार है प्राणवायु। उसमें पोषण की क्षमता है इसलिए वह आहार है और वह आहार के परिपाक की शृंखला का एक तत्त्व है इसलिए आहार का आहार है। पूरी श्वास या दीर्घ श्वास लेने वाला व्यक्ति फुप्फुस के विष को बाहर निकालता है और रक्त को विशुद्ध बनाता है साथ-साथ वह शारीरिक और मानसिक क्षमताओं को भी विकसित करता है। पुराने जमाने में योग के आचार्यों ने इस विषय का साक्षात् किया था और उन्होंने श्वास की अनेक पद्धतियां विकसित थीं। आज वे रूढ़ि-रूप में चल रही हैं। वैज्ञानिक पद्धति भी जानकारी खो जाने पर रूढ़ि बन जाती है। आज के वैज्ञानिक फिर इस विषय में खोज कर रहे हैं। वे श्वास के विभिन्न प्रयोगों द्वारा अनेक रोगों की चिकित्सा में सफल हुए हैं। तापमान का संतुलन और शक्ति—ये दो आहार के प्रयोजन हैं। प्राणवायु दोनों की पूर्ति करती है।

आहार का चौथा मानदंड है—अनाहार। आहार और अनाहार का संतुलन रहने पर ही आहार अधिक उपयोगी बनता है। कोरा आहार आहार की उपयोगिता को कम करता है। उपवास का मूल्य केवल आध्यात्मिक नहीं है, शारीरिक भी है। काम को जितनी विश्राम की अपेक्षा है उतनी ही आहार की अनाहार की अपेक्षा है। जो सात्विक रुचि का व्यक्ति है, वह एक प्रकार का भोजन ग्रहण करेगा और जिसकी कामवासनाएं उभरी हुई हैं, वह दूसरे प्रकार का भोजन पसन्द करेगा। भोजन की पसन्द होती है। उसके चुनाव में हमारी रुचि बोलती है। किसी को जांचना हो, परखना हो तो आप उसके भोजन को देख लें। आप उसके पास जाकर बैठ जाएं और देखें कि वह किस प्रकार का भोजन करता है। व्यक्ति की परख हो जाएगी। व्यक्ति की हर प्रकार की गूढ़ भावनाओं को जानने का बहुत बड़ा माध्यम है भोजन।

कोई डॉक्टर होता तो स्वास्थ्य के बारे में चर्चा करता, पर मैं डॉक्टर नहीं हूं। कोई पोषणशास्त्री होता तो पोषक भोजन के बारे में चर्चा करता, पर मैं कोई पोषकशास्त्री नहीं हूं। फिर भी साधना जीवन का ऐसा विषय है कि कोई भी विषय उसकी पकड़ से छूट नहीं सकता। हम साधना के किसी एकांगी कोण को लेकर उसके मर्म को छू नहीं सकते। साधक को स्वयं डॉक्टर बनना होता है, स्वयं भोजनशास्त्री और पोषणशास्त्री बनना होता है, सब कुछ बनना होता है। क्योंकि साधना के साथ हमारे शरीर का संबंध है, हमारे मन का सम्बन्ध है, हमारी चेतना का सम्बन्ध है। जहां शरीर और मन का सम्बन्ध है, वहां भोजन के प्रश्न को हम छोड़ नहीं सकते। यह शरीर जो दिखाई दे रहा है, यह मास और हड्डी का स्थूल शरीर भोजन के आधार पर ही बनता है। भोजन क्या करता है ? वह मांस को बनाता है, हड्डी को बनाता है, गर्मी और सक्रियता देता है। ये सब भोजन के काम हैं। भोजन का एक तत्त्व है 'प्रोटीन'। यह हमारे मांस को बनाता है। भोजन का एक तत्त्व है 'क्षार'। यह हमारी हड्डियों को बनाता है। भोजन का ही एक तत्त्व है—चिकनाई आदि। यह हमारी गर्मी और शक्ति को बनाता है।

भोजन दो प्रकार का होता है—पोषक भोजन और रक्षक भोजन। घी आदि गरिष्ठ भोजन पोषक भोजन है। यह शरीर को पुष्ट बनाता है। रक्षा करने वाले तत्त्व होते हैं—फल, सब्जी आदि। ये हमारे शरीर के रक्षण में सहयोग देते हैं। भोजन का काम है—मांस का निर्माण, हड्डियों का निर्माण, गर्मी और शक्ति प्रदान करना आदि-आदि। यदि भोजन न हो तो शरीर में गर्मी और विद्युत पैदा नहीं हो सकती। विद्युत के बिना शरीर चल नहीं सकता, जैसे कोई भी इंजिन विद्युत के बिना चल नहीं सकता। विद्युत पैदा होती है गर्मी से, ऊष्मा से, अग्नि से। और गर्मी प्राप्त होती है भोजन से। इस तथ्य की पुष्टि के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। आप दो दिन भोजन छोड़ दीजिए। दो दिन में ही आपके घुटने टिक जाएंगे। सारी ताकत टूटती नजर आएगी। एक दिन उपवास से ही ताकत घटने लग जाती है। पांच-सात दिन की तो बात ही क्या ?

अशन और अनशन—ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। भोजन करना और उसे छोड़ना—ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। कोरा भोजन काम का नहीं है। शक्ति भोजन से प्राप्त होती है पर वह भोजन से कम भी होती है। तो भोजन के भी अपने कुछ विधान हैं। इस विषय में हमें दो बातों पर विचार

करना है—

१. हम भोजन किस भावना से ग्रहण कर रहे हैं ?

२. भोजन में कौन-कौन से पदार्थ ग्रहण कर रहे हैं ?

ये दोनों प्रश्न हमारे लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। भोजन क्यों ले रहे हैं ? क्या पेट भरने के लिए भोजन ले रहे हैं ? यदि पेट भरने के लिए ही भोजन ले रहे हैं, तो वह बहुत ही स्थूल बात है। यह पेट गढ़ा तो है नहीं। लोग गढ़े को कूड़ाकरकट डालकर भर देते हैं। पेट को हम गढ़ा तो बना नहीं सकते। जो भी, जैसी भी वस्तु हमारे सामने आए, उसे खाकर पेट को भर दें—यह हो नहीं सकता। जो चीजें हम लेते हैं, उनका हमारे शरीर पर ही नहीं, मन पर भी बहुत ज्यादा असर होता है। इसलिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है कि हम लेने वाली चीजों पर ध्यान दें, भोजन लेने की भावना पर ध्यान दें। भोजन का हमारे विचारों पर भी अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म रूप से प्रभाव पड़ता है। भोजन लेते हैं हम जीवन चलाने के लिए। इसके साथ ही यह प्रश्न जुड़ा है कि हम जीवन को धारण क्यों करें ? किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए जीवन को धारण करना, उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शरीर को धारण करना और शरीर को धारण करने के लिए भोजन को ग्रहण करना—ये तीन बातें हैं। हमारा उद्देश्य है—चेतना का विकास, चेतना का उन्नयन, चेतना का ऊर्ध्वगमन। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम शरीर को धारण करते हैं। चेतना का विकास करने के लिए शरीर को धारण करना है और शरीर को धारण करने के लिए भोजन ग्रहण करना है। तो भोजन में हमें उन्हीं तत्त्वों को ग्रहण करना हैं जो हमारी चेतना के विकास में बाधक न बनें, सहायक बनें। भोजन में लिए जाने वाले पदार्थों के कारण यदि आपकी वासना उत्तेजित हुई, क्रोध अधिक आया, भय अधिक लगा अथवा अन्य बुरी भावनाओं ने जन्म लिया तो आपकी चेतना का विकास रुक जाएगा। भोजन आपके विकास में बाधक हो जाएगा। भोजन करते समय इस बात पर अवश्य ध्यान देना है कि जो पदार्थ हम ले रहे हैं, वे हमारे मन और विचारों पर क्या असर करेंगे। हम उपवास करते हैं। दो दिन, चार दिन या और अधिक दिन का उपवास करते हैं। उस समय हम अनुभव करेंगे कि हमारी इन्द्रियां शान्त होती जा रही हैं, हमारे आवेग शान्त होते जा रहे हैं, सब कुछ ठीक हो रहा है। किन्तु जैसे ही हमने भोजन करना शुरू किया, रस का परिपाक शुरू हुआ, शक्ति का निर्माण आरंभ हुआ, वैसे ही हमें अनुभव होगा कि जो दीपक

बुझ रहा था वह पुनः प्रज्वलित हो उठा मानो अग्नि में और घी डाल दिया गया हो। शक्ति का निर्माण होते ही हमारा मन फिर दौड़ना शुरू कर देता है। हमारी वासना दौड़नी शुरू हो जाती है। मतलब यह हुआ कि खाना बन्द तो मन और इन्द्रियों की सक्रियता भी बन्द और खाना प्रारम्भ तो मन और इन्द्रियों की दौड़ भी प्रारम्भ। हम सात दिनों का उपवास करें, बहुत-सी बातें याद आनी बन्द हो जाएंगी। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर में जब शक्ति होती है तभी ये सब उन्माद पैदा होते हैं। शरीर की शक्ति कम हो जाए तो उन्माद भी बन्द हो जाते हैं, उनके द्वार बन्द हो जाते हैं। शायद इसीलिए अशन के साथ अनशन का विधान है। भोजन करने के साथ भोजन छोड़ने की बात जुड़ी हुई है। हम भोजन छोड़ नहीं सकते। हमें किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भोजन ग्रहण करना ही पड़ेगा। इसका अर्थ तो यह हुआ कि दो दिन का हम उपवास कर लें तो इन्द्रियां शान्त और फिर भोजन आरम्भ करें तो इन्द्रियों की दौड़ का भी प्रारम्भ। इस तरह हम कब तक लड़ सकेंगे? यह तो देवासुर संग्राम जैसा हो गया। कभी हम इन्द्रियों को सताएं तो कभी इन्द्रियां हमें सताएं। पूरा खाना छोड़ नहीं सकते और पूरा छोड़े बिना इन्द्रियां शांत नहीं हो सकतीं। यह बहुत बड़ी समस्या है। हमारे उद्देश्य की पूर्ति के लिए शरीर आवश्यक है। शरीर के लिए भोजन आवश्यक है। हम अनशन करके बैठ नहीं सकते। फिर हम क्या करें? इसका समाधान भी हमें प्राप्त है। हम जो खाएं, वह चेतना के विकास की भावना के साथ खाएं और जो उसमें सहायक हो, वही खाएं।

एक बार आयुर्वेद के महान् आचार्य महर्षि चरक पक्षी का रूप बनाकर वाग्भट के घर पर जाकर बैठ गए और बोले—'कोरुक्? कोरुक्? कोरुक्? —स्वस्थ कौन? स्वस्थ कौन?' स्वस्थ कौन?' वाग्भट ने उसे आश्चर्य के साथ सुना। वे स्वास्थ्य के मर्म को जानते थे। वे बोले—'हितभुक्, हितभुक्, हितभुक्—स्वस्थ वह है जो हितभोजी है। स्वस्थ वह है जो हितभोजी है। स्वस्थ वह है जो हितभोजी है।' पक्षी फिर बोला—'कोरुक्? कोरुक्? कोरुक्?—स्वस्थ कौन? स्वस्थ कौन? स्वस्थ कौन? वाग्भट ने उत्तर दिया—'मितभुक्, मितभुक्, मितभुक्—स्वस्थ वह है जो मितभोजी है। स्वस्थ वह है जो मितभोजी है। स्वस्थ वह है जो मितभोजी है।' पक्षी ने फिर प्रश्न किया—'कोरुक्? कोरुक्? कोरुक्?—स्वस्थ कौन? स्वस्थ कौन? स्वस्थ कौन?' वाग्भट ने उत्तर दिया—'ऋतभुक्,

ऋतभुक्, ऋतभुक्—स्वस्थ वह है जो ऋतभोजी है। स्वस्थ वह है जो ऋत-भोजी है। स्वस्थ वह है जो ऋतभोजी है।' पक्षी उड़ गया। समस्या का समाधान हो गया।

तीन शब्द हैं—हित, मित और ऋत। इन तीनों का अपना महत्त्व है। हितभोजी वह है जो स्वास्थ्य के अनुकूल भोजन करता है। मितभोजी वह होता है, जो थोड़ा खाता है। डॉक्टरों के लिए नहीं खाता। एक डॉक्टर ने भोजन को चार भागों में बांटते हुए कहा कि मनुष्य एक भाग तो अपने शरीर के लिए खाता है और तीन भाग हमारे लिए खाता है। अगर वह ऐसा न करे तो डॉक्टरों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाए। यदि सभी लोग मित-भोजी बन जाएं तो डॉक्टरों को बोरिया-बिस्तर बांधना पड़े। उनकी जीविका समाप्त हो जाए।

अमेरिका में वैज्ञानिकों ने भोजन के सम्बन्ध में कई परीक्षण किए। उन्होंने चूहों को दो श्रेणियों में बांटा। आप मान लीजिए चूहों की एक श्रेणी 'क' है और दूसरी श्रेणी 'ख' है। 'क' श्रेणी के चूहों को पौष्टिक भोजन दिया गया और 'ख' श्रेणी के चूहों को साधारण भोजन। उन्हें दूसरे दिन भूखा रखा गया। निष्कर्ष यह आया कि जिन चूहों को पौष्टिक भोजन दिया गया वे बीमार पड़े और जल्दी मर भी गए। जिन्हें साधारण और एक दिन के अन्तर से भोजन दिया गया वे स्वस्थ रहे और अपेक्षाकृत दो वर्ष अधिक जीए। आज यह प्रयोग सिद्ध हो चुका है कि भारी चीजें खाना, ज्यादा खाना पेट पर अतिरिक्त भार डालना है। यह कार्य पांच मन बोझ ढोने वाली गाड़ी पर पन्द्रह मन वजन लाद देने जैसा है।

भोजन को पचाने के लिए ऊर्जा की जरूरत होती है। वह सारे शरीर में है। शरीर का कोई भी अंग कुछ अतिरिक्त श्रम करता है, तब उसमें ऊर्जा का बहाव अधिक हो जाता है। भोजन को पचाने के लिए पाचन-संस्थान को अतिरिक्त श्रम करना पड़ता है। उस समय उसे अतिरिक्त ऊर्जा अपेक्षित होती है। किसी एक अवयव को अतिरिक्त ऊर्जा की अपेक्षा होती है, तब दूसरे भागों में उसकी कमी हो जाती है। भोजन के तत्काल बाद चिंतन नहीं करने का अर्थ यही है कि पाचन-संस्थान में जाने वाली ऊर्जा में अवरोध पैदा न हो और फलतः ऊर्जा की कमी के कारण पाचन में विकृति न हो। जब हम सादा और संतुलित भोजन करते हैं तब हाथ, पैर और मस्तिष्क को संतुलित ऊर्जा मिलती रहती है। जब हम भारी और असंतुलित भोजन करते हैं तब

पाचन-संस्थान अधिक मात्रा में ऊर्जा को खींचता है। फलतः ऊर्जा का बहाव असंतुलित हो जाता है। मस्तिष्क में उसका बहाव कम हो जाता है। एक व्यक्ति धन का संग्रह बढ़ाता है तो निश्चित है कि किसी दूसरे के यहां गढ़ा होता है। पाचन-संस्थान में ऊर्जा बढ़ेगी तो मस्तिष्क की ऊर्जा क्षीण होगी। इसीलिए जो पेटू होते हैं, उनका पेट बड़ा और दिमाग छोटा होता है। जिन्हें बुद्धि की चिन्ता नहीं है, जिनके सामने प्रतिभा के विकास का प्रश्न नहीं है, वे अधिक खाते हैं तो खा सकते हैं। किन्तु जो लोग बुद्धि का उपयोग करना चाहते हैं, प्रतिभा की कुशाग्रता से काम लेना चाहते हैं, चिंतन-मनन करना चाहते हैं, उनके लिए अधिक भोजन करना बहुत बड़े शत्रु को निमंत्रित करना है।

भगवान् महावीर ने साधना के प्रथम सूत्र के रूप में 'अनशन' का विधान किया। इसका अर्थ है—ऊर्जा का खर्च कम हो। जो हो वह मुख्यतः चेतना के विकास के लिए मस्तिष्क में ही हो। मस्तिष्क की ऊर्जा का पेट के लिए उपयोग करना चेतना के विकास का अवरोध है और पेट की ऊर्जा का मस्तिष्क के लिए उपयोग चेतना के विकास की साधना है।

ऋतभोजी वह होता है जो मुफ्त का नहीं खाता, दूसरे का शोषण कर नहीं खाता। हमारे शरीर को केवल भोजन ही शक्ति नहीं देता, भावना भी शक्ति देती है। हम दूसरों की जितनी सद्भावना अर्जित करते हैं, उतना ही हमारा आन्तरिक बल बढ़ता है। दूसरों की आह के साथ जो भी हमारे पेट में जाता है, वह हमारी भावना को विकृत बनाता है। जैसे सुपाच्य और मन की पवित्रता में अवरोध पैदा नहीं करने वाली वस्तुओं का चुनाव भोजन का महत्त्वपूर्ण विषय है, वैसे ही श्रम और शुद्ध साधनों से अर्जित वस्तुओं का चुनाव भी बहुत मूल्यवान् है। भोजन का मूल्यांकन चेतना के विकास का मूल्यांकन है। हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

२

आत्मा का साक्षात्कार

१ ध्यान

हम दो सत्ताओं के बीच में अपना जीवन चला रहे हैं—एक प्रत्यक्ष सत्ता है और दूसरी परोक्ष सत्ता। परोक्ष सत्ता आत्मा की है और प्रत्यक्ष सत्ता मन की है। परोक्ष सत्ता तक पहुंचने में हमें बड़ी कठिनाई है, अनेक बाधाएं हैं और वे बाधाएं सत्ता के द्वारा उपस्थित की जा रही हैं। मन का जगत् ऐसा है कि जब हम उसमें उलझ जाते हैं तो परोक्ष सत्ता तक पहुंचने का मार्ग बन्द हो जाता है। किन्तु परोक्ष सत्ता बहुत शक्तिशाली है। वह अपने पहुंच के मार्ग को सदा के लिए बन्द नहीं होने देती।

हम आत्मा को नहीं देखते। हमारी इन्द्रियां उस अमूर्त सत्ता को नहीं देख पातीं। वह स्वयं बाह्य जगत् में अपने को प्रकट करती है। उसके प्रकट होने के चार माध्यम हैं—शरीर, वाणी, श्वास और मन। आत्मा की अनुपस्थिति में शरीर स्पंदित नहीं होता और मन गतिशील नहीं बनता। ये चारों आत्मा से प्राण पाकर ही अपना काम करते हैं। ये द्वार बनते हैं, खिड़कियां बनते हैं और इनमें से जो झांकता है वह आत्मा है।

जैसे शरीर एक यंत्र है, वैसे ही मन भी एक यंत्र है। जैसे शरीर अचेतन है, वैसे ही मन भी अचेतन है। शरीर, वाणी, श्वास और मन—ये सब अचेतन हैं। आत्मा में से एक चैतन्य की धारा निकलती है, वह परमाणुओं के साथ मिलकर प्राण की धारा हो जाती है। वह धारा जिसके साथ जुड़ती है, वही सचेतन हो जाता है, सक्रिय हो जाता है। जैन दर्शन का सिद्धांत है कि एक क्षण में एक ही क्रिया होती है। मन की क्रिया होती है तब वचन की नहीं होती और जब वचन की होती है तब शरीर की नहीं होती। इन तीनों की क्रिया एक साथ नहीं होती। हम चिन्तन करते हैं तब भी शरीर होता है। चिन्तन नहीं करते हैं तब भी शरीर होता है। शरीर का होना और उसका सचेतन या सक्रिय होना—ये दो बातें हैं। जब चैतन्य या प्राण की धारा शरीर से जुड़ती है तब शरीर सक्रिय हो जाता है। वह चैतन्य की धारा जब वाणी के यंत्र से जुड़ती है तब वाक् स्फूर्त हो जाता है और वह चैतन्य की धारा जब मन के यन्त्र के साथ जुड़ती है तब मन गतिशील हो जाता है। तीनों

एक साथ सक्रिय नहीं होते।

मन कहां है ? सम्बन्ध में चार विचारधाराएं हमारे सामने हैं—

१. कुछ मानते हैं कि मन समूचे शरीर में व्याप्त है।

२. कुछ मानते हैं कि मन का स्थान हृदय के नीचे है।

३. कुछ लोग मानते हैं कि मन हृदय-कमल के बीच में है। हृदय-कमल की आठ पंखुड़ियां हैं, वहां मन है। कुछ योगाचार्यों का मत है कि बाएं फेफड़े में जहां हृदय है, उसके एक इन्च नीचे मन का स्थान है।

४. वर्तमान शरीरशास्त्र का अभिमत है कि मन का स्थान मस्तिष्क है।

मैं सोचता हूं कि ये सारी सापेक्षताएं हैं। यदि हम कहें कि मन समूचे शरीर में व्याप्त है तो यह सापेक्ष ही होगा। हमारे स्नान-संस्थान में जितने भी ग्राहक स्नायु हैं, जो बाह्य विषयों को ग्रहण करते हैं, उनका जाल समूचे शरीर में फैला हुआ है। वे शरीर के सब भागों से ग्रहण करते हैं। इस प्रकार मन का शासन सर्वत्र व्याप्त है। राजा अपनी राजधानी में बैठा है। कोई पूछे कि राजा कहां है तो कहा जा सकता है कि जहां तक राज्य की सीमा है वहां तक राजा है। वह भले ही राजधानी में हो, किन्तु उसका शासन सारे राज्य की सीमा में चलता है, तो राजा सर्वत्र व्याप्त है।

'मन हृदय के नीचे है'—यह भी सापेक्ष है। सुषुम्ना की एक धारा हृदय को छूती हुई जाती है। उसका हृदय के साथ सम्पर्क है इसलिए हृदय को मन का केन्द्र मानना बड़े महत्त्व की बात है। वह भावपक्ष का मुख्य स्थान है।

मन का स्थान मस्तिष्क है, यह बहुत स्पष्ट है। ज्ञानतंतुओं का संचालन उसी से होता है। वह उन पर नियन्त्रण और नियमन करता है।

मन के स्वरूप को जानना इसलिए आवश्यक है कि वह हमारी साधना का मुख्य आधार है। उसी के आधार पर ध्यान करना है, उपलब्धियों तथा अनुपलब्धियों का लेखा-जोखा करना है। मन के साथ चेतना का योग न हो तो ध्यान की कोई आवश्यकता ही नहीं। फिर हम स्वयं सिद्ध बन जाते हैं। 'चेतना मन के साथ जुड़ी ही नहीं'—इसका अर्थ है कि मन सक्रिय होता ही नहीं। उस स्थिति में कोई विकल्प नहीं होता, संकल्प नहीं होता, चिन्ता नहीं होती। मन का यंत्र मृतवत् पड़ा रहता है। यह ध्यान की भूमिका है। यह शुद्ध उपयोग की भूमिका है। मन का स्वरूप चेतना की धारा से निर्मित होता है। वह अपने-आप में न कलुषित है और न निर्मल, न चंचल है और न स्थिर। जैसा उपादान होता है वैसा ही वह निर्मित हो जाता है। चेतना

अतीतकालीन विभिन्न संस्कारों से प्रभावित होती है। उसकी निर्मल धारा आती है और मन के साथ योग करती है तो मन निर्मल बनता है, राग-द्वेष-रहित बनता है। चेतना के साथ मल आता है, आसक्ति आती है, अज्ञान आता है, राग-द्वेष आता है तो मन का स्वरूप दूसरा हो जाता है। निर्मल चेतना का योग भी मन में सक्रियता लाता है और मलिन चेतना का योग भी उसमें सक्रियता लाता है। सक्रियता दोनों ओर से आती है। किन्तु मन की स्थिति में अन्तर आ जाता है। उसका प्रवाह दो दिशाओं में विभक्त हो जाता है। राग-द्वेष-रहित चेतना का योग होने पर मन होता है पर आसक्ति नहीं होती। राग-द्वेष-युक्त चेतना का प्रवाह आता है तब मन भी होता है और आसक्ति भी होती है। यही चंचलता है। इसकी अतिरिक्त मात्रा या पुनरावर्तन ही अशांन्ति है।

मन की तीन अवस्थाएं निष्पन्न होती हैं—

१. राग-द्वेष-युक्त मन, २. राग-द्वेष-शून्य मन, और ३. अमन (मानसिक विकल्प का निरोध)।

ध्यान की भूमिका में हमें सबसे पहले इस पर विचार करना होता है कि किस प्रकार की चेतना को उसके साथ जोड़ें और जोड़ें तो किस रूप में जोड़ें, और कुछ क्षण ऐसे बिताएं कि मन के साथ चेतना को जोड़ें ही नहीं। जब हम चेतना को मन के साथ जोड़ते ही नहीं तब चेतना अलग होती है और मन अलग। जब हम इंजिन में ईंधन डालते ही नहीं तब इंजिन कैसे चलेगा? मोटरकार तभी चलती है जब उसके इन्जिन में ईंधन डाला जाता है। वायुयान तभी चलता है जब उसके इन्जिन में ईंधन डाला जाता है। जब ईंधन नहीं डाला जायेगा तब उसमें गति नहीं होगी। यंत्र होगा पर सक्रियता नहीं होगी। यह ध्यान की सबसे अच्छी स्थिति है। किन्तु व्यवहार में जीने वालों के लिए यह मान्य नहीं होता। वे नहीं चाहते कि घर में मोटरकार खड़ी है और खड़ी ही रहे, कभी काम में न आये। वे उसका उपयोग करना चाहते हैं। व्यवहार की भूमिका में जीने वाले यह पसन्द नहीं करते कि हमारे मन का यन्त्र निकम्मा पड़ा रहे। वे उसे सक्रिय करने के लिए चेतना का उपयोग करते हैं। मन का निर्माण ही न हो, यह ध्यान का आदि-बिन्दु नहीं है, उसकी अग्रिम भूमिका है। उसका आदि-बिन्दु है—मन के साथ जुड़ने वाली चेतना का विवेक करना। मन के साथ चेतना जुड़े, पर राग-द्वेष-युक्त चेतना न जुड़े। प्राण की धारा मन को सक्रिय बनाए पर उसके साथ आकांक्षा न आए, प्रमाद

न आए और कषाय न आए। जब राग-द्वेष, आकांक्षा, प्रमाद और कषाय के दरवाजे बन्द कर देते हैं तो फिर जो चैतन्य आता है वह मन को सक्रिय बनाता है, चंचल भी करता है, किन्तु उस चंचलता में मन का शोक नहीं होता, मन की अशान्ति नहीं होती। फिर चंचलता हमारा कोई अनिष्ट नहीं कर पाती।

उमास्वाति के अनुसार एक आलम्बन पर अन्तःकरण की वृत्ति का निरोध करना ध्यान है।[1]

अनासक्त चेतना, अप्रमत्त चेतना और वीतराग चेतना सहज ध्यान है। इसके विपरीत आसक्त चेतना, प्रमत्त चेतना और राग-द्वेष चेतना मन की चंचल अवस्था निर्मित करती है। उस समय शोक बढ़ता है, अशान्ति बढ़ती है, क्रोध बढ़ता है, प्रवंचना और लोभ बढ़ता है। इस स्थिति में ध्यान की योग्यता प्राप्त नहीं होती।

ध्यान की परिभाषा

जिनभद्र के अनुसार स्थित चेतना ध्यान और चल चेतना चित्त कहलाते हैं—

'जं थिरमज्झवसाणं तं ताणं, जं चलं तयं चित्तं।'[2]

आचार्य अकलंक ने बताया है—'जैसे निर्वात प्रदेश में प्रज्वलित प्रदीप-शिखा प्रकंपित नहीं होती, वैसे ही निराकुल प्रदेश में अपने विशिष्ट वीर्य से निरुद्ध अंतःकरण की वृत्ति एक आलंबन पर अवस्थित हो जाती है।' उनके अनुसार व्यग्र चेतना ज्ञान होती है, वही स्थिर होकर ध्यान हो जाती है।

क्या प्राण और अपान का निग्रह ध्यान है? नहीं है। प्राण और अपान के निग्रह से प्रचुर वेदना उत्पन्न होती है। उससे शरीरपात का प्रसंग आता है। इसलिए ध्यान-काल में प्राण और अपान को मन्द करना चाहिए। ध्यान का समय अन्तमुहूर्त्त है। एक आलंबन पर इतने समय तक एकाग्र रहना पर्याप्त है। इसके बाद आलम्बन बदल जाता है। हठपूर्वक एक ही आलम्बन पर चेतना को स्थापित करने का प्रयत्न इन्द्रिय उपघात का हेतु बन सकता है।

ध्यान में श्वास और काल आदि की मात्रा की गणना नहीं करनी चाहिए। ऐसा करने पर चेतना व्यग्र हो जाती है। इसलिए ध्यान नहीं होता।

१. तत्त्वार्थ सूत्र ९।२७।
२. ध्यानशतक, २।

आचार्य रामसेन के अनुसार एक आलम्बन पर अन्तःकरण की वृत्ति का निरोध ध्यान है। उसी प्रकार चिन्तन-रहित केवल स्व-संवेदन भी ध्यान है—

'अभावो वा निरोधः स्यात् स च चिन्तान्तर व्ययः।
एकचिन्तात्मको यद्वा, स्वसंविच्चिन्ततोज्झिता।"

जैन आचार्य ध्यान को अभावात्मक नहीं मानते। इसके लिए किसी न किसी एक पर्याय का आलम्बन आवश्यक है। स्व-संवेदन ध्यान को निरालम्बन-ध्यान कहा जाता है किन्तु यह सापेक्ष शब्द है। इसमें किसी श्रुत के पर्याय का आलम्बन नहीं होता—इस दृष्टि से यह निरालम्बन है। निरालंबन ध्यान में ध्याता और ध्येय भिन्न नहीं होते। उसमें शुद्ध चेतना का उपयोग ही होता है। उसके सिवाय किसी ध्येय का ध्यान नहीं होता। सालंबन ध्यान में ध्येय और ध्यान का भेद होता है। जैन साधकों का अनुभव है कि प्रारम्भ में सालम्बन ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। उसके द्वारा एकाग्रता पुष्ट हो जाए, राग-द्वेष का भाव मन्द हो जाए तब निरालम्बन ध्यान—आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। सालम्बन ध्यान निरालम्बन ध्यान तक पहुंचने के लिए है, यह तथ्य विस्मृत नहीं होना चाहिए।

ध्यान सूत्र

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है—आत्मा, ज्ञान, दर्शन और चारित्र संयुक्त होता है। इसलिए उस आत्मा का ध्यान करना चाहिए।[1]

इस सूत्र में आत्मा के ध्यान की बात कही गई है। साधना की दृष्टि से आत्मा के तीन प्रकार किए जाते हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इन्द्रिय-समूह बहिरात्मा है। आत्मा का अनुभवात्मक संकल्प—शरीर और इन्द्रिय से भिन्न जो ज्ञाता है वह 'मैं हूं'—इस प्रकार का संवेदनात्मक संकल्प अन्तरात्मा है। कर्म-मुक्त आत्मा परमात्मा है।[2]

इन तीनों में परमात्मा ध्येय है। अन्तर् आत्मा के द्वारा बहिरात्मा को छोड़ना है। परमात्मा का ध्यान करने से आत्मा स्वयं परमात्मरूप बनता है।

---

१. मोक्ष पाहुड़, ६४।

२. मोक्ष पाहुड़, ८४:

अक्खाणि बहिरप्पा, अंतरप्पा, हु अप्पसंकप्पो।
कम्मकलंक विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो॥

इसलिए शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिए। शुद्ध चेतना का अनुभव शुद्धता लाता है और अशुद्ध चेतना का अनुभव अशुद्धता लाता है।[1]

जो द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व की दृष्टि से अर्हत् को जानता है वह अपनी आत्मा को जानता है। निश्चयनय की दृष्टि से अर्हत् और अपनी आत्मा के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। अर्हत् का ध्यान करने से मोह विलीन होता है।[2]

अर्हत् का ध्यान तुरुषाकार आत्मा के रूप में करना चाहिए। ऐसा करने वाला पूर्वकर्म की निर्जरा करता है। वर्तमान क्षण में राग-द्वेष-रहित होने के कारण कर्म का बंध नहीं करता।[3]

दशवैकालिक सूत्र में बताया है कि आत्मा से आत्मा को देखें। ध्यानकाल में चिन्तन और दर्शन—दोनों हो सकते हैं किन्तु चिन्तनात्मक ध्यान की अपेक्षा दर्शनात्मक ध्यान अधिक महत्त्वपूर्ण है।

आचारांग में बताया गया है कि राग-द्वेष-रहित वर्तमान क्षण का अनुभव करो। इस प्रकार का अनुभव ध्यान और वही लम्बा होकर समाधि बन जाता है।

आचार्य हेमचंद्र ने लिखा है कि जब तक थोड़ा भी प्रयत्न है, संकल्प की कल्पना है, तब तक लय की प्राप्ति नहीं हो सकती। लय की प्राप्ति के लिए सुखासन में बैठकर समूचे शरीर को शिथिल करो। चित्त की वृत्ति को रोको मत। कमनीय रूप देखते हुए भी, मधुर शब्दों को सुनते हुए भी सुगंधित द्रव्यों को सूंघते हुए भी, सरस रस का आस्वादन लेते हुए भी, मृदु स्पर्शों का अनुभव करते हुए भी, चित्तवृत्तियों को न रोकते हुए भी राग-द्वेष-रहित क्षण का अनुभव करने वाला उन्मनीभाव को प्राप्त हो जाता है।[4]

ये ध्यानसूत्र आवेशशून्य क्षण का अनुभव करने के सूत्र हैं। इनके अनुभव

---

१. समयसार, १८६

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ॥

२. प्रवचनसार, ८० :

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्य लयं॥

३. मोक्ष पाहुड़, ८४।

४. योगशास्त्र, १२।२२-२५।

द्वारा पूर्वार्जित कर्म क्षीण होते हैं और नये कर्म का बंध रुकता है। कर्म क्षीण होते हैं। इसलिए ध्यान द्वारा मानसिक शान्ति और शारीरिक वेदना की उपशांति होती है। नए कर्म का बंध रुकता है, इसलिए ध्यान द्वारा शान्ति और उपशांति में स्थायित्व आता है। ऐहिक और पारलौकिक कोई भी ऐसा फल नहीं जो ध्यान द्वारा प्राप्त न हो सके, पर ध्यान का प्रयोग केवल वीतरागता की सिद्धि के लिए होना चाहिए।

२ ध्यान और कायोत्सर्ग

हम जिस विश्व को देख रहे हैं वह कहीं स्थिर और कहीं तरंगित है। सूक्ष्म दृष्टि या सूक्ष्म उपकरणों से देखें तो पता चलेगा कि जो स्थिर दीख रहा है, वह भी तरंगित है। स्थिति और गति—दोनों वास्तविकताएं हैं पर स्थिति अव्यक्त और द्रव्यगत है, गति व्यक्त है। कोई भी गति द्रव्यशून्य नहीं है और कोई भी द्रव्य गतिशून्य नहीं है। गति स्वाभाविक भी होती है और दूसरे द्रव्य के योग से भी होती है।

हम मनुष्य हैं। हमारे पास चार गतिशील तत्त्व हैं—शरीर, श्वास, वाणी और मन। प्रतिक्षण ये प्रकम्पित हैं। ये नई ऊर्मियों को लेते हैं और पुरानी ऊर्मियों को छोड़ते हैं। हमारा आकाश-मंडल इन ऊर्मियों से ऊर्मिल है, इनके प्रकम्पनों से प्रकम्पित है। ये प्रकम्पन हमारे जीवन का संचालन करते हैं। हमारे द्वारा छोड़े हुए प्रकम्पन दूसरों को प्रभावित करते हैं। दूसरों के द्वारा छोड़े हुए प्रकम्पन हमें प्रभावित करते हैं। हम संक्रमण का जीवन जीते हैं, जहां परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करता है। अप्रभावित कोई नहीं है। पूर्णतः स्वतंत्र कोई नहीं है। अप्रभावित स्थिति और स्वतन्त्रता अप्रकंपन की दशा में ही प्राप्त हो सकती है। ध्यान उसका मुख्य साधन है। प्रकंपन से अप्रकम्पन की ओर जाना ही ध्यान है। शरीर का अप्रकम्पन कायिक ध्यान है। श्वास का अकप्रम्पन आनापान ध्यान है। वाणी का अप्रकम्पन वाचिक ध्यान है। मन का अप्रकम्पन मानसिक ध्यान है।

कायिक ध्यान

शरीर का प्रकम्पन पूर्णतः कभी नहीं रुकता। उसकी ऊर्मियों का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। जब हम स्थिर होकर बैठते हैं तब भी चलता रहता है। फिर शरीर का अप्रकंपन कैसे हो सकता है? यहां अप्रकंपन का प्रयोग सापेक्ष है। यद्यपि शरीर के प्रकंपन पूर्णतः नहीं रुकते, फिर भी हाथ, पैर आदि अवयवों की चेष्टाएं नहीं होतीं, शरीर बाह्यकार में स्थिर हो जाता है तब अप्रकम्पन का एक बिन्दु बनता है। यही कायिक ध्यान है। यह अप्रकंपन का सामान्य बिन्दु है। इसमें मात्रा-भेद होता है। एक व्यक्ति प्रथम

अभ्यास में अपने शरीर के प्रकम्पनों को रोकता है, वह सामान्य स्थिरता होती है। अभ्यास करते-करते वह अप्रकम्पन की सुदृढ़ स्थिति तक पहुंच जाता है। मात्रा-भेद के आधार पर कायिक ध्यान की अनेक श्रेणियां बन जाती हैं।

आनापान ध्यान

श्वास का प्रकम्पन भी पूर्णतः नहीं रुकता। अन्तर में प्राण का प्रवाह चालू रहता है। हमारे शरीर के रोमकूप सूक्ष्म आनापान को ग्रहण करते हैं। हम नथुनों के द्वारा जिस आनापान को ग्रहण करते हैं उसे मंद किया जा सकता है, रोका जा सकता है। आनापान ध्यान का प्रथम बिन्दु श्वास को मंद करने का अभ्यास है। स्वस्थ मनुष्य का श्वास जिस गति से चलता है उसमें मंदता लाना, उसके प्रकंपनों को कम करना इस दिशा में पहला प्रयत्न है। इस प्रयत्न में दो बातें मुख्य हैं—

१. श्वास की संख्या को कम करना।

२. प्राणवायु की मात्रा को कम करना।

मृदु-मंदता में श्वास दीर्घ हो जाता है। मध्य-मंदता में प्राणवायु की मात्रा कम हो जाती है। अति-मंदता में महाप्राण की स्थिति घटित होने लग जाती है, श्वास-निरोध या कुंभक सहज ही हो जाता है।

वाचिक ध्यान

जैसे शरीर और श्वास की ऊर्मियां निरन्तर प्रवाहित रहती हैं वैसे वाणी की ऊर्मियों का प्रवाह निरन्तर नहीं रहता। हम जब बोलने का प्रयत्न करते हैं तभी उनका प्रवाह होता है। बोलने की आकांक्षा और उसका प्रत्यन नहीं करना ही उन प्रकम्पनों को रोकना है। यही वाचिक ध्यान है।

मानसिक ध्यान

मन के तीन मुख्य कार्य हैं—स्मृति, मनन और कल्पना। अतीत की स्मृति, वर्तमान का मनन और भविष्य की कल्पना होती है। हम जो मनन और चिन्तन करते हैं उसकी आकृतियां बनती हैं। ये आकृतियां मनन समाप्त होने पर आकाश-मंडल में फैल जाती हैं। हमारे मस्तिष्क के भीतर भी वे अपना प्रतिबिम्ब छोड़ जाती हैं जिसे हम धारणा, वासना या अविच्युति कहते हैं। यह धारणा हमारे स्मृति-कोष्ठों मे संचित रहती है। जब कभी कोई निमित्त मिलता है, हमारे स्मृति-कोष्ठ जागृत हो जाते हैं, मन गतिशील हो जाता है।

जब हम मनन करना चाहते हैं तब मानसिक ऊर्मियों का प्रवाह चालू हो जाता है। जितने समय तक हमारा मनन चलता है, उतने समय तक वह प्रवाह भी चालू रहता है।

हम स्मृति और मनन के आधार पर कल्पना करते हैं, उस समय भी मन की ऊर्मियां प्रवाहित हो जाती हैं।

स्मृति को रोककर मानसिक ऊर्मियों को किसी एक विषय में प्रवाहित कर देना मानसिक ध्यान है। इस ध्यान में मानसिक प्रकम्पन समाप्त नहीं होते। किन्तु उनकी गति एक दिशा में हो जाती है और जब तक वह गति एक दिशा में रहती है तब तक मानसिक ध्यान बना रहता है। जैसे ही मानसिक ऊर्मियों का प्रवाह अनेक दिशाओं में गतिशील होता है, ध्यान भंग हो जाता है।

क्या प्रकम्पनों को रोका जा सकता है ?

कोई भी शरीरधारी प्राणी प्रकम्पनों को सर्वथा नहीं रोक सकता। हमारी शारीरिक चेष्टाओं का कारण पेशी-मंडल है। दो प्रकार की पेशियां होती हैं—ऐच्छिक और अनैच्छिक। ऐच्छिक पेशियों को हम अपनी इच्छा के अनुसार गति दे सकते हैं। अनैच्छिक पेशियों पर हमारी इच्छा का अधिकार नहीं होता। वे अपनी चेष्टा करने में स्वायत्त होती हैं। हम जब शरीर को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं, शरीर के प्रकम्पनों को रोकने का प्रयत्न करते हैं तब हमारा प्रयत्न ऐच्छिक पेशियों की चेष्टाओं को रोकने का ही होता है। हाथ, पैर आदि को गति देना हमारी इच्छा के अधीन है और इनकी गति को रोकना भी हमारी इच्छा के अधीन है इसलिए जब हम ध्यान करना चाहते हैं तब सबसे पहले हाथ, पैर आदि को किसी विशेष मुद्रा में स्थापित कर उनकी गति को स्थगित कर देते हैं। यह कायिक ध्यान मानसिक ध्यान की मुद्रा हो जाता है। हृदय, फुफ्फुस, आमाशय, यकृत और आंत—इन अवयवों की चेष्टा हमारी इच्छा के अधीन नहीं है। इसलिए हम ध्यान की स्थिर मुद्रा में बैठे होते हैं तब भी इनका प्रकम्पन चालू रहता है। मस्तिष्क और स्व-संचालित स्नायु-मंडल की क्रिया भी चालू रहती है। इसलिए शरीर को स्थिर और मन को एक ध्येय पर प्रवाहित करने पर भी इन्द्रियों के अनुभव, सुख-दुःख, सर्दी गर्मी आदि की संवेदना होती रहती है। यह ध्यान की पहली भूमिका है।

शरीर की स्थिरता, श्वास की मंदता और मन की एकाग्रता के असंख्य स्तर हैं। उन सब स्तरों का प्रतिपादन करने के लिए हमारे पास कोई भाषा

नहीं है। शारीरिक स्थिरता की तीन अवस्थाएं होती हैं—गाढ़, गाढ़तर और गाढ़तम। चतुर्थ अवस्था में शरीर की प्रवृत्ति निरुद्ध हो जाती है।

श्वास-मंदता की तीन अवस्थाएं होती हैं—सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर। चतुर्थ अवस्था में श्वास निरुद्ध हो जाता है।

मानसिक एकाग्रता की तीन अवस्थाएं होती हैं—सघन, सघनतर और सघनतम। चतुर्थ अवस्था में वह निरुद्ध होता है।

प्रारम्भिक तीन अवस्थाओं में प्रकम्पन अल्प, अल्पतर और अल्पतम होते जाते हैं। चतुर्थ अवस्था में वे स्थगित हो जाते हैं।

कायिक ध्यान को कायोत्सर्ग भी कहा जाता है। इसकी प्रथम अवस्था में स्थिरता प्राप्त होती है उसका वर्णन किया जा चुका है। इसकी दूसरी अवस्था में कुछ विशिष्ट परिवर्तन घटित होते हैं—

- स्नायु-तंत्र प्रभावित होता है।
- मस्तिष्क की तरंगों और मस्तिष्कीय विद्युत् में परिवर्तन आ जाता है।
- ऑक्सीजन की खपत कम हो जाती है।
- अनैच्छिक मांसपेशियों पर नियन्त्रण स्थापित होने लगता है और स्वायत्त स्नायुतन्त्र का उत्तेजना स्तर गिर जाता है। उसमें स्थिरता आती है। शारीरिक कार्यक्षमता बढ़ जाती है।
- श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है।
- जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है।
- सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों को सहने की क्षमता बढ़ती है।
- चित्त की एकाग्रता सुलभ हो जाती है।

इसकी तीसरी अवस्था में स्थूल शरीर का बोध क्षीण हो जाता है। सूक्ष्म शरीर की सक्रियता बढ़ जाती है। कभी-कभी वह स्थूल शरीर को छोड़कर बाहर चला जाता है। उस स्थिति में सूक्ष्म पदार्थ दृष्ट होने लग जाते हैं। इन्द्रियों का अनुभव क्षीण हो जाता है।

इसकी चतुर्थ (निरुद्ध) अवस्था में आत्मा के चैतन्यमय स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। श्वास की मन्दता का सम्बन्ध कायोत्सर्ग और मानसिक एकाग्रता—इन दोनों से है। कायिक स्थिरता का सम्बन्ध श्वास की मन्दता और मानसिक एकाग्रता—इन दोनों से हैं। मानसिक एकाग्रता का सम्बन्ध काया की स्थिरता और श्वास की मन्दता—इन दोनों से है। इसलिए शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों की व्याख्या इनमें से किसी एक के माध्यम से नहीं की जा सकती। कायिक स्थिरता से होने वाले परिवर्तन का जो प्रतिपादन किया गया है, वह एक सापेक्ष प्रतिपादन है।

- मानसिक ध्यान की प्रथम अवस्था में स्नायविक तनाव कम होते हैं।
- प्रसन्नता बढ़ती है।
- इससे शारीरिक और तनावजन्य रोग शांत होते हैं।
- मानसिक कार्यक्षमता और सहिष्णुता का विकास होता है।
- मनोवृत्तियों और मानसिक व्यवहारों में परिवर्तन होता है।
- आदतें बदलती हैं।

वैज्ञानिक शोध से प्राप्त निष्कर्ष भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। स्टैनफर्ड रिसर्च इंस्टिट्यूट के डॉ० लियोन ओटिस ने १९७२ में एक कंट्रोलयुक्त शोध कार्यक्रम में ५७० ध्यानियों की जांच की। इनमें ४९ अफीमची थे, और उनमें से ३५ ने छह महीने के ध्यान का अभ्यास करने के बाद अफीम छोड़ दी।

इसकी दूसरी अवस्था में ईर्ष्या, विषाद, शोक, दुश्चिन्ता आदि-आदि राग-द्वेष से उत्पन्न होने वाले मानसिक दुःख क्षीण हो जाते हैं। मैत्री, समभाव आदि गुण विकसित हो जाते हैं।

इसकी तीसरी अवस्था में सर्दी-गर्मी आदि का संवेदन और मानसिक संस्कारों के मूल क्षीण होने लग जाते हैं।

इसकी चतुर्थ अवस्था में कष्टों से विचलन और भय सर्वथा नहीं होता। सूक्ष्म तत्त्वों (Invisible Substances) का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। मोह या भ्रम की स्थिति समाप्त हो जाती है। शरीर और आत्मा का भेदज्ञान स्पष्ट हो जाता है। जितने संयोग हैं वे सब पृथक्-पृथक् दीखने लग जाते हैं। सब प्रकार के विजातीय तत्त्वों का विसर्जन करने की क्षमता तीव्र हो जाती है। कहीं भी आसक्ति का भाव नहीं रहता।

प्रकम्पनों के हेतु और उनका निरोध

प्रकम्पन के मूल हेतु दो हैं—राग और द्वेष। ये दो प्राणिमात्र की मौलिक मनोवृत्तियां हैं। इनके द्वारा वस्तु-जगत् के प्रति आकर्षण और विकर्षण होता है। कुछ वस्तुओं के प्रति प्रियता का भाव होता है और उनके प्रति हम आकर्षित हो जाते हैं। कुछ वस्तुओं के प्रति अप्रियता का भाव होता है और उनके प्रति हम विकर्षित हो जाते हैं। यह आकर्षण और विकर्षण की चेतना प्रकंपन पैदा करती है।

रागचेतना माया और लोभ—इन दो रूपों में प्रकट होती है। द्वेष-चेतना क्रोध और अभिमान—इन दो रूपों में प्रकट होती है। इन मनोवृत्तियों

के चार-चार स्तर हैं।

क्रोध चेतना के चार स्तर

१. **चिरतम**—पत्थर की रेखा के समान।
२. **चिरतर**—मिट्टी की रेखा के समान।
३. **चिर**—बालू की रेखा के समान।
४. **अचिर**—जल की रेखा के समान।

मान चेतना के चार स्तर

१. **कठोरतम**—पत्थर के खम्भे के समान।
२. **कठोरतर**—अस्थि के खम्भे के समान।
३. **कठोर**—कठोर—काष्ठ के खम्भे के समान।
४. **मृदु**—लता के खम्भे के समान।

माया चेतना के चार स्तर

१ **वक्रतम**—बांस की जड़ के समान।
२. **वक्रतर**—मेढ़े के सींग के समान।
३. **वक्र**—चलते बैल की मूत्रधारा के समान।
४ **प्रायःऋजु**—छिलते बांस की छाल के समान।

लोभ चेतना के चार स्तर

१. **गाढतम**—कृमि रेशम के समान।
२. **गाढतर**—कीचड़ के समान।
३. **गाढ**—खंजन के समान।
४. **प्रतनु**—हल्दी के रंग के समान।

इन चारों मनोवृत्तियों की चेतना को एक शब्द में 'कषाय चेतना' कहा जाता है। इसके प्रथम स्तर के प्रकंपनों के होते हुए ध्यान की स्थिति नहीं बनती।

कषाय-चेतना के प्रथम स्तर के प्रकम्पनों को शान्त या क्षीण करने वाला व्यक्ति ध्यान की प्रथम अवस्था (सम्क्त्व चेतना) को प्राप्त करता है।

कषाय-चेतना के दूसरे स्तर के प्रकम्पनों को शांत या क्षीण करने वाला व्यक्ति ध्यान की दूसरी अवस्था (व्रत चेतना) को प्राप्त करता है।

कषाय-चेतना के तीसरे स्तर के प्रकम्पनों को शांत या क्षीण करने वाला

व्यक्ति ध्यान की तीसरी अवस्था (अप्रमत्त चेतना) को प्राप्त करता है।

कषाय-चेतना के चौथे स्तर के प्रकम्पनों को सर्वथा शांत या क्षीण करने वाला व्यक्ति ध्यान की चौथी अवस्था (वीतराग चेतना) को प्राप्त करता है।

इन सब अवस्थाओं में शरीर और मन की जिन स्थितियों का निर्माण होता है, वे पहले बताई जा चुकी हैं।

प्रकम्पन-निरोध का अभ्यास-क्रम

प्रकम्पन उत्पन्न होने के दो हेतु हैं—वस्तु का योग और कषाय-चेतना। हम किसी वस्तु को देखते हैं और हमारे मस्तिष्क में प्रकम्पन शुरू हो जाते हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द—इन सबका बोध या अनुभव प्रकम्पनों के द्वारा ही होता है। कभी-कभी वस्तु की उपस्थिति के बिना, केवल कल्पना के द्वारा भी प्रकम्पन उत्पन्न हो जाते हैं। वैज्ञानिक इलेक्ट्रोड के द्वारा भी प्रकम्पन उत्पन्न करते हैं। कभी-कभी आंतरिक संस्कारों के उद्‌बुद्ध होने पर प्रकम्पन स्वतः शुरू हो जाते हैं। इस प्रकार का हमारा जीवन प्रकम्पनों का जीवन है। प्रकम्पन ही संसार है। प्रकम्पन ही सुख-दुःख है। इन प्रकम्पनों की स्थिति में चैतन्य की वास्तविक सत्ता का अनुभव नहीं होता।

ध्यान का मुख्य कार्य है—प्रकम्पनों की तीव्रता को कम करना। जीवन और प्रकम्पनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन रहे और प्रकम्पन न रहे, ऐसा हो नहीं सकता। हमारे जीवन में जितने परिवर्तन होते हैं, जितनी अवस्थाएं घटित होती हैं, वे सब प्रकम्पनों के द्वारा ही होती हैं। ध्यान करने वाला सबसे पहले प्रकम्पनों को रूपान्तरित करता है। इस रूपान्तरण की प्रक्रिया को भावना कहा जाता है। उसके चार प्रकार हैं—ज्ञान-भावना, दर्शन-भावना, चारित्र-भावना और वैराग्य-भावना। जिस व्यक्ति को आत्मा, मनो-वृत्ति और शरीर के भेद का ज्ञान, वस्तुजगत् के प्रति जिसका दृष्टिकोण यथार्थ, आचरण समभावपूर्ण और विषयों के प्रति अनासक्त भाव हो जाता है वह प्रकंपनों को रूपान्तरित करना शुरू कर देता है। राग और द्वेष से होने वाले मानसिक प्रकम्पन स्नायविक तनाव उत्पन्न करते हैं। राग उत्सुकता उत्पन्न करता है। उत्सुकता से कंठमणि का स्राव अनियमित हो जाता है। वैराग्य में मन की सम स्थिति रहती है। घृणा की भावना करने वाला बुरे प्रकम्पन उत्पन्न करता है। उनसे शरीर और मन—दोनों रुग्ण होते हैं। मैत्री की भावना करने वाला अच्छे प्रकम्पनों को उत्पन्न करता है। उनसे शरीर

स्वस्थ और मन प्रसन्न होता है। आकाशमंडल में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के परमाणु फैले हुए हैं। अच्छी भावना करने वाला अच्छे परमाणुओं को आकर्षित करता है। फलतः उनसे वह लाभान्वित होता है। बुरी भावना करने वाला बुरे परमाणु को आकर्षित करता है। फलतः वह शारीरिक और मानसिक विकृतियों को उत्पन्न करता है। अज्ञान, मिथ्यादृष्टि, असंतुलित मनोभाव, राग और द्वेष के संस्कार बहुत प्रबल होते हैं। वे प्रतिपक्ष भावना से एक साथ ही नहीं टूट जाते। किन्तु ज्ञान आदि की भावना का बार-बार प्रयोग करने से क्रमशः क्षीण होते हैं। जिसे ध्यान के विषय में ज्ञान नहीं होता, उसके प्रति दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता, वह उससे लाभान्वित नहीं हो सकता। इस दृष्टि से संस्कारों को रूपान्तरित करना ध्यान की पहली उपेक्षा है।

भावना (सम्यक्त्व चेतना और व्रत चेतना) का अभ्यास-क्रम

हम शरीर और मन की चंचलता, श्वास और स्नायुतंत्र की उत्तेजना से होने वाले परिणामों को जानें और साथ-साथ शरीर और मन की स्थिरता, श्वास और स्नायुतंत्र की शांतता से होने वाले परिणामों को जानें। अधिक सक्रियता, उत्तेजना और श्वास की तीव्रता जीवनीशक्ति को क्षीण करती है। इसके विपरीत स्थिरता, एकाग्रता और शांति जीवनी-शक्ति, कार्यक्षमता और मानसिक सन्तुलन को बढ़ाती है। यह बोध हमारी मानसिक क्रिया को अपने-आप रूपान्तरित कर देता है। एकाग्रता के प्रति हमारा आकर्षण बढ़ जाता है।

सामान्यतया हम प्रकम्पनों को ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। प्रकम्पन के साथ मन जुड़ता है तब हमें रसानुभूति होती है। हम मन को प्रकम्पनों के साथ न जोड़ें, प्रकम्पनों को देखें, मन को द्रष्टा बना दें। इन क्षणों में जिस शांति, अनाशक्ति, मैत्री और सत्य का अनुभव होगा, वह अपने दृष्टिकोण को रूपान्तरित कर देगा।

हमारे शरीर में कभी सुख का संवेदन होता है और कभी दुःख का। हमें कभी सर्दी का अनुभव होता है और कभी गर्मी का। हम अनेक द्वन्द्वों का संवेदन करते रहते हैं। अनुकूल संवेदन होने पर हर्ष होता है और प्रतिकूल संवेदन होने पर विषाद होता है। हम इस प्रकार की चेतना का निर्माण करें कि जिससे संवेदन होने पर भी हर्ष और विषाद न हो। हम शरीर में घटित होने वाली घटनाओं को यथार्थतः जानें, किन्तु उनके प्रति प्रियता और

अप्रियता का भाव न जोड़ें। यह अभ्यास हमारे आचरण को मूलतः बदल देता है। फिर हमारा आचरण इन द्वन्द्वों की संवेदना से संचालित नहीं होता। उसकी गति अपने लक्ष्य की दिशा में स्वतंत्र हो जाती है।

हमारा सबसे अधिक अनुराग शरीर के प्रति होता है। उसका अनुराग ही दूसरी वस्तुओं में अनुराग उत्पन्न करता है। अनुराग का मूल स्रोत शरीर है, वस्तुएं नहीं। उस अनुराग को तोड़ने के लिए हम शरीर के परिवर्तनशील स्वरूप का अनुचिंतन करें, उसकी अनुप्रेक्षा करें, उसे निडरता से देखें। जन्म, बचपन, यौवन, बुढ़ापा और मृत्यु—एक ही शरीर की इन सब अवस्थाओं को देख जाएं। इसी प्रकार वस्तुओं के नश्वर स्वभाव का भी अनुचिंतन करें। इस अभ्यास से वैराग्य अपने-आप उत्पन्न हो जाता है।

यह अभ्यास-क्रम निरन्तर, बार-बार और श्रद्धापूर्वक किया जाना चाहिए। कादाचित्क और क्षणिक अभ्यास से वांछित परिणाम नहीं आ सकता।

स्थिरता और एकाग्रता (अप्रमत्त चेतना) का अभ्यास-क्रम

ध्यान के मूल तत्त्व हैं—यथार्थबोध, सम्यग्-दृष्टिकोण, अनासक्ति, अनाकांक्षा अभय और सहिष्णुता। ये सब स्थिरता और एकाग्रता में सहायक बनते हैं। कायिक ध्यान का अभ्यास तीन मुद्राओं में किया जा सकता है—

उत्थित (खड़े होकर), निषण्ण (बैठकर), और निपन्न (सोकर)।

उत्थित मुद्रा में कायिक ध्यान करने वाला दोनों पैरों को सटा, दोनों पंजों में चार अंगुल का अन्तर डालकर, दोनों हाथों को घुटनों से सटाकर, शरीर को सम रखते हुए स्थिर हो जाए। आंखें अध-खुली रखे या मूंद ले। श्वास को मंद कर दे। कष्ट का अनुभव न हो तब तक शरीर को शिथिल रखते हुए खड़ा रहे।

बैठकर कायिक ध्यान करने वाला अर्ध-पद्मासन, पद्मासन आदि सरल आसनों की मुद्रा में बैठे बायीं हथेली पर दायीं हथेली रखकर दोनों हाथों को नाभि के पास रखे। शरीर को शिथिल छोड़ दे।

लेटकर कायिक ध्यान करने वाला सीधा लेट जाए। पैरों और हाथों को फैला दे। शरीर को ढीला छोड़ दे।

इस कायिक ध्यान की सफलता के मूल तत्त्व हैं—श्वास की मंदता और शरीर की शिथिलता। शरीर जितना अधिक शिथिल और श्वास जितना अधिक मंद होता है उतना ही कायिक ध्यान सफल होता है।

कायिक ध्यान को कायोत्सर्ग भी कहा जाता है। श्वास को शरीर से भिन्न भी माना जा सकता है और अभिन्न भी माना जा सकता है। जैन आचार्यों ने श्वास की साधना को शरीर की साधना के साथ निरूपित किया है। कायोत्सर्ग और श्वास का गहरा सम्बन्ध है। कायोत्सर्ग का कालमान श्वास से ही निर्धारित किया जाता है, जैसे—आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, पचीस श्वासोच्छ्वास का 'कायोत्सर्ग, सौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग। यह विभिन्न प्रवृत्तियों की विश्रान्ति या विशुद्धि के लिए किया जाता है।

तनावमुक्ति के लिए पन्द्रह मिनट का कायोत्सर्ग पर्याप्त है। ध्यान की सिद्धि के लिए कोई निश्चित कालावधि नहीं है। घंटों, प्रहरों या दिन तक साधक अपनी सुविधा के अनुसार जितना कर सके, उतने समय तक किया जा सकता है। पूर्वअर्जित संस्कारों को क्षीण करने के लिए लम्बे समय तक कायोत्सर्ग करना आवश्यक है।

कायोत्सर्ग के साथ श्वास की क्रिया सूक्ष्म होती है, फिर भी उसका स्वतंत्र अभ्यास करना चाहिए। सामान्यतः स्वस्थ मनुष्य एक मिनट में पन्द्रह-सोलह श्वास लेता है। उसे मन्द और सूक्ष्म करने के लिए एक मिनट में छह श्वास (दस सेकंड में एक श्वास) ले। कुछ सप्ताहों की साधना के बाद एक मिनट में तीन श्वास (बीस सेकंड में एक श्वास) ले और फिर कुछ समय बाद एक मिनट में एक श्वास ले। इस क्रम से श्वास-साधना को आगे बढ़ाया जा सकता है। यह महाप्राण की दिशा में जाने का उपक्रम है। अभ्यास प्रारम्भ करे तब कम से कम पांच मिनट अवश्य लगाए। उसके परिपक्व होने पर अधिक समय भी लगाया जा सकता है।

श्वास को मंद और सूक्ष्म करने का दूसरा प्रकार यह है कि साधक कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्थित होकर मन को नासाग्र पर या ऊपर के होंठ पर दोनों नथुनों के नीचे केन्द्रित करे। मानस-चक्षु से उस स्थान को देखे। आते-जाते श्वास पर मन लगाए। कुछ समय के बाद श्वास अपने आप मंद और सूक्ष्म हो जाता है। कम से कम दस मिनट तक इसका अभ्यास करे।

कायिक ध्यान स्वतन्त्र भी होता है और उसमें मानसिक ध्यान भी किया जा सकता है। मानसिक एकाग्रता के लिए कायिक ध्यान अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए जहां मानसिक ध्यान करना है वहां कायिक स्थिरता और श्वास की मंदता कर लेनी चाहिए।

मानसिक ध्यान का अभ्यास किसी एक आलंबन के आधार पर किया

जाता है। ध्यान-काल में मन की दो क्रियाएं होती हैं—चिंतन और अन्तर्दर्शन। किसी एक विषय पर चिन्तन को प्रवाहित करने पर मानसिक ध्यान बन जाता है। इसे 'विचय ध्यान' कहते हैं। इसके द्वारा पदार्थों के अव्यक्त गुण-धर्मों को व्यक्त रूप में जाना जा सकता है। किसी एक विषय को मानसिक चक्षु से देखना, मन को उन पर केन्द्रित कर देना 'विपश्यना ध्यान' है। इसके द्वारा वस्तु का स्वभाव प्रत्यक्ष है।

'विचय ध्यान' के लिए पहले कायिक ध्यान, आनापान ध्यान और वाचिक ध्यान करे। फिर किसी एक विषय को चुने। मन को उसी विषय पर लगाए रखे। किसी दूसरे विषय पर न जाने दे। प्रमादवश चला जाए तो पुनः उसी विषय पर ले जाए। कम से कम तीन घंटे तक यह अभ्यास चले। यदि तीन घंटे की अवधि में ध्येय की पूर्ति न हो तो दूसरे समय में फिर तीन घंटे अभ्यास करे। इस अभ्यास को तब तक दोहराए जब तक ध्येय की स्पष्टता न हो जाए।

'विपश्यना ध्यान' का प्रारम्भ स्थूल शरीर के आलंबन से किया जाए। जैसे-जैसे मन सूक्ष्म और संवेदनशील होता जाए वैसे-वैसे क्रमशः तैजस शरीर, कर्म शरीर और उनके विविध पर्यायों की 'विपश्यना' की जाए। फिर पुरुषाकार चैतन्य की विपश्यना की जाए।

स्थूल शरीर की विपश्यना के लिए मन को सिर से पादांगुष्ठ तक और पादांगुष्ठ से सिर तक ले जाए। शरीर का कोई भी अवयव ऐसा न रहे जिस पर मन की धारा (प्राण की धारा या चैतन्य की धारा) प्रवाहित न हो। प्रारम्भ में एक-एक अवयव पर मन की धारा ले जाए। अभ्यास की परिपक्वता होने पर एक साथ समूचे शरीर में मन की धारा प्रवाहित करे। यह अभ्यास एक बार में कम-कम-से एक घंटे तक किया जाए। इस अभ्यास-काल में अप्रमाद बना रहे।

हम निरन्तर क्रियाशील हैं। स्थूल शरीर से कभी क्रिया करते हैं और कभी नहीं करते। सूक्ष्म शरीर का क्रिया-चक्र निरन्तर चालू रहता है। उसके द्वारा प्रतिक्षण कर्म का बंध और उदय होता रहता है। बंध उदय का स्पंदन स्थूल शरीर में प्रतीत नहीं होता। किन्तु उदय के स्पंदन तीव्र होकर स्थूल शरीर पर उतरते हैं तब वे प्रकम्पन या संवेदन स्थूल मन की पकड़ में आते हैं। विपश्यना काल में हमारा मन कभी सुख की संवेदना को पकड़ता है और कभी दुःख की संवेदना को पकड़ता है। कभी सर्दी का संवेदन करता है

और कभी गर्मी का संवेदन करता है। विपश्यना-ध्यानी अनुकूल संवेदनों में राग और प्रतिकूल संवेदनों में द्वेष न करे। वह तटस्थभाव से उन्हें अनुभव करे। वह शरीर के कण-कण में चैतन्य का अनुभव करे, ज्ञान-तन्तुओं को जागृत करे।

स्थूल शरीर की विपश्यना का अभ्यास हो जाने पर तैजस शरीर की विपश्यना का अभ्यास शुरू करे। हमारे शरीर में जितनी सक्रियता है वह सब तैजस शरीर (प्राण-शरीर या विद्युत्-शरीर) की है। इसकी विपश्यना करने वाला मन को सूक्ष्म कर उसे प्राण-केन्द्रों में ले जाए। वहां उनकी क्रिया का निरीक्षण करे। ज्योति-दर्शन, विविध रंगों और आकृतियों की वस्तुओं का दर्शन इसी अभ्यास-काल में होता है।

जैसे-जैसे हमारा मन स्थूल से सूक्ष्म होता चला जाता है वैसे-वैसे उसके आलम्बन भी स्थूल से सूक्ष्म होते चले जाते हैं। मन की सूक्ष्मता प्राप्त होने पर हम कर्म शरीर की विपश्यना करें। हमारी सारी स्थूल प्रवृत्तियों, वृत्तियों, संवेदनाओं और संस्कारों के सूक्ष्म अंकन उसमें होते हैं। उन्हें देखने वाला वृत्तियों के मूल स्रोत का पता लगा सकता है।

पुरुषाकार आत्मा की विपश्यना

आत्मा अमूर्त है। मानस-चक्षु से उसे नहीं देखा जा सकता। कुछ लोग मानस-चक्षु से आत्मा को देखने का अभ्यास करते हैं, वह मानसिक कल्पना है किन्तु ध्यान नहीं है। कल्पना में आरोपण होता है और ध्यान में वास्तविकता का बोध, यथार्थ का बोध। जो जैसा है उसका उसी रूप में बोध हो तभी ध्यान सत्य की खोज का माध्यम बन सकता है। कल्पना भ्रम उत्पन्न करती है। वह यथार्थ तक नहीं ले जाती।

आत्मा का पुरुषाकार रूप में ध्यान करने वाला योगी अपने शरीर में आत्मा की कल्पना नहीं करता। किन्तु उसमें चैतन्य का अनुभव करता है। यह अनुभव आत्म-साक्षात्कार की भूमिका तक नहीं ले जाता किन्तु चैतन्य का अनुभव साधक को ऐन्द्रियिक अनुभवों से ऊपर उठा देता है। राग-द्वेष के संस्कार शान्त और क्षीण हो जाते हैं। इस अभ्यास को दिन-रात में अनेक बार दोहराया जा सकता है। जब कभी मन खाली हो तभी उसको इस ध्यान में लगा दिया जाए। जितने समय तक वह इस ध्यान में रहे उतने समय तक उसे उसमें रखा जाए।

चैतन्यानुभव (वीतराग चेतना) का अभ्यास-क्रम

चिन्तन और अन्तर्-दर्शन—मन की ये दोनों क्रियाएं जहां समाप्त हो जाती हैं, मन स्वयं समाप्त हो जाता है। वहां शुद्ध चैतन्य का अनुभव प्रकट होता है। यह वीतराग चेतना का अनुभव है। इसे समाधि भी कहा जा सकता है। इस साधना में अतीत और भविष्य समाप्त हो जाते हैं, केवल वर्तमान क्षण का अनुभव रहता है। वर्तमान का अनुभव दीर्घकाल तक चलता है, वही ध्यान हो जाता है और दीर्घकालीन ध्यान ही समाधि हो जाती है। स्थिर और सुख आसन में बैठे; वर्तमान के संवेदनों या प्रकंपनों को पकड़े; दृढ़तापूर्वक उसे पकड़े रहे। इस अभ्यास से ध्यान की स्थिति बन जायेगी। लम्बे समय तक सधे हुए ध्यान में मन विलीन हो जाता है। मन के विलीन होने पर इन्द्रियां अपने-आप शान्त हो जाती हैं। इन्द्रिय और मन के स्रोत रुक जाने पर शुद्ध चैतन्य का अनुभव शेष रहता है। यह निरालंबन ध्यान है। एकाग्रता या मानसिक ध्यान में कोई-न-कोई आलंवन बना रहता है, फिर यह स्थूल हो या सूक्ष्म। निरालंबन ध्यान में केवल चैतन्य का अनुभव रहता है इसलिए कोई आलंबन नहीं होता। जैन आचार्यों ने इसे नैश्चयिक (वास्तविक) ध्यान कहा है। सालंबन या एकाग्रता का ध्यान व्यावहारिक ध्यान है। निरालंब ध्यान की स्थिति प्राप्त होने पर ध्यान का प्रयत्न नहीं करना होता, वह अप्रयत्न से होता है। एकाग्रता का ध्यान उस तक पहुंचाने के लिए है। इन्द्रिय, मन और कषाय-चेतना के प्रकंपन जैसे-जैसे शान्त या क्षीण होते हैं वैसे-वैसे निरालंबन ध्यान की ओर चरण आगे बढ़ते हैं।

क्या प्रारंभ में निरालंब ध्यान संभव है ?

कुछ साधकों का अभिमत है कि ध्यान का प्रारम्भ निर्विकल्प साधना से किया जाए। यदि निर्विकल्प स्थिति प्राप्त हो तो बहुत अच्छी बात है। पर उस स्थिति का बहुत सावधानी से विश्लेषण कर लेना चाहिए। कहीं ऐसा न हो कि मन की शून्यता को हम ध्यान मान बैठें। जैसे सुषुप्त व्यक्ति के ध्यान नहीं होता, वैसे ही चित्त का व्यापार न होने मात्र से ध्यान नहीं होता। निद्रावस्था ध्यान का अभाव है। जागृत अवस्था में मन की प्रवृत्ति न होना भी ध्यान का अभाव है। नवजात, शिशु, मूर्छित, अव्यक्तचेतना, मत्त और सुप्त—इनका मन प्रायः स्थगित और अव्यक्त होता है। वह ध्यान नहीं होता। किसी आलंबन में प्रगाढ़ रूप से संलग्न होकर निष्प्रकम्प बना हुआ मन ही

ध्यान होता है। आलंबन में मृदु रूप से संलग्न, अव्यक्त और अनवस्थित मन ध्यान नहीं कहलाता। जिस अग्नि में ऊष्मा शेष है वह ईंधन के मिलने पर पुनः प्रज्ज्वलित हो उठती है, उसी प्रकार अव्यक्त मन निमित्त मिलने पर पुनः व्यक्त हो जाता है। निरालंब ध्यान में मन अव्यक्त या स्थगित नहीं होता। वहां वह निरुद्ध हो जाता है। इसलिए वह ध्यान है। ध्यान की दो भूमिकाएं हैं—एक सालंबन ध्यान, जिसमें मन किसी एक आलंबन पर निरंतर प्रवाहित हो जाता है। दूसरा निरालंबन ध्यान, जिसमें मन की क्रिया निरुद्ध हो जाती है, शुद्ध चैतन्य का दीप प्रदीप्त हो जाता है।

जैन साधकों ने ध्यान का क्रम यह बतलाया है कि पहले सालंबन (जिसमें आत्मा से भिन्न किसी वस्तु का आलंबन हो) ध्यान किया जाए। उसका अभ्यास जब परिपक्व हो जाए तब निरालंबन (जिसमें केवल आत्मा या शुद्ध चैतन्य का अनुभव हो) ध्यान किया जाए। सालंबन ध्यान भिन्न-ध्यान है। उसमें ध्याता और ध्येय भिन्न होते हैं। निरालंबन ध्यान अभिन्न ध्यान है। उसमें ध्याता और ध्येय की भिन्नता नहीं होती। जो साधक अपने चैतन्य से भिन्न वस्तुओं के ध्यान को परिपक्व कर लेता है, एकाग्रता को लम्बे समय तक चालू रख सकता है, वह किसी आकुलता के बिना सहज ही आत्म-ध्यान या अभिन्न ध्यान में जा सकता है।

विचय

साधक चेतना-विकास की सर्वोच्च भूमिका तक पहुंचने के लिए ध्यान करता है। वह उन अर्हतों के अनुभव को, जिन्होंने चैतन्य-विकास की विभिन्न भूमिकाओं को पार कर आत्म-साक्षात्कार किया है, आभार मानकर अपनी सुप्त शक्तियों को जागृत करने के लिए तन्मय हो जाता है। आत्मा में अनन्त ज्ञान-दर्शन है, अनन्त आनन्द है, अनन्त शक्ति है। यह हमें ज्ञात नहीं है। हम आज्ञा के सहारे अज्ञात को ज्ञात करने का प्रयत्न करते हैं। यही ध्यान 'आज्ञा-विचय' ध्यान है।

राग-चेतना, द्वेष-चेतना और विविध प्रकंपनों से प्रकम्पित मनोदशा के समय होने वाली ग्रंथियों का विश्लेषण करना, उनके तात्कालिक और दीर्घ-कालिक दोषों पर चिन्तन करना, उनके नव-निर्माण को रोकने का उपाय खोजना 'अपायविचय' ध्यान है।

कर्म-बन्ध या मानसिक ग्रन्थि की प्रकृति, स्थिति, फल-शक्ति, उदीरणा (कर्म की स्थिति और विपाक में) परिवर्तन, एक वृत्ति से दूसरी वृत्ति में

संक्रमण, अज्ञात तल में छिपी ग्रंथियों को ज्ञात तल में लाकर उनका निर्जरण व क्षपण की प्रक्रिया 'विपाक-विचय' ध्यान है।

वस्तु के विभिन्न पर्यायों का अनुचिन्तन 'संस्थान-विचय' ध्यान है।

ध्येय और ध्यान का फल

परमार्थ दृष्टि से ध्यान करने वाले साधक का ध्येय होता है—आत्मा का अनुभव, शुद्ध चैतन्य का अनुभव या आत्म-साक्षात्कार। इस अन्तिम ध्येय तक पहुंचने के लिए माध्यम के रूप में वह एकाग्रता का सहारा लेता है। वह एकाग्रता की निष्पत्ति के लिए अनेक ध्येयों का निर्माण करता है। उन सब ध्येयों को दो वर्गों में संगृहीत किया जा सकता है—द्रव्य ध्येय और भाव ध्येय। जिस वस्तु को ध्यान का आलम्बन बनाया जाता है, वह द्रव्य ध्येय है। ध्यान करने वाले व्यक्ति के मन का ध्येय—सदृश परिणमन होता है, वह भाव ध्येय है। ध्यान जैसे-जैसे स्थिर होता है वैसे-वैसे ध्येय का रूप, ध्येय के पास न होने पर, आलेखित जैसा प्रतीत होने लगता है। ऐसा लगता है मानो वह सामने उपस्थित हो। ध्यान करने वाला ध्यान के बल से शरीर को शून्य बनाकर ध्येय के स्वरूप में प्रविष्ट हो जाता है, तब वह ध्येय जैसा बन जाता है।

ध्यान का फल है—संवर और निर्जरा। संवर का अर्थ है—प्रकंपनों का निरोध। निर्जरा का अर्थ है—पूर्वार्जित आवरणों और प्रकम्पनों की क्षमता। ध्यान से ज्ञानावरण क्षीण होता है, इसलिए सहज ज्ञान प्रस्फुटित होता है। उससे वेदनीय कर्म क्षीण होता है, इसलिए सुख-दुःख के संवेदन नष्ट होते हैं। असाध्य लगने वाली बीमारियां भी नष्ट हो जाती हैं। ध्यान से अन्तराय क्षीण होता है फलतः शक्ति और धृति असीम हो जाती है। उससे मोह क्षीण होता है फलतः कषाय-चेतना समाप्त हो जाती है। कषाय-चेतना को शान्त करने के लिए ध्यान किया जाता है। जैसे-जैसे ध्यान बढ़ता है वैसे-वैसे कषाय-चेतना क्षीण होती है। जैसे-जैसे कषाय-चेतना क्षीण होती है वैसे-वैसे ध्यान बढ़ता है।

भावना

हम भावना के मर्म को समझे बिना ध्यान में सफल नहीं हो सकते, इसलिए ध्याता को सबसे पहले भावना का मूल्यांकन करना चाहिए और एकाग्रता-ध्यान के साथ-साथ उसका प्रयोग भी करते रहना चाहिए। इसके बिना

वासनात्मक भावों का परिष्कार नहीं किया जा सकता। उनका परिष्कार किए बिना ध्यान में वांछित एकाग्रता प्राप्त नहीं हो सकती। वासनात्मक भावों के परिष्कार के लिए, मनोवृत्तियों के परिवर्तन के लिए मनोविज्ञान ने तीन उपाय सुझाए हैं—दमन, विलयन और शोधन। जैन साधना-पद्धति में इन तीनों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

चेतना पर पड़ने वाले किसी दबाव द्वारा किया जाने वाला दमन प्रतिक्रिया पैदा करता है। आन्तरिक चेतना में उत्पन्न विवेक द्वारा जो दमन होता है वह विकार उत्पन्न नहीं करता। यह भावना द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

विलयन के दो प्रकार हैं—निरोध और विरोध। कषाय-चेतना को उत्तेजित करने वाले विषयों में इन्द्रियों का निरोध, कषाय-चेतना का निरोध, अकुशल मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध करने से ये प्रवृत्तियां विलीन हो जाती हैं। जिस वृत्ति को उत्तेजित होने का अवसर नहीं दिया जाता, जिसे लम्बी अवधि तक प्रकट होने का मौका नहीं मिलता, वह अपने-आप विलीन हो जाती है।

एक वृत्ति चालू है। उसके विरोध में दूसरी वृत्ति को चालू करना विरोध है। इस प्रक्रिया में दोनों वृत्तियां परस्पर टकराती हैं। यदि प्रतिपक्ष भावना सशक्त होती है तो पहले की वृत्ति के प्रकट होने में अवरोध हो जाता है। यह प्रतिपक्ष भावना का सूत्र है। उपशम, मृदुता, ऋजुता और संतोष क्रमशः क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रतिपक्ष भावनाएं हैं। इनके अभ्यास से क्रोध आदि की वृत्तियां शांत हो जाती हैं।

वृत्ति का शोधन मार्गान्तरीकरण द्वारा होता है। किसी व्यक्ति में राग प्रबल है, वह उसे छोड़ने में अपने-आपको असमर्थ पाता है। उसकी रागात्मक वृत्ति को एक साथ तोड़ा नहीं जा सकता, उसका मार्गान्तरण किया जा सकता है। किसी पुरुष का किसी स्त्री के प्रति राग है, उसे अर्हत् की भक्ति में बदलकर स्त्री के प्रति होने वाले आकर्षण से मुक्त किया जा सकता है।

राग की तीन भूमिकाएं होती हैं—अप्रशस्तराग, प्रशस्तराग और विराग। अप्रशस्तराग वासनात्मक वृत्ति के प्रति समर्पित होता है। प्रशस्तराग पवित्र आत्मा के प्रति समर्पित होता है। विराग में ये दोनों वृत्तियां क्षीण हो जाती हैं।

भावनाएं असंख्य हो सकती हैं। कुछ मुख्य भावनाएं इस प्रकार हैं :

१. अनित्य भावना—सब संयोग अनित्य हैं।

२. **अशरण भावना**—अपने अस्तित्व के सिवाय कहीं कोई त्राण नहीं है।
३. **संसार भावना**—जन्म-मरण का विवर्त चल रहा है।
४. **एकत्व भावना**—वास्तविक सत्य यह है कि संवेदन के क्षेत्र में हर व्यक्ति अकेला है।
५. **अन्यत्व भावना**—शरीर भी मेरा नहीं है, मुझ से भिन्न है।
६. **अशौच भावना**—इस शरीर से निरन्तर अशुचि का स्रोत बह रहा है।
७. **मैत्री भावना**—प्राणिमात्र के प्रति मैत्री।
८. **प्रमोद भावना**—दूसरों के उत्कर्ष में प्रमोद मानना।
९. **करुणा भावना**—समत्व की बुद्धि और व्यवहार।
१०. **मध्यस्थ भावना**—तटस्थता।

इन भावनाओं का नौका की भांति उपयोग करना है। नदी को पार करने के लिए इनका सहारा लेना है और तट पर पहुंचकर इन्हें छोड़ देना है। राग-द्वेषात्मक वृत्तियों का पार पाने के लिए इनका अभ्यास करना है। वीतरागता के तट पर पहुंचते ही ये छूट जाती हैं।

स्वाध्याय और ध्यान

स्वाध्याय और ध्यान से पूर्वसंचित कर्म क्षीण होते हैं। इसलिए मन की शान्ति चाहने वाला व्यक्ति स्वाध्याय करे। स्वाध्याय में उपयुक्त एकाग्रता प्राप्त होने पर ध्यान करते-करते जब एकाग्रता खंडित होने लगे तब फिर स्वाध्याय में संलग्न हो जाए। इस प्रकार स्वाध्याय और ध्यान की आवृत्ति से मन की शान्ति प्राप्त हो जाती है।

कर्म का आवरण जैसे-जैसे क्षीण होता है वैसे-वैसे मन शान्त होता चला जाता है। आवरण को क्षीण करने के लिए बारह प्रकार का तप विहित है। उसमें मुख्य तप दो हैं—स्वाध्याय और ध्यान। इन दोनों में मुख्य है—ध्यान। 'तप के शेष सब प्रकार ध्यान। इन दोनों में मुख्य है—ध्यान। 'तप के शेष सब प्रकार ध्यान के अंगोपांग हैं'—यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है। आचार्य उमास्वाति के अनुसार परम शुक्लध्यानी की ध्यान-अग्नि में समूचे जगत् के जीवों के कर्म आवरणों को भस्म करने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। ध्यान की क्षमता का यह महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

भगवान् महावीर की साधना-पद्धति के दो तत्त्व हैं—संवर और निर्जरा। आवरण क्षीण होता है और फिर निर्मित होता है। इस क्रम में

मन की शान्ति प्राप्त नहीं होती। उसे प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि आवरण क्षीण हो और वह पुनः निर्मित न हो। निर्जरा का अर्थ है आवरण का क्षीण होना और संवर का अर्थ है आवरण के पुनः निर्माण का निरोध। आवरणों के उपशान्त या क्षीण होने पर संवर अपने-आप होता है। तप से संवर और निर्जरा—दोनों होते हैं। ध्यान एक तप है। उससे नए आवरणों का निरोध और पुराने आवरणों का क्षय—ये दोनों एक साथ निष्पन्न होते हैं। इसलिए ध्यान एक परिपूर्ण साधना है।

ध्यान के मूल सूत्र

१. **आहार**—परिमित भोजन, न बहुत स्निग्ध और न बहुत रूक्ष। कभी स्निग्ध और कभी रूक्ष।

२. **स्थान**—एकान्त स्थान, जहां ध्यान में बाधा उत्पन्न करने वाला वातावरण न हो।

३. **सहायक**—ध्यान का अनुभवी साधक।

४. **ज्ञान-भावना**—ध्यान में सहायक शास्त्रों का स्वाध्याय।

५. **दर्शन-भावना**—मानसिक शान्ति, अनासक्ति, अनुकम्पा और सत्य-निष्ठा।

६. **चारित्र-भावना**—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अभ्यास।

७. **वैराग्य-भावना**—आत्म-स्वरूप के प्रति आकर्षण, वस्तुओं के प्रति विकर्षण, अभय और समभाव।

८. **अप्रमाद**—राग, द्वेष और मोह रहित वर्तमान क्षण का अनुभव। वर्तमान क्षण में जो बोध हो रहा है, जो संवेदन हो रहा है उसे उसी रूप में स्वीकार करना। उसके साथ स्मृति और कल्पना को न जोड़ना, प्रियता और अप्रियता के भाव को न जोड़ना, केवल जानना और देखना।

९. **आसन-विजय**—एक आसन में दीर्घकाल तक बैठने का अभ्यास।

ध्यान की प्रथम भूमिका

१. **कायोत्सर्ग**—कायिक ध्यान।

यह खड़े होकर, बैठकर और लेटकर किया जा सकता है। इसकी साधना का रहस्य है—शरीर की चंचलता और ममत्व का विसर्जन।

२. **सूक्ष्म श्वास**—आनापान-ध्यान।

श्वास पर मन को एकाग्र कर क्रमशः सूक्ष्म करना।

३. मौन—वाचिक-ध्यान।

ध्यान की द्वितीय भूमिका

सालम्बन-ध्यान। इसकी तीन पद्धतियां हैं—
पश्यना, विचय और अनुप्रेक्षा।

पश्यना के पांच प्रकार हैं—

१. श्वास-पर्याय पश्यना।

२. औदारिक-पर्याय पश्यना।

३. तैजस-पर्याय पश्यना।

४. चित्त-पर्याय-पश्यना।

५. कर्म-पर्याय पश्यना।

यह स्थूल दर्शन से सूक्ष्म दर्शन की प्रक्रिया है।

विचय के चार प्रकार हैं—

१. आज्ञा-विचय—अर्हतों की आज्ञा (अनुभवों) के विवेक का निर्णय के लिए चिन्तन की एकाग्रता।

२. अपाय-विचय—क्रोध आदि के संस्कारों तथा उनके हेतुभूत शरीरगत रासायनिक परिवर्तनों के विवेक के लिए चिन्तन की एकाग्रता।

३. विपाक-विचय—कर्म-संस्कार के उदय से होने वाले पर्यायों के विवेक के लिए चिन्तन की एकाग्रता।

४. संस्थान-विचय—पदार्थ मात्र की आकृतियों के लिए चिन्तन की एकाग्रता।

अनुप्रेक्षा के चार प्रकार हैं—

१. अनित्य-अनुप्रेक्षा।

२. अशरण-अनुप्रेक्षा।

३. भव-अनुप्रेक्षा।

४. एकत्व-अनुप्रेक्षा।

ध्यान में होने वाले सुखद और दुःखद संवेदनाओं के प्रति राग-द्वेष का भाव न बने, इस दृष्टि से ध्यान के अन्तराल में अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है।

ध्यान की तृतीय भूमिका

निरालम्बन ध्यान—शुद्ध चैतन्य की पश्यना, केवल चैतन्य का अनुभव जो कषाय की प्रशान्त अवस्था में प्राप्त होता है।

ध्यान के विषय में कुछ निर्देश

१. स्थान

निच्चं चिय जुवइपसुनपुंसगकुसीलवज्जियं जइणो।
ठाणं वियणं भणियं, विसेसओ झाणकालम्मि॥
थिरकयजोगाणं पुण, मुणीण झाणं सुनिच्चलमणाणं।
गामंमि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे व ण विसेसो॥
तो जत्थ समाहाणं, होज्ज मणोवयणकायजोगाणं।
भूओवरोहरहिओ, सो देसो झायमाणस्स॥

—ध्यानशतक, ३५-३७

—मुनि सदा युवती, पशु, नपुंसक तथा कुशील व्यक्तियों से रहित विजन स्थान में रहे। ध्यानकाल में विशेष रूप से विजन स्थान में रहे।

जिन मुनियों ने योग-भावनाओं का अभ्यास कर लिया है और जो उनमें स्थिर हो चुके हैं तथा जो ध्यान में अप्रकम्प मन वाले हैं, उनके लिए जनाकीर्ण ग्राम और शून्य अरण्य में कोई अन्तर नहीं है।

इसलिए जहां मन, वचन और काया के योगों (प्रवृत्तियों) का समाधान (स्वास्थ्य) बना रहे और जो जीवों के संघठन से रहित हो, वही ध्याता के लिए श्रेष्ठ-स्थल है।

२. समय

कालो वि सो च्चिअ जहिं जोगसमाहाणमुत्तमं लहइ।
न उ दिवसनिसावेलाइनियमणं झाइणो भणियं॥

—ध्यानशतक, ३८

—ध्यान के लिए काल भी वही श्रेष्ठ है जिसमें मन, वचन और काया के योगों का समाधान बना रहे। ध्यान करने वाले के लिए दिन रात या वेला का नियमन है नहीं।

३. आसन

जच्चिअ देहावत्था, जिया ण झाणोवरोहिणी होई।
झाइज्जा तदवत्थो, ठिओ निसण्णो निवण्णो वा॥

सव्वासु वट्टमाणा, मुणओ जं देसकालचेट्ठासु ।
वरकेवलाइलाभं, पत्ता बहुसो समियपावा ।।
तो देसकाल चेट्ठानियमो झाणस्स नत्थि समयंमि ।
जोगाण समाहाणं जह होइ तहा (प) यइयव्वं ।।

—ध्यानशतक ३६-४१

—जिस देहावस्था (आसन) का अभ्यास हो चुका है और जो ध्यान में बाधा डालने वाली नहीं है, उसी में अवस्थित होकर ध्यान करे। चाहे फिर वह स्थित—खड़े होकर कायोत्सर्ग आदि करे, निषण्ण—बैठकर वीरासन आदि में अथवा निपन्न—सोकर दण्डायतिक आदि आसन में ध्यान करे।

सभी देश, काल और आसनों में प्रवृत्त उपशान्त दोष वाले अनेक मुनियों ने (ध्यान के द्वारा) केवलज्ञान आदि के ज्ञानों की प्राप्ति की है।

आगमों में ध्यान के लिए देश, काल और आसन का कोई नियम नहीं है। जैसे योगों का समाधान हो वैसे ही प्रयत्न करना चाहिए।

४. आलंबन

आलंबणाइवायणपुच्छण परियट्टणाणुचिंताओ ।
सामाइयाइएयाइं सधम्मावस्सयाइं च ।।
विसमम्मि समारोहइ दढदव्वालंबणो जहा पुरिसो
सुत्ताइयकयालंबो तह झाणवरं समारुहइ ।।

ध्यानशतक, ४२-४३

धर्म्यध्यान के ये आलंबन हैं—

१. **वाचना,**
२. **पृच्छना,**
३. **परिवर्तना,**
४. **अनुचिन्ता।**

ये चारों श्रुत-धर्मानुगामी आलंबन हैं। सामायिक आदि आवश्यक करणीय कार्य चारित्र-धर्मानुगामी आलम्बन हैं।

जैसे मजबूत रस्सी का आलम्बन लेकर मनुष्य विषमस्थान में भी ऊंचा चढ़ जाता है वैसे ही सूत्र (वाचना आदि) का आलंबन लेकर व्यक्ति धर्म्यध्यान में आरूढ़ हो जाता है।

५. क्रम

पहले मानसिक ध्यान; फिर कायिक ध्यान, पहले कायिक ध्यान, फिर मानसिक ध्यान, जैसे सुविधा हो वैसे किया जाए।

ध्येय—रागद्वेषरहितता
ध्याता—अप्रमत्त।

३ ध्यान-साधना का प्रयोजन

संकोच्यापानरन्ध्रं हुतवहसदृशं तन्तुवत्सूक्ष्मरूपं,
धृत्वा हृत्पद्मकोशे तदनु च गलके तालुनि प्राणशक्तिम्,
नीत्वा शून्यातिशून्यां पुनरपि खगतिं दीप्यसानां समन्तात्
लोकालोकावलोकां कलयति स कलां यस्य तुष्टो जिनेशः ।।

—जिस पर अरहन्त देव का अनुग्रह हो जाता है, वह अपने अपानरन्ध्र का संकोच कर प्राण-शक्ति को हृदय-कमल में ले जाता है। वहां से विशुद्धि चक्र में और वहां से तालू में ले जाता है। फिर वहां से शून्यातिशून्य ब्रह्म-रन्ध्र में ले जाता है। वहां ले जाने पर वह कला, जो लोक और अलोक—दोनों को देखने में समर्थ है, विकसित हो जाती है। जिस जिनेश्वर भगवान् की कृपा से यह सब होता है, उस जिनेश्वर भगवान् को मैं नमस्कार करता हूं ?

आज जैन शासन में और तेरापंथ संघ में एक नया सूर्योदय हो रहा है। मैं बहुत वर्षों से कामना करता रहा कि हमारे धर्मसंघ में दो विशेषताएं भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकसित होनी चाहिए—एक उपदेश शाखा के रूप में और दूसरी ध्यान शाखा के रूप में। अगर वृक्ष एक ही शाखा वाला होता है तो सुन्दर नहीं लगता। उसकी सुन्दरता इस बात में है कि उसके कई शाखाएं हैं, मूल एक है। एक मूल पर कई शाखाएं होती हैं तब वृक्ष का विस्तार होता है। यदि सीधा तना होता है तो छाया नहीं होती। छाया का विस्तार शाखाओं के विस्तार पर निर्भर है।

एक वह शाखा है, जो उपदेश देती है, लोगों को समझाती है। उन्हें धर्म के प्रति आकृष्ट करती है। दूसरी शाखा वह है जो ध्यान की गहराइयों में जाकर अन्तर की शक्तियों को खोजती है और प्रस्तुत करती है।

हर मनुष्य अपने आप से परिचित हो, अपनी शक्तियों से परिचित हो, यह अपेक्षित है। हम लोग सचमुच अपने आप से परिचित नहीं हैं, अपनी शक्तियों से भी परिचित नहीं हैं। हमारे भीतर बहुत सारी शक्तियां हैं, किन्तु उन शक्तियों का उपयोग नहीं करते, अतः वे नष्ट हो जाती हैं या व्यर्थ ही चली जाती हैं। एक कहानी है—

एक आदमी के पास एक गाय थी। वह दूध कम देने लगी। सामने विवाह का प्रसंग आ रहा था। उस आदमी ने सोचा, गाय अब दूध कम दे रही है, इसलिए दुहना बन्द कर दूं। क्योंकि अभी बन्द कर दूंगा तो विवाह के अवसर पर सारा का सारा दूध एक साथ ही निकाल लूंगा। उसने गाय को दुहना बन्द कर दिया। बीस दिन बीत गए। विवाह आया। दूध की जरूरत थी। उसने सोचा कि आज एक साथ ही बीस दिनों का दूध निकाल लूं। बड़ा-सा बर्तन लेकर, बहुत बड़ी आशा लेकर गाय के पास गया। जाकर थनों को धोकर दूध दुहना शुरू किया तो दूध की एक धार भी नहीं निकली। गाय जो दूध प्रतिदिन देती थी, वह भी सूख गया। उसने सोचा यह क्या हुआ ? आज तो बीस सेर दूध मिलना चाहिए था परन्तु एक बूंद भी नहीं आ रही है। उसने काफी श्रम किया परन्तु दूध की एक बूंद भी नहीं मिली, जो था वह भी सूख गया।

हमारी शक्तियां भी ऐसे ही सूख जाती हैं। हम काम में नहीं लेते हैं और हमारी शक्तियां क्रमशः समाप्त होती चली जाती हैं। हमारे भीतर जितनी शक्तियां हैं, हम उन्हें जानते ही नहीं और थोड़ा जानते भी हैं तो उनका उपयोग भी नहीं करते। फलतः उनके स्रोत बन्द हो जाते हैं।

साधना का मतलब है अपनी शक्तियों से परिचित होना और उनका नियमित उपयोग करना। हम शांतिपूर्ण जीवन जी सकें, परिस्थितियों के आघात और प्रतिघात में मन को संतुलित और शांत रख सकें और उनका शांति से मुकाबला कर सकें, इतनी स्थिति अगर किसी में आ जाती है तो ध्यान-साधना की बहुत बड़ी उपलब्धि मैं मानता हूं।

४ ध्यान-साधना की निष्पत्ति

हमारे पास मन, वाणी, शरीर, श्वास और कर्म—ये पांच तत्त्व हैं। देह रहेगा, मिटेगा नहीं। जब देह रहेगा तब ये सब रहेंगे। किन्तु इन्हें कुछ विशेष रूप से धारण करना है। **विदेहानां देहः**—हम विदेह रहकर देह को धारण करें। **अवाचां वाक्**—हम अवाक् रहकर वाणी के मर्म को समझें। **अमनसां मनः**—अ-मन रहकर मन के मर्म को समझें। **अनुच्छ्व सतां श्वासः**—हम श्वांस न लेकर श्वास के मर्म को समझें। **अकर्मणा कर्म**—हम अकर्म रहकर कर्म के मर्म को समझें।

अकर्म का कर्म, अनुच्छ्वास का श्वास, अ-मन का मन, अवाक् का वाक् और विदेह का देह—साधना-काल में इनकी निष्पत्ति होनी चाहिए। इनकी निष्पत्ति बाह्य और आंतरिक तप के प्रयोगों से होती है।

भगवान् महावीर तीस वर्ष तक विदेह होकर गृहवास में रहे। देह के होते हुए भी विदेह रहे। जब आदमी विदेह हो जाता है तब शेष सारी बातें प्राप्त हो जाती हैं। मुख्य बात है विदेह की। विदेह होता है तो अवाक् का वाक्, अमन का मन, अनुच्छ्वास का श्वास और अकर्म का कर्म—ये सब स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। हमें अकर्म की स्थिति तक पहुंचना है। साधना का आदि-बिन्दु है विदेह और अंतिम बिन्दु है अकर्म। जब तक शरीर है तब तक कर्म नहीं छूटेगा, फिर अकर्म की बात कैसे संभव है? किन्तु अकर्म में से वही कर्म निकलेगा जो अत्यन्त आवश्यक होगा, अनिवार्य होगा। व्यर्थ का कोई कर्म नहीं निकलेगा। वास्तव में व्यर्थ की प्रवृत्तियां या कर्म ही हमारी शक्ति को क्षीण करते हैं। प्रतिदिन शरीर की हजारों-हजारों कोशिकाएं नष्ट होती हैं। विश्रान्ति की स्थिति में उनका पुनः निर्माण हो जाता है। इस प्रकार विनाश और उत्पादन का संतुलन बना रहता है। मस्तिष्क के विषय में ऐसा नहीं होता। उसकी भी हजारों कोशिकाएं प्रतिदिन नष्ट होती हैं, किन्तु उनका निर्माण पुनः नहीं होता। यह विनाश मनुष्य को मौत की ओर ले जाता है और एक दिन कोशिकाओं के पूर्ण नष्ट होने पर मनुष्य मर जाता है।

जीवन और कर्म की सबसे बड़ी सफलता है अकर्म की प्राप्ति। हम केवल कर्म में विश्वास करते हैं, करने में विश्वास करते हैं किन्तु 'नहीं करने' का कितना बड़ा विज्ञान है, इसे नहीं जानते। अगर 'नहीं करने' का विज्ञान समझ में आ जाए तो करने की शक्ति बढ़ जाती है और अनावश्यक करने की बात भी समाप्त हो जाती है। फिर जो शेष बचता है, वही बचता है जो करणीय है, जो करना जरूरी है। साधना-काल से अकर्म की निष्पत्ति स्पष्ट हो और अधिक से अधिक अकर्म की साधना चले और उसी में से कर्म निष्पन्न हो।

५ आत्मा का साक्षात्कार

एक दिन कोयल चिड़ियों के राजा उकाब के पास गयी। उसने कहा—"मैं बहुत सुन्दर गाती हूं, फिर भी दूसरे पक्षी मुझे बुलबुल का-सा आदर नहीं देते। आप राजा हैं। मैं चाहती हूं कि आप मुझे बुलबुल का स्थान दें।" उकाब ने कहा—"गाना सुनाओ। उसने गाना गाया। उसे अच्छा लगा। वह प्रसन्न हो गया। उसने उसकी तरक्की कर दी और बुलबुल का पद दे दिया। वह प्रसन्न हो गई।

एक वृक्ष पर बैठी वह गाना गा रही थी। दूसरे पक्षी बैठे थे, जैसे ही उसने गाना शुरू किया, वे उठकर जाने लगे। वह फिर उकाब के पास आयी और बोली—"ये पक्षी मेरा अपमान कर रहे हैं। जैसे ही मैंने गाना शुरू किया, उठ-उठकर जाने लगे। यह नहीं होना चाहिए। आपने मुझे बुलबुल का पद दिया है।"

"मैं राजा हूं, किन्तु भगवान् नहीं हूं। तुझे बुलबुल का पद दे सकता हूं, किन्तु बुलबुल बना नहीं सकता।" उकाब ने कहा।

कितनी मार्मिक बात कही गयी। पद दिया जा सकता है, किन्तु बनाया नहीं जा सकता। आत्मा को परमात्मा बनाया नहीं जा सकता। कोई भगवान् भी ऐसा नहीं है, जो आत्मा को परमात्मा बना दे। आत्मा स्वयं अपने कर्त्तृत्व से ही परमात्मा बन सकता है।

आत्मा और परमात्मा ये दो नहीं हैं। वास्तव में एक ही हैं। यदि आत्मा परमात्मा नहीं होती तो आत्मा परमात्मा कभी नहीं बनती। कोयल कभी बुलबुल नहीं बन सकती। आत्मा कभी परमात्मा नहीं बन सकती। आत्मा तभी परमात्मा बनती है, जब आत्मा और परमात्मा दो नहीं हैं, एक ही हैं। यदि उनमें द्वैध होता तो आत्मा कभी परमात्मा नहीं बन सकती। पद देना अलग बात है और बनना अलग बात है।

आत्मा और परमात्मा दोनों एक ही हैं तो फिर ये शब्द दो क्यों? ये एक अपेक्षा से हैं। इनके पीछे एक दृष्टिकोण है। दरवाजा बन्द था, कमरे की स्थिति दूसरी थी। गर्मी थी और हवा नहीं आ रही थी। गर्मी के कारण कोई भीतर नहीं बैठ सकता था। दरवाजा खुल गया। कमरे का रूप दूसरा

हो गया। हवा पहुंच रही है और कोई भीतर भी बैठ सकता है। कमरा कमरा है। पहले भी कमरा था अब भी कमरा है। पहले दरवाजा बन्द था। और अब दरवाजा खुल गया। बन्द कमरा और खुला कमरा—कमरे दो हो गए। पहले था बन्द कमरा और अब हो गया खुला कमरा। बन्द कमरा आत्मा है और खुला कमरा परमात्मा है। कमरे दो नहीं हैं। आत्मा और परमात्मा दो नहीं हैं। एक ही तत्त्व की दो अवस्थाएं हैं।

छोटा-सा बीज था। शक्ति उसमें समाई हुई थी। बीज बोया, फूटा, अंकुरित हुआ, वट वृक्ष बन गया। अब बीज और बरगद दो नहीं हैं। एक ही हैं। बीज अपनी शक्ति को छोटे-से कलेवर में समेटे हुए था ; शक्ति का स्रोत फूटा और एक बड़ा बरगद बन गया। शक्ति का स्रोत जब बन्द होता है, तब आत्मा आत्मा है। स्रोत फूट गया, खुल गया, वह परमात्मा बन गया। जिस उपादान में परमात्मा न हो, वह कभी परमात्मा नहीं बन सकता। दरवाजा बन्द है, वह ठीक नहीं है। उसमें अंधकार है और गर्मी है। उसे खोलना चाहिए। जो बीज है, वह फूटना चाहता है। हमें केवल यही समझना है कि दरवाजे को खोलने का रास्ता क्या है ? खोलने की प्रक्रिया क्या है ? हम गए, किवाड़ खटखटाया और दरवाजा खुल गया। बीज को मिट्टी में बोया, थोड़ा-सा पानी डाला, सींचा और अंकुरित हो गया। वह हाथ कौन-सा है, जो दरवाजे को खोल सके ? वह पानी कौन-सा है कि जिसका सिंचन पाकर बीज अंकुरित हो उठे। केवल हमें यही समझना है। आत्मा और परमात्मा को समझना नहीं है ; क्योंकि ये दो भिन्न नहीं हैं। जो आत्मा को जानता है, वह परमात्मा को भी जानता है। जो परमात्मा को जानता है, वह आत्मा को भी जानता है। आत्मा को जाने बिना परमात्मा को नहीं जाना जा सकता और परमात्मा को जाने बिना आत्मा को नहीं जाना जा सकता। इन्हें जानने-समझने में कोई दूरी नहीं है। दूरी है कि उस दरवाजे को कैसे खोलें ? और उस बीज को कैसे अंकुरित करें ? हमारे पास शक्ति है। हम उस शक्ति का कैसे उपयोग करें ? वह परमात्मा बन चुका जो दरवाजे को खोल सका। जो बीज पेड़ बन चुका, उसे हमें सामने रखना है। योग की भाषा में यह समापत्ति है। जो बनना चाहते हो, उसके साथ तन्मय हो जाओ। यदि परमात्मा बनना है तो हम सारी चित्त की वृत्ति को परमात्मा में लीन कर दें, उसके साथ तन्मय हो जाएं। इस साधना की एक चतुरंग प्रक्रिया है। उसका

पहला अंग है स्थापना, दूसरा है अनुभव, तीसरा है ध्यान और चौथा है विहार।

यदि आप परमात्मा बनना चाहते हैं तो सबसे पहले अपने मन को परमात्मा में स्थापित करें। मन को सब बातों से हटाकर परमात्मा में मन की स्थापना करें।

स्थापना करने के बाद अनुभव करें। आपने मन को परमात्मा में लगाया, अब उसमें इतने रस-विभोर हो जाएं, इतने तन्मय हो जाएं, मन को इस प्रकार बदल दें कि आपको परमात्मा का अनुभव होने लग जाए। जैसे कोई आदमी आम खा रहा है और आम खाते समय उसको आम के रस का अनुभव होता है। उसी प्रकार मन को परमात्मा में लगाया और उसका अनुभव करना शुरू कर दिया, यह होगी हमारी दूसरी क्रिया।

आपने अनुभव किया किन्तु उस अनुभव को स्थायी बनाना है। वह स्थायी कब बनेगा? जब तक विकल्पात्मक स्थिति रहेगी तब तक वह स्थायी नहीं बन सकता। विकल्प आते ही क्रिया बदल जाती है। हम बहुत बार संकल्प करते हैं कि यह काम होना चाहिए, यह नहीं चाहिए। यह बुरा काम है, मैं नहीं करूंगा। यह अच्छा काम है, मैं करूंगा। हम संकल्प करते हैं। किन्तु बहुत बार क्रिया-काल में संकल्प से हट जाते हैं। जब करने का अवसर आता है, उस समय नहीं करने का काम कर लिया जाता है और करने की बात हाथ से छूट जाती है। यह स्थिति कब बनती है? हमारा विकल्प तो है, हमारा संकल्प तो है, हम अनुभव तो कर रहे हैं किन्तु संकल्प के लिए कोई पुष्ट आधार नहीं बना रहे हैं और आधार के बिना उस स्थिति का निर्माण नहीं हो सकता। तो उसके लिए चाहिए कि हमारे मन में विकल्प हुआ, वितर्क हुआ, वह पुष्ट कैसे बने? और जो हमने सोचा, उससे भिन्न मार्ग कभी न आए। इसका उपाय है ध्यान। यहां ध्यान से मतलब है निर्विकल्प समाधि, शुद्ध उपयोग। आप परमात्मा में शुद्ध चैतन्य का अनुभव करने लग जाते हैं। इसका अर्थ है कि आप शुद्ध चैतन्य की स्थिति में पहुंच जाते हैं, संवर की स्थिति में चले जाते हैं। संवर का बल मिला और आपके संकल्प की पुष्टि हो जाती है। शास्त्रीय भाषा में संकल्प या अनुभव निर्जरा है और निर्विकल्प समाधि या शुद्ध उपयोग संवर है। संवर की स्थिति आते ही नए संस्कारों का निर्माण समाप्त हो जाता है, रुक जाता है। उनका रुक जाना और साथ-साथ पुराने संस्कारों की निर्जरा का होना, यह दुहरी पुष्टि है।

इसका अर्थ होता है कि जो हम करना चाहते हैं, वही होगा, दूसरा नहीं होगा। हमने जो करने का संकल्प किया है, वह किया जाएगा और नहीं करने का जो संकल्प किया है, वह नहीं किया जाएगा।

परमात्मा का ध्यान आत्मा को परमात्मा के रूप में बदलना शुरू कर देता है। यह विहार है। विहार का अर्थ है परिणमन। आप परमात्मा का ध्यान करें और आत्मा बने रहें, तो कभी परमात्मा नहीं बन सकते। आप परमात्मा तभी बन सकते हैं जब आप परमात्मा का ध्यान करते समय परमात्मा बनना शुरू हो जाते हैं, परमात्मा बनने लग जाते हैं। जो आत्मा परमात्मा का ध्यान करे और स्वयं परमात्मा न बनने लगे, वह कभी परमात्मा नहीं बन सकता।

भगवान् महावीर ने 'कज्माणं कंडे'—क्रियमाण कृत के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसका अर्थ है, जो काम शुरू किया, वह कर दिया गया। जुलाहे ने वस्त्र बुनना शुरू किया, पहला धागा ताने पर चढ़ाया तो वस्त्र बन गया। कुम्हार ने घड़ा बनाना शुरू किया, मिट्टी को गोंद रहा है, घड़ा बन गया। बड़ा अजीब-सा लगता है। अभी पहला धागा बुना है, वस्त्र कैसे बन गया? अभी मिट्टी गोंदी जा रही है, घड़ा कैसे बन गया? समझ में नहीं आता। किन्तु यह बहुत सत्य है। यदि पहले क्षण में घड़ा नहीं बनता तो अंतिम क्षण में भी घड़ा नहीं बनता। यदि पहले क्षण में कपड़ा नहीं बनता तो अंतिम क्षण में भी कपड़ा नहीं बनता। हम लोग स्थूल दृष्टि से देखते हैं तो घड़ा पककर आंवे से निकल जाता है। तब हम कहते हैं कि घड़ा बन गया है। जब तक आंवे से पककर नहीं निकलता, हम नहीं मानते कि घड़ा बन गया। कपड़ा पूरा बनकर बाहर निकल जाता है, तब हम कहते हैं कि कपड़ा बन गया। पहले नहीं मानते कि कपड़ा बन गया। सचाई यह है कि पहले क्षण में ही कपड़ा बन गया। क्या पहला धागा जो बना, वह कपड़ा नहीं है? क्या मिट्टी के गोंदे बिना घड़ा बन जाता? नहीं बनता। घड़े की क्रिया जो शुरू हो गयी, जितनी हो गयी, उसे क्या हम अस्वीकार कर सकते हैं? कपड़ा नहीं बना, घड़ा नहीं बना, हम नहीं मान सकते। यदि आप पहले क्षण में ही परमात्मा नहीं बनते हैं तो कभी भी नहीं बन सकते।

जिस समय हमने परमात्मा का ध्यान किया, उसी क्षण में हम परमात्मा बन गए। हमारा काम शुरू हो गया। अब कितना समय लगेगा, यह अलग प्रश्न है। परमात्मा बन गए सूत्र की भाषा में कहा जाता है कि जो व्यक्ति

परमात्मा के रूप में दत्तचित्त होता है, वह परमात्मा है। यह हमारा भाव-निक्षेप है। एक व्यक्ति परमात्मा का नाम बोलता है। एक व्यक्ति परमात्मा की प्रतिकृति, प्रतिमा या मूर्ति को देखता है। एक व्यक्ति परमात्मा के वृत्त को जानता है, उसकी योग्यता को जानता है और एक व्यक्ति परमात्मा कौन है, परमात्मा क्या तत्त्व है, इस चिंतन में अपने सारे मन को नियोजित कर देता है, तो यह चौथा व्यक्ति सही अर्थ में परमात्मा बन जाता है। जिसका सारा का सारा ज्ञान, सारी की सारी चेतना परमात्मा में उपयुक्त हो गयी, नियोजित हो गयी, वह परमात्मा है।

हम आत्मा और परमात्मा की दूरी को समाप्त कर देते हैं, अपनी चेतना के नियोजन के द्वारा। बहुत सारे लोग मानते हैं कि आत्मा एक अवस्था में परमतामा बनता है। कितने ही जन्मों के बाद एक स्थिति आएगी और आत्मा परमात्मा बन जाएगा। यह व्यवहार का दृष्टिकोण है। निश्चय नय का दृष्टिकोण यह है कि जिस क्षण तुम परमात्मा में उपयुक्त होते हो, उसी क्षण परमात्मा बन जाते हो। जो व्यक्ति परमात्मा में उपयुक्त है, वह परमात्मा है।

यह बहुत सुन्दर प्रक्रिया है—स्थापना की, अनुभव की, ध्यान की और परिणति की। यह क्रम शुरू होता है स्थापना से और होते-होते परिणति हो जाती है। परिणति का अर्थ है आप परमात्मा बन गए।

हम परमात्मा की स्थिति पर विचार करें। पहले हम देखें भेद की दृष्टि से और फिर देखें अभेद की दृष्टि से। जब हम भेद की दृष्टि से विचार करें तो परमात्मा और आत्मा ये दो हमें मान्य होते हैं। एक है आत्मा और दूसरा है परमात्मा। जब हम अभेद की दृष्टि से देखते हैं तो आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं आता। जो आत्मा है, वह परमात्मा है और जो परमात्मा है, वह आत्मा है। इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता। यह केवल हमारे दृष्टिकोण का अन्तर है।

आत्मा और परमात्मा को हम भेद की दृष्टि से दो मानते हैं. तब प्रश्न होता है कि दो का एकीकरण कैसे किया जाए? हम देखते हैं कि काठ का पट्ट है, काठ के किवाड़ हैं। जब हम भेद दृष्टि से देखते हैं तो पट्ट अलग है, किवाड़ अलग है। किन्तु जब हम वस्तुओं को नहीं देखते, काठ को देखने लगते हैं तो पट्ट भी काठ है, किवाड़ भी काठ है। फिर हमें काठ ही काठ दिखाई पड़ने लग जाता है, वस्तुएं दिखाई नहीं देतीं, भेद दिखाई नहीं देता।

यह हमारे दो दृष्टिकोण हैं। जब हम खण्ड-खण्ड को देखते हैं तब हमें दिखाई देता है—यह ज्ञान है, यह दर्शन है, यह चरित्र है। आत्मा की अनेक अवस्थाएं दिखाई देती हैं। किन्तु जब हम उन सारी अवस्थाओं को छोड़कर देखते हैं, तब हमें केवल चैतन्य ही दिखाई देता है और कुछ भी दिखाई नहीं देता। यह चैतन्य को देखने की जो स्थिति है, वह वास्तव में आत्मदर्शन या आत्म-साक्षात्कार की भूमिका है। इस भूमिका में आ जाने पर ही आत्मा की एकता और अमरता की अनुभूति होती है।

जार्ज बर्नार्ड शा बहुत बड़े उपन्यासकार हुए हैं। हमारी शताब्दी में हुए हैं और कुछ ही वर्षों पूर्व उनका देहावसान हुआ है। वे बहुत बड़े साहित्यकार थे, बहुत बड़े विचारक थे। एक दिन वे कार में बैठकर कहीं जा रहे थे। ड्राइवर साथ में था किन्तु वे स्वयं कार चला रहे थे। उनका दिमाग और कहीं दौड़ रहा था। कार चलाते-चलाते एक प्लाट पर ध्यान गया, उपन्यास की कल्पना में लगे, पात्रों का चयन शुरू कर दिया और उसके साथ-साथ पात्रों का हावभाव भी शुरू कर दिया, संवाद चलने लगा तो स्टियरिंग पर नियंत्रण जाता रहा। ड्राइवर ने देखा, यह क्या हो रहा है? वह तत्काल आगे बढ़ा और स्टेयरिंग को संभाल लिया। ड्राइवर के द्वारा स्टियरिंग पकड़ते ही जार्ज ने कहा, 'क्या बेवकूफी करते हो?' ड्राइवर ने कहा—'महाशय! मैं बेवकूफी नहीं कर रहा हूं।' 'बेवकूफी नहीं तो और क्या कर रहे हो? मैं क्या सोच रहा था, किस प्रकार पात्रों का संवाद चल रहा था और तुमने उसमें विघ्न डाल दिया। तुम नहीं जानते कि यह हमारा ड्रामा कितना महत्त्वपूर्ण होगा, कितना अमर होगा?' ड्राइवर ने कहा—'महाशय! मैं मानता हूं कि आपका यह ड्रामा बहुत अमर होगा, किन्तु मैं नहीं चाहता कि वह अमर बने कि उससे पहले आप अमर हो जाएं।'

मन कितनी अवस्थाओं से गुजरता है। जो मन कार चलाने में था, वह कहां तक पहुंचा। हमारे मन में हजारों-हजारों अवस्थाएं प्रति घंटा घटित होती हैं। एक घंटा में साठ मिनट होते हैं और इन साठ मिनटों में शायद सैकड़ों घटनाएं घटित हो जाती हैं। बहुत कम लोग ऐसे होंगे जिनके मन में हजारों घटनाएं न घटित होती हों। यथार्थ के जगत् में कितनी घटनाएं घटित होती हैं, मैं नहीं कह सकता किन्तु मानसिक जगत् में हजारों घटनाएं घटित होती हैं। भोजन करने में दस-बीस मिनट लगते होंगे, किन्तु इतने ही समय यदि आप लेखा-जोखा करें तो पता चलेगा कि खाने की घटना एक है,

किन्तु उस घटना की मध्यावधि में पचासों-सैकड़ों और घटनाएं घटित हो जाती हैं। इसलिए कि हम बाह्य का साक्षात्कार कर रहे हैं। आत्म-साक्षात्कार से उलटा है अनात्म का साक्षात्कार, बाह्य का साक्षात्कार में लगता है, तब हमारे मन में हजारों-हजारों घटनाएं घटित होती हैं। अकारण भय आ जाता है, अकारण प्रेम आ जाता है, अकारण ही द्वेष आ जाता है और अकारण ही शत्रुता का भाव आ जाता है। कभी भलाई का और कभी बुराई का। चलचित्र पर जितने रूप नहीं उभरते हैं, उससे ज्यादा रूप हमारे मन में चित्रपट पर उभरते हैं।

बाह्य साक्षात्कार में बड़ी परेशानियां होती हैं। मन में जितने विकल्प उठते हैं, उतना ही मन अशान्त होता है। आदमी थक जाता है और बेचैनी का अनुभव करता है तब आदमी सोचता है कि दूसरे रास्ते से चलना चाहिए। वह आत्म-साक्षात्कार का रास्ता है। हम अनावश्यक विकल्पों को समाप्त कर देते हैं, यह आत्म-साक्षात्कार की पहली भूमिका है। हम कुछ विकल्पों को पुष्ट कर देते हैं, भावना करते हैं। उन्हें हम कहते हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। यह हमारी दूसरी भूमिका है। इसका अर्थ यह हुआ कि जहां हजारों-हजारों अनचाही बातें आती थीं, वे समाप्त हो जाती हैं और कुछेक बातों पर मन टिक जाता है। यह भी अंतिम मंजिल नहीं है। हम आगे बढ़ते हैं, आत्मा-साक्षात्कार की तीसरी भूमिका की ओर। वहां जाने पर शुद्ध आत्मदर्शन होता है, जहां विकल्प का स्पर्श ही नहीं है। कोई विकल्प नहीं, कोई विचार नहीं, कोई संज्ञा नहीं और कोई अनुभव नहीं। चैतन्य के सिवाय दुनिया में कुछ और है, इसका अनुभव भी खो जाता है। केवल चैतन्य, केवल चैतन्य और केवल चैतन्य। यह वह स्थिति है, जहां सोना अपने मल को खो देता है, मिट्टी अपने विकारों को खो देती है। मिट्टी के सैकड़ों रूप बनते होंगे—सिकोरा, घड़ा आदि-आदि। किन्तु वहां केवल मिट्टी रह जाती है। इस स्थिति में हम जितनी देर रहते हैं, उतनी देर आत्मा का साक्षात्कार होता है। जहां चेतना खण्डित होती हैं, वहां आनन्द भी खण्डित होता है और शक्ति भी खण्डित होती है। जहां चेतना अखण्ड, वहां शक्ति अखण्ड और आनन्द अखण्ड। जब हम शुद्ध चैतन्य का अनुभव करते हैं, तब केवल चैतन्य का ही अखण्ड अनुभव नहीं होता, उसके साथ-साथ शक्ति और आनन्द का भी अखण्ड अनुभव होने लग जाता है। मन की सारी दुर्बलताएं—भय, दुश्चिंताएं, भविष्य की बुरी कल्पनाएं एक साथ

समाप्त हो जाती हैं, कोई आती ही नहीं। और शक्ति का इतना अनुभव होता है कि बस अब पाने को कुछ भी शेष नहीं। जब मन में कोई विषाद ही नहीं रहता तो कोरा आनन्द ही आनन्द रहता है। जानना, देखना, शक्ति का अनुभव और आनन्द का अनुभव—ये हैं चैतन्य की चार क्रियाएं। अचेतन में ज्ञान नहीं, दर्शन नहीं और आनन्द नहीं, केवल शक्ति है। शक्ति बहुत है। चेतन में अनन्त शक्ति है तो जड़ में भी अनन्त शक्ति है। पर चेतन में शक्ति के अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है। इसलिए उसका साक्षात्कार ही सत्य का साक्षात्कार है।

• आत्मा शुद्ध चैतन्य है तो आत्मा का काम केवल शुद्ध चैतन्य में रहना ही है तो जानना-देखना भी है ?

एक घर में अनेक कमरे हैं, सीढ़ियां हैं, खिड़कियां हैं, पचासों-पचासों भाग मिलकर एक घर बना है। एक पथिक रास्ते से गुजर रहा है। वह देखता है कि यह घर है। दूसरा आदमी भीतर आता है और वह एक-एक खण्ड को बारीकी से देखता है। पथिक को भी घर का बोध होता है और भीतर जाने वाले को भी उसका बोध होता है। बोध दोनों को होता है। किन्तु एक करता है भेद की दृष्टि से और एक करता है अभेद की दृष्टि से। जो भेद की दृष्टि से करता है, उसे सारे खण्ड ज्ञात हो जाते हैं। जो अभेद की दृष्टि से करता है, उसे घर है' इतना-सा बोध होता है। जहां हम भेद-चेतना से काम लेते हैं, वहां हमें सारी बातें ज्ञात हो जाती हैं। जब हम देखते हैं तो अभेद चेतना से ही देखते हैं। देखते समय हमारी चेतना भेदात्मक नहीं होती। मैंने किसी को देखा और उसी समय जान लिया कि कोई आदमी है। यह अभेद चेतना है। अब मैं देखूंगा कि इसके सिर है, कान है, आंखें हैं और बहुत कुछ है। यह भेदात्मक चेतना है। दर्शन होता है अभेदात्मक चेतना से और ज्ञान होता है भेदात्मक चेतना से।

शुद्ध चेतना होती है, वहां ज्ञेय की बात समाप्त हो जाती है। वहां केवल चैतन्य का अनुभव होता है। हम चैतन्य के द्वारा दूसरी वस्तुओं को जानते हैं, किन्तु चैतन्य को भुला देते हैं। शुद्ध चेतना होती है, वहां दूसरी वस्तुओं की बात गौण हो जाती है, वहां केवल आत्मानुभूति होती है, अपने अस्तित्व की अनुभूति होती है, ज्ञेय की अनुभूति गौण हो जाती है। इन दोनों बातों को समझें—एक ज्ञेयानुभूति और एक आत्मानुभूति, चैतन्यानुभूति।

० हम ज्ञेय को जान रहे हैं और जिनके द्वारा जान रहे हैं, उसको जानना आत्म-साक्षात्कार है, इसे स्पष्ट कीजिये ।

एक आदमी गाड़ी में बैठा चला जा रहा है । गाड़ी चल रही है और वह जा रहा है । वह यह सोचे कि मैं गाड़ी से जा रहा हूं तो भी चलता है और यह न सोचे कि मैं गाड़ी से जा रहा हूं तो भी चलता है । सोचे तो भी चलता है और नहीं सोचे तो भी चलता है । क्योंकि गाड़ी चल रही है । हमारा ज्ञान एक प्रकार से गाड़ी है, माध्यम है, साधन है । आंखें खुली हैं। सामने कोई आकृति आयी, हम जान लेते हैं । क्योंकि आंख का काम है, सामने वाले को देख लेना । मैं ज्ञान के द्वारा उसे जान रहा हूं तो भी जान लेता हूं और यह नहीं सोचूं तो भी जान लेता हूं । हम ज्ञेय को जानते हैं, इसीलिए वस्तु का साक्षात्कार करते हैं, आत्मा का साक्षात्कार नहीं करते । जिसके द्वारा देख रहा हूं, वह मेरा ही एक अंग है । आप ज्ञान पर अपने ध्यान को टिकाइए । जैसे ही ध्यान ज्ञान पर टिकता है, ज्ञेय के साथ आने वाली विकृति बन्द हो जाती है । ज्ञेयानुभूति के स्थान पर ज्ञानानुभूति या चैतन्यानुभूति का अभ्यास हो जाए तो ज्ञेय का बोध तो होगा किन्तु ज्ञेय के साथ-साथ, उस नाले के साथ-साथ जो गंदगी आने वाली है, वह सारी मिट जाएगी । पानी जाने के लिए जो नालियां बनाई जाती हैं, उनमें जालियां भी लगा दी जाती हैं । वे जालियां पानी रोकने के लिए नहीं लगाई जातीं अपितु इसलिए लगाई जाती हैं कि केवल पानी जाए, उसके साथ कूड़ा-करकट न जाए । अगर हम जाली नहीं लगाएंगे तो ज्ञेय के साथ कूड़ा-करकट आएगा, उसे कौन रोकेगा ? जब हम साधना की दृष्टि से देखते हैं तो उसके साथ जाली लगा देते हैं कि अब कोरा ज्ञेय आ सकता है, कूड़ा-करकट नहीं आ सकता । यह है हमारी चैतन्यानुभूति और आत्म-साक्षात्कार ।

हम कहते हैं कि आत्मा का साक्षात्कार हो गया, प्रभु का साक्षात्कार हो गया । फिर कोई विकार नहीं आता । आप आंख मूंद लेते हैं तो विषय का द्वार बन्द हो जाता है; आंख खुलते ही विषय सामने आ जाता है । जब परमात्मा को देख लेते हैं, आत्मा को देख लेते हैं तो फिर न विषय सताता है है और न विकृतियां ही । चैतन्यानुभूति का मतलब है, प्रभु का दर्शन या आत्मा का दर्शन ।

६ साधना का मूल्य : आंतरिक जागरूकता

एक बाहरी जगत् की और एक आंतरिक जगत् की, एक बाहरी सुषुप्ति की और एक भीतरी सुषुप्ति की—ये दो अवस्थाएं हैं चेतना की। प्रायः हम लोग बाहरी जगत् में बहुत जागृत रहते हैं और भीतरी जगत् में बहुत सुप्त या मूर्च्छित जैसे रहते हैं। हमारा मन बाहर की दुनिया में काम करता है, हमें लगता है कि हम जागरूक हैं, हम सजग हैं, ऐसा अनुभव करते हैं। बहुत सारी बातें जो घटित होती हैं वे हमारी बाहरी चेतना या बाहरी मन के स्तर पर ही होती हैं। इसीलिए हमारा वैसा संस्कार भी निर्मित हो गया है। साधना की सारी प्रक्रियाएं जो चलती हैं वे हैं अन्तर्मन की प्रक्रियाएं, बाहरी मन की सुषुप्ति की अवस्थाएं। बाहरी मन को सुषुप्त कर देना है, निष्क्रिय कर देना है। एक तन्द्रा या मूर्च्छा की अवस्था है, चेतना के निर्लोप हो जाने की अवस्था है। ऐसा अनुभव हो कि चेतना सुप्त हो गई है और अन्तर्मन काम नहीं कर रहा है। यही मूर्च्छा की अवस्था है।

बाहर की सजगता और भीतर की मूर्च्छा एक विकल्प है। दूसरा विकल्प है बाहरी मूर्च्छा और भीतरी मूर्च्छा। तीसरा विकल्प है बाहरी मूर्च्छा और भीतरी सजगता, जागरूकता।

पहला विकल्प है—बाहरी सजगता और भीतरी मूर्च्छा। यह ध्यान नहीं है और न आत्मविश्वास का कोई मार्ग है। नितान्त व्यावहारिक जगत् की प्रक्रिया है।

दूसरा विकल्प है—बाहर का मन भी मूर्च्छित और आन्तरिक चेतना भी मूर्च्छित। यह भी ध्यान की स्थिति नहीं है। इसमें हमारी चेतना का कोई विकास नहीं होता। इसे आप किसी मादक द्रव्य के द्वारा भी कर सकते हैं।

जिन देशों में बहुत स्नायविक तनाव है, टेन्शन बहुत ज्यादा है, उन दशों के लोग, उद्योग-प्रधान देशों के लोग अपने तनाव को कम करने के लिए मादक द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। ऐसी गोलियां भी चल पड़ी हैं, उनका उपयोग भी करते हैं और उस उपयोग की स्थिति में फिर एक बार सब-कुछ भूल जाते हैं।

ऐसी स्थिति में चले जाते हैं कि वहां शांति का अनुभव उन्हें होता है। वे यह अनुभव करते हैं कि वे विचित्र दुनिया में चले गए हैं। कोई-कोई तो इस प्रकार की विचित्र बातें बताने लगता है कि मैं अपने पहले जन्म में चला गया हूं। मुझे यह दीखा, मुझे वह दीखा। किन्तु सारा-का-सारा उस मादक द्रव्य की परछाईं में होता है और यह बात हिन्दुस्तान की बहुत सारी साधन-पद्धतियों के साथ भी जुड़ी हुई है। कुछ साधक हैं, वे भांग, गांजा, चरस आदि का प्रयोग चिरकाल से करते रहे हैं। बहुत सारे साधु-संन्यासी भी मादक द्रव्यों का प्रयोग करते हैं। वे मस्ती में रहते हैं, मस्ती में झूमते हैं और दूसरी दुनिया में विचरते रहते हैं। किन्तु वह स्थिति आत्म-विकास में बहुत साधक नहीं है। शायद वे बाह्य परिस्थितियों और बाह्य समस्याओं की विस्मृति प्राप्त कर लेते हैं। वे बाह्य चिन्ताओं, तनावों की विस्मृति होने के कारण मानसिक आराम भी अनुभव करते हैं और ऐसा लगता है कि वे किसी दूसरी स्थिति में पहुंच गए हैं। किन्तु वे आत्म-विकास में कोई साधक नहीं हैं। यह उसका क्षणिक उपयोग है और फिर ऐसा होता है कि हमारे स्नायु मादक द्रव्यों के प्रभाव से इस प्रकार के बन जाते हैं कि अगर दूसरे दिन वे मादक द्रव्य न मिलें तो सारा शरीर टूटने लग जाता है। मन बेचैन हो जाता है। जितनी शांति होनी चाहिए उससे सौ गुना अधिक अशांति हो जाती है।

यह है दूसरा उपक्रम। यह विदेशों में बहुत चल रहा है। आज अमेरिका जैसे देश के विश्वविद्यालयों के छात्रों में मादक द्रव्यों का इस प्रकार प्रयोग चल रहा है कि आप कल्पना भी नहीं कर सकते। यहां जो बहुत सारे हिप्पी, बिटल आदि आ रहे हैं, वे लोग आ रहे हैं जो मादक द्रव्यों का सेवन कर आनन्द के लोक में पहुंच जाने की कल्पना रखते हैं। किन्तु हम इस मार्ग का अनुकरण नहीं कर सकते और इसका हमारी दृष्टि में कोई मूल्य भी नहीं है। उस विस्मृति का, मादक द्रव्य के प्रयोग से वर्तमान समस्याओं या तनावों की विस्मृति का मूल्य नहीं है, क्योंकि उससे अधिक तनाव बढ़ जाता है, और अधिक अशांति बढ़ जाती है।

तीसरा मार्ग है बाहरी सुषुप्ति और भीतरी जागृति का। यह है ध्यान का मार्ग, यह है आत्म-साधना का मार्ग और आत्म-विकास का मार्ग जो कि हमें इष्ट है। हम हृदय का विकास चाहते हैं और यह ऐसा स्थायी मार्ग है कि आपने आधा घंटा भी उस स्थिति का अनुभव किया तो आपके विचार में परिवर्तन आएगा, आपके चिन्तन में परिवर्तन आएगा, आपके कार्यों में

परिवर्तन आएगा और आपके दृष्टिकोण में परिवर्तन आएगा और वस्तु-जगत् के प्रति आपका सारा का सारा दृष्टिकोण बदल जाएगा। आपको देखने की दूसरी दृष्टि मिल जाएगी, आप तब वस्तु को मात्र वस्तु की दृष्टि से देख सकेंगे, और सारी दृष्टियां उससे हट जाएंगी। यह है आत्म-विकास का मार्ग, जागरूकता का मार्ग।

हर साधक को यह ध्यान में रखना चाहिए कि जो भी प्रयोग चले, उसमें आंतरिक जागरूकता बराबर बनी रहे और जिसको यह अनुभव हो कि इस प्रयोग से आंतरिक जागरूकता समाप्त होती है, केवल नींद या तन्द्रा की अवस्था का अनुभव होता है तो वह हमें बताए। हम उस प्रयोग को भी बदल देंगे। उसका कोई लाभ नहीं है। क्योंकि मैं यह अनुभव करता हूं कि विद्युत्-यन्त्रों के द्वारा भी ऐसी स्थिति का निर्माण किया जा सकता है। आजकल हिप्नोटिज्म करने के लिए एक ऐसे यन्त्र का आविष्कार हुआ है, जिसमें से विद्युत् की धारा निकलती है, सातों रंग उसमें से निकलते हैं। उसके सामने आप जाकर बैठ जाइए। पांच-सात मिनट तक आप उसे अपलक देखते रहिए, आप बिलकुल मूर्च्छा में चले जाएंगे। शून्यता में चले जाएंगे। जा सकते हैं। विद्युत् के द्वारा जा सकते हैं। बिजली के ऐसे आहनन होते हैं कि पांच-दस मिनट में बिलकुल आप बेभान हो जाएंगे। पागल लोगों में विचार-प्रसक्ति या संस्कार-प्रसक्ति हो जाती है। एक समझदार आदमी में और एक पागल आदमी में अन्तर क्या होता है? इतना ही अन्तर होता है कि एक समझदार आदमी के मन में विचार आता है और चला जाता है। पागल आदमी ने देखा कि मोटर आ रही है। विचार की प्रसक्ति हो गई। मोटर आ रही है, मोटर आ रही है, यह विचार छूटना उससे मुश्किल हो जाता है। इस विचार को यह निकाल नहीं सकता। जो विचार आए उसे तत्काल निकालने में समर्थ हो, वह समझदार आदमी होता है। जो विचार आए उसे निकाल न सके, उसी में लगातार लग गए, वह होता है पागल। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि पागल में संस्कार-प्रसक्ति होती है। जो आदमी मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होता है, उसमें विचार-प्रसक्ति नहीं होती। वह विचार को बदल सकता है। जब चाहे तब बदल सकता है। उसमें क्षमता होती है। जिसमें यह क्षमता नष्ट हो जाती है, वह पागल हो जाता है।

यह विचार की प्रसक्ति ही सारी कठिनाई उपस्थित करती है। तो फिर मानसिक चिकित्सक पागल के लिए क्या करते हैं? वे यन्त्र के द्वारा, विद्युत्

के प्रयोग के द्वारा उस विचार को भुलाने का प्रयत्न करते हैं जिससे कि वह विचार की प्रसक्ति और संस्कार की प्रसक्ति को छोड़ सके और उसका दिमाग शांत हो सके। इसलिए उसे शून्यता की स्थिति में रखते हैं। किन्तु आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि बिजली के द्वारा किया जाने वाला प्रयोग या मादक वस्तु के द्वारा किया जाने वाला प्रयोग उसे तन्द्रा की स्थिति में ले जाएगा, किन्तु उसकी आंतरिक चेतना बनी ही रहेगी। एक व्यक्ति को क्लोरोफार्म सुंघाकर ऑपरेशन किया जा रहा है, उसे आंतरिक स्मृति भी नहीं रहती। बिलकुल चेतना लुप्त हो जाती है। उसमें कोई भान ही नहीं रहता। यह जो बेभान हो जाने की स्थिति है, यह ध्यान की स्थिति नहीं है। आचार्य पूज्यपाद, राजसेन, हरिभद्र, हेमचंद्र आदि ने एक स्वर से इस बात का समर्थन किया कि अभावात्मक ध्यान जैनों को सम्मत्त नहीं है। अभावात्मक यानी शून्यतात्मक। किन्तु भावात्मक शून्यता ही हमें मान्य है। अभावात्मक शून्यता हमें मान्य नहीं है। जिसे अभावात्मक शून्यता प्राप्त होती है वह मूर्च्छावान् है और मूर्च्छा का मतलब है मोह। हमें मोह को तोड़ना है।

ध्यान की शून्यता का मतलब है—बाहरी शून्यता, वैचारिक शून्यता, विकल्प की शून्यता। अर्थात् चैतन्य की अधिक जागरूकता। हमें करना क्या है? स्थूल मन को निष्क्रिय बनाना है, अवचेतन मन को सक्रिय बनाना है। जब हमारा स्थूल मन सक्रिय होगा, सूक्ष्म मन निष्क्रिय होगा और जब हमारा स्थूल मन निष्क्रिय हो जाएगा तब हमारा अन्तर्मन सक्रिय हो जाएगा। उसे पूरी शक्ति से काम करने का और अपनी शक्ति को प्रकट करने का मौका मिलेगा।

हमारा सारा प्रयत्न यह है कि अन्तर्मन को काम करने का अवसर देना, और वह अवसर तभी दिया जा सकता है जबकि स्थूल मन कों हम बन्द कर दें। उसके कार्य को बन्द कर दें।

हमें तीसरे विकल्प का प्रयोग करना है। व्यवहार में सुषुप्त यानी हमारी बाहरी इन्द्रियां, बाहरी मन बिलकुल सुप्त रहे और भीतर में चेतना की क्रिया बराबर चालू रहे, चेतना का काम होता रहे।

जैन दर्शन का एक सिद्धांत है कि जीव परिणामी है, आत्मा परिणामी है। हमारा परिणमन होता रहता है। हम जब द्रव्य आत्मा, शुद्ध आत्मा या शुद्ध-चेतना रूप में होते हैं, उस समय केवल आत्मा होते हैं, और कुछ नहीं होते, केवल आत्मा। किन्तु और-और पर्याय हमारे चलते हैं, चाहे कषाय का

पर्याय, चाहे चरित्र का पर्याय, चाहे व्यवहार का पर्याय, चाहे आपसी बात-चीत करने का पर्याय, चाहे चेतना की गहराई में जाने के पर्याय, चाहे वापस आने का पर्याय, ये सारे के सारे पर्याय हैं, परिणमन हैं तो हम जिस प्रकार की भावना या धारणा मन में लाते हैं, उसी प्रकार हमारी परिणति शुरू हो जाती है। आप अपने मन में एक बीमारी का संकल्प लेकर बैठ जाइए। आप बीमार नहीं हैं, किन्तु बीस दिन बाद आप अनुभव करेंगे कि आप बीमार हो गए हैं, निश्चित हो गए हैं। क्योंकि सारी चेतना की सक्रियता, सारी ऊर्जा उसी दिशा में प्रवाहित हो जाएगी कि आपको बीमार बन जाना होगा। ठीक उसी प्रकार स्वास्थ्य का संकल्प लेकर बैठ जाइए और पूरी तन्मयता के साथ उस बात को दोहराइए, आपमें शक्ति का संचार होना शुरू हो जाएगा। प्रसन्नता और विपन्नता, हर्ष और शोक—ये द्वन्द्व हैं। जिस द्वन्द्व की ओर सारे संकल्प पूरी निष्ठा और सचाई के साथ काम करने लग जाएंगे, उसी प्रकार की आपकी चेतना की परिणति शुरू हो जाएगी। यह है परिणामित्व का सिद्धांत। इसी के आधार पर सारा का सारा परिणमन होता रहता है। बहुत सारे लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बहुत बीमार था, चल-फिर नहीं सकता था। आचार्यश्री आए और अब वह चलने लगा है। कहां से ताकत आयी? उसके मन में एक संकल्प उत्पन्न हुआ और संकल्प उत्पन्न होते ही उसकी परिणति बदल गई। हमने देखा कि पूज्य कालूगणी की माता छोगांजी बैठ नहीं सकती थीं, काफी वृद्ध थीं। आचार्यश्री आते, या तो बैठ ही नहीं सकती थीं, या छह-छह घंटे बैठी रहतीं। यह इतना आकस्मिक परिवर्तन क्यों आया? क्या शक्ति का अवतरण हो गया? शक्ति का अवतरण नहीं हुआ किन्तु यह संकल्प का विकास है। अपने संकल्प के बल पर ऐसा हो जाता है और आप जानते हैं कि जब आदमी में कोई आवेग का अवतरण होता है, संकल्प की दृढ़ता आ जाती है तो शक्ति का भी सहसा संचार हो जाता है। ये सारे पर्याय हमारे हाथ में हैं और हम भिन्न-भिन्न पर्यायों में परिणत होते रहते हैं। एक व्यक्ति का हाथ घुटनों के पास है। उसने बहुत स्पष्ट चित्र खींच लिया कि उसका हाथ आज्ञाचक्र पर है। अब हाथ या स्थूल मन तो वहां समाप्त हो जाता है। चित्र जैसे-जैसे स्पष्ट हुआ, फिर वह सूक्ष्म मन काम करने लग गया और स्थूल मन ने अपनी क्रिया छोड़ दी। इसका मतलब यह हो गया कि हमारा स्थूल मन निष्क्रिय हो गया, बाहरी मूर्च्छा आ गई और अब सारी की सारी प्रेरणा और शक्ति भीतर से आ रही है।

बाहरी चेतना लुप्त होने पर भी भीतरी चेतना लुप्त नहीं होती है। मैंने कुछ लोगों से पूछा भी था कि आप भीतर में नींद का अनुभव कर रहे थे या जागरूकता का ? उत्तर मिला कि हमारी आंतरिक जागरूकता विद्यमान थी, मौजूद थी, उसमें अन्तर नहीं आया। इसका कारण क्या है ? इसका कारण बताऊं आपको ! एक हमारा स्थूल जगत् है और एक हमारा सूक्ष्म जगत्। स्थूल जगत् में मेरे सामने नीम का पेड़ है, मेरे सामने इतने भाई-बहन बैठे हैं। ये खम्भे हैं, घड़ी रखी है, पट्ट रखा है, यह सारा स्थूल है। मैं देख रहा हूं, इन आंखों से देख रहा हूं। आंखें बन्द कर लूं, मुझे कुछ भी दिखाई नहीं देगा। यह स्थूल जगत् की बात है कि जहां आंख खोलने पर सब-कुछ सामने दिखाई देता है, आंख मूंद लेने पर सारा अस्त हो जाता है। क्योंकि स्थूल जगत् के साथ संपर्क स्थापित करने का माध्यम है हमारा चक्षु। हम स्थूल जगत् के साथ संपर्क स्थापित कर लेते हैं। चक्षु बन्द हुआ, स्थूल जगत् से सारा संपर्क विच्छिन्न हो गया, टूट गया।

दूसरा है हमारा सूक्ष्म जगत्। मैं खड़ा हूं और ठीक मेरे सामने दुनिया भर के सुन्दर से सुन्दर रंग नर्तन कर रहे हैं, नाच रहे हैं। कोई भी दुनिया का रंग ऐसा बाकी नहीं है जो मेरी आंखों के सामने न हो। कोई भी ज्योति के पुंज और परमाणु ऐसे नहीं हैं जो मेरी आंखों के सामने न हों। जितने वर्ण, जितने गंध, जितने रस और जितने स्पर्श इस दुनिया में श्रेष्ठ या अश्रेष्ठ मिलते हैं, वे सारे के सारे मेरी आंखों के सामने नृत्य कर रहे हैं। किन्तु उन्हें आप भी नहीं पकड़ पा रहे हैं, मैं भी नहीं पकड़ पा रहा हूं। और इन आंखों से सौ वर्ष तक देखते चले जाएं, फिर भी नहीं पकड़ पाएंगे। तो फिर हमें क्या करना होगा ? इसके लिए हमें प्राण में मन को सम करना होगा ? जैसे ही प्राण में मन को सम किया और सूक्ष्म जगत् के साथ हमारा संपर्क स्थापित हो गया, फिर आपको रंग दिखाई देंगे, आपको ज्योति दिखाई देगी, विचित्र प्रकार की एक दुनिया दीखने लग जाएगी। यह कोई काल्पनिक दुनिया नहीं है। यह कोई कृत्रिम दुनिया नहीं है। दुनिया तो मौजूद है। हमारे आस-पास में मौजूद है। इतनी विचित्र सृष्टि हमारे आस-पास विद्यमान है किन्तु उसे देखने की क्षमता नहीं थी। हमने सूक्ष्म जगत् में प्रवेश किया और हमारा सूक्ष्म जगत् के साथ संपर्क स्थापित हो गया। अब हमें विचित्र प्रकार की दुनिया दिखाई देने लग गई।

कभी-कभी ध्यान में इस प्रकार के रंगों का दर्शन होता है कि वैसे रंग

इस दुनिया में देखने को कभी नहीं मिलते। इतने सुन्दर और इतने तेज और ज्योतिर्मय कि शायद बाहरी दुनिया में आप इन स्थूल आंखों से देखने का स्वप्न भी नहीं ले सकते। जब हमारा सूक्ष्म जगत् के साथ संपर्क स्थापित होता है, तब ये सारी बातें, घटित होने लग जाती हैं। आपको शब्द भी सुनाई देने लग जाते हैं क्योंकि हर व्यक्ति के मस्तिष्क में या अपर मस्तिष्क में ऐसे यंत्र हैं कि सूक्ष्म बातों को भी सुन सकते हैं। जब अन्तर्-शक्ति काम करने लग जाती है तब ये सारी बातें घटित होने लग जाती हैं। मैं तो यह समझता हूं कि न यह कोई चमत्कार है, न कोई प्रदर्शन है, यह केवल सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करने का एक प्रयोग है, प्राण और मन को सुषुम्ना में ले जाने का प्रयोग है। ले जाने के अनेक रास्ते हैं। उसमें एक रास्ता संकल्प का भी है। संकल्प को सिद्ध कर मन को सुषुम्ना में ले जा सकते हैं। आप अनुभव करते होंगे कि संकल्प के साथ हाथ जब ऊपर जाने लगता है तब करेंट का धक्का-सा आता है। यह प्राणधारा है। जिधर हमारे प्राण की धारा बहने लग जाती है, जिधर हमारा संकल्प जाता है, उधर ही प्राण की धारा का मुक्त प्रवाह हो जाता है। संकल्प के साथ-साथ प्राण जाता है। ठीक भगीरथ के पीछे जैसे गंगा चली थी या आदमी के पीछे-पीछे छाया चलती है, वैसे ही संकल्प के साथ-साथ प्राण की धारा चलती है। जिधर आपने संकल्प कर लिया, उधर ही प्राण की धारा का मुख्य प्रवाह हो जाएगा। प्राण की धारा इतनी तेज हो जाती है कि करेंट का धक्का-सा लगता है, हाथ सहन नहीं कर सकता। मैं स्वयं अनुभव करता हूं कि बहुत बार ऐसा होता है। ध्यान चल रहा है, अकस्मात् ऐसा झटका आता है कि हाथ उठकर ऊपर तक आ जाता है। इस प्रकार उछलता है कि मानो किसी ने आकर झटका दिया है। हमारे भीतर जो तेजस् शरीर है, जो प्राणशक्ति है, उसकी गति तीव्र हो जाती है। वह झटका देती है। यह प्राण का प्रयोग है, संकल्प का प्रयोग है, और मन को विलय का प्रयोग है। मन विलीन हुआ और आप दूसरी दुनिया में पहुंच जाते हैं। आप सूक्ष्म जगत् के साथ संपर्क स्थापित कर लेते हैं और फिर आपको विचित्र प्रकार की अनुभूति होने लग जाती है।

• **ध्यान की स्थिति में कुछ लोग गिर जाते हैं। वे जान-बूझकर गिरते हैं या ऐसा स्वाभाविक रूप से होता है ?**

हमारे शरीर का संचालन करता है मस्तिष्क और बाहरी मन। वह जब शून्य होता है तो गिर भी सकता है। उसे पता है कि मैं गिर रहा हूं किन्तु

संभल नहीं सकता। संभलने की शक्ति भी नहीं रहती, क्योंकि बाहरी मन काम नहीं करता है।

• **मादक वस्तुओं से भी मन की शांति होती है, तब ध्यान के लिए इतना लम्बा समय क्यों लगाया जाए ?**

मादक द्रव्यों के प्रयोग से ऐसी स्थिति का निर्माण होता है, वहां हमारे स्नायुओं पर बुरा प्रभाव पड़ता है। और उस स्थिति के समाप्त होने तक और अधिक कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। यह जो ध्यान की प्रक्रिया है, निरपवाद प्रक्रिया है। इसमें कोई कठिनाई नहीं बल्कि हमारी चेतना को और अधिक विकसित होने के लिए मौका मिलता है। शराब क्यों पीते हैं लोग ? इसलिए पीते हैं कि शराब पी विस्मृति हो गई। बड़ा आराम मिलता है। अब होता क्या है कि कुछ दिन पीने के बाद स्नायुओं को अभ्यास हो जाता है। अब शराब का समय आया और शराब नहीं मिली तो सभी स्नायु तन जाते हैं। शरीर टूटने लग जाता है। यह शराब की विवशता है, मादकता की परन्तु यह हमारी स्वाभाविक शक्ति नहीं है।

• **ध्यान-काल में सुझाव या परामर्श क्यों दिए जाते हैं ? क्या इससे स्थिरता का भंग नहीं होता ?**

जो परामर्श दिए जाते हैं, वे प्रारम्भिक स्थिति में दिए जाते हैं। जब आप में ध्यान की परिपक्वता आ गयी, तब आदेश की कोई आवश्यकता नहीं है। मैं स्वयं अपने मन से ध्यान करता हूं। मुझे कोई आदेश नहीं देता और न उसकी आवश्यकता ही महसूस होती है। किन्तु जिसका मन स्वतः शांत नहीं होता, विकल्प-शून्य नहीं होता, उसमें सुझावों के द्वारा परिवर्तन जल्दी आ सकता हैं। निर्विकल्पता की स्थिति पर आप पांच वर्ष में पहुंच सकते हैं तो इसके द्वारा आप महीने में या और भी जल्दी पहुंच सकते हैं। यह एक जल्दी पहुंचाने का मार्ग है।

दो बातें हैं। एक तो सुझाव दिया जाता है और एक अपने आप सुझाव देना शुरू कर देते हैं। थोड़ी देर में वही क्रिया शुरू हो जाएगी। दोनों क्रियाएं एक हैं, चाहे अपना सुझाव और चाहे दूसरे का सुझाव, कोई अन्तर नहीं है।

३
समाधि

१ सामायिक समाधि

सड़क कीचड़ से लबालब भरी थी। एक मोटर आयी और उसमें फंस गई। कार-चालक ने इधर-उधर देखा। एक आदमी दौड़ा-दौड़ा सहायता के लिए आया। दोनों ने जोर लगाया और मोटर कीचड़ से बाहर निकल गई। मोटर-चालक ने उस आदमी को पांच रुपये दिए और पूछा—'तुम्हें तो बहुत कमाई हो जाती होगी ? रात को और अधिक।' वह बोला—'नहीं, बाबूजी! रात में कोई कमाई नहीं होती, दिन में ही कुछ मिल जाता है।' 'अरे ! ऐसा क्यों ? रात को तो मोटरें और अधिक आती होंगी ?' उसने कहा—'बाबूजी ! रात को तो मैं मेहनत करता हूं। सड़क पर पानी डालता हूं। सुबह तक कीचड़ तैयार हो जाता है और फिर आने-जाने वाली मोटरें फंसने लग जाती हैं, मेरी कमाई प्रारम्भ हो जाती है।

आप देखें, कीचड़ बनाने वाला और कीचड़ से उबारने वाला एक व्यक्ति है। वही फंसाता है और वही निकालता है।

हम भी ऐसा ही करते हैं। स्वयं ही अपनी कार को फंसाते हैं और स्वयं ही उसे निकालते हैं। दोनों साथ-साथ चल रहे हैं। हम स्वयं ही विषमता पैदा करते हैं और स्वयं ही समता का प्रयत्न करते हैं। विषमता पैदा करने वाला भी कोई दूसरा नहीं है और समता पैदा करने वाला भी कोई दूसरा नहीं है। हम समता का प्रयत्न तब करते हैं जब विषमता की मात्रा बढ़ जाती है। वह हमें सताने लग जाती है, तब समता की बात सोचते हैं। हमें लगता है कि समता अच्छी है, उससे बढ़कर दुनिया में कोई अच्छी बात नहीं हो सकती। उसका अपना मूल्य है। मैं समझता हूं कि साधना के क्षेत्र में सर्वाधिक मूल्य किसी का है तो वह है समता का। उससे अधिक किसी का मूल्य नहीं है।

हम साधक हैं। हम साधना करते हैं। साधना का प्रयोजन है—कषाय का विवेक, कषाय को दूर करना। कषाय का अर्थ है—क्रोध, मान, माया और लोभ। यदि हम साधना करते हैं और उनकी निष्पत्ति के रूप में कषाय का विवेक नहीं होता, कषाय की कमी नहीं होती है तो मान लेना चाहिए कि

साधना फलित नहीं हो रही है। यदि कषाय क्रमशः दूर होते चले जा रहे हों तो मान लेना चाहिए कि साधना ठीक दिशा की ओर गतिशील है ; वह क्रमशः सफलता की ओर बढ़ रही है। साधना के फलस्वरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीर की विशिष्ट प्रक्रियाएं भी जागृत होती हैं; किन्तु यह अत्यन्त गौण बात है। इसका कोई आध्यात्मिक मूल्य नहीं है। आध्यात्मिक साधना का सर्वाधिक या एकमात्र मूल्य है—कषाय का विवेक, कषाय का विलगाव, कषाय का उपशमन, कषाय की शांति। यही है समता या सामायिक। एक शब्द में कषाय की कमी ही सामायिक है।

समता का उपासक 'सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि'—इस पाठ का उच्चारण करता है। इसका अर्थ है—'मैं समस्त सावद्य योग (प्रवृत्ति) का प्रत्याख्यान करता हूं, उससे अपने आपको अलग करता हूं।' सावद्य योग का अर्थ है—पापकारी प्रवृत्ति। वह कौन-सी प्रवृत्ति है जो पापकारी है ? जो प्रवृत्ति क्रोध, मान, माया और लोभ से प्रेरित होती है, वह पापकारी प्रवृत्ति है। वह सावद्य योग है। आचार्य मलयगिरि के अनुसार अवद्य का अर्थ है—क्रोध, मान, माया और लोभ। जो अवद्य सहित प्रवृत्ति होती है वह है सावद्य प्रवृत्ति। मूल है कषाय। कषाय-सहित प्रवृत्ति सावद्य होती है। उसका विवेक करना, उसका निरोध करना, वह है सामायिक, समभाव। न इधर झुकाव और न उधर झुकाव। दोनों पलड़े बराबर। जैसे तराजू के दोनों पल्ले बराबर होते हैं, वैसे ही हमारी प्रवृत्ति के दोनों पल्ले जब बराबर होते हैं, न राग और न द्वेष, कहीं कोई विकृति नहीं, तब सामायिक होता है। जब हम सम चलते हैं, तब होता है सामायिक, तब होती है समता की साधना।

सामायिक किसके होता है—यह एक प्रश्न है। प्राचीन गाथा में इसका उत्तर है—

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलिभासियं॥

—सामायिक उसके होता है जो सब प्राणियों के प्रति सम होता है। जिसके मन में कोई विषमता नहीं होती किसी भी प्राणी के प्रति, वह समभाव की साधना में बढ़ता चला जाता है। जहां विषमभाव आ गया, वहां सामायिक नहीं हो सकता। उसका स्व-रूप ही है समभाव।

समभाव का अर्थ है—लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान—इन द्वन्द्वों में सम रहना। जो इनमें सम रहता है उसके

सामायिक होता है।

एक प्रश्न उभरता है कि क्या इन द्वन्द्वों में सम रहना संभव है? क्या यह केवल मानसिक कल्पना ही तो नहीं है? क्या यह संभाव्य भी है? एक ओर यदि हम ऊंचा आदर्श, बहुत ऊंचा आदर्श स्थापित कर लें और उसके गीत गाते चले जाएं, उसका यशोगान करते-करते कभी न ऊबें तो क्या यह हमारी आकाशी उड़ान नहीं होगी? क्या वह मानसिक कल्पना मात्र कहीं होगी? क्या वह केवल श्रेष्ठता का आवरण नहीं होगा? वास्तविकता क्या है? यथार्थ क्या है? क्या ऐसी साधना संभव है? क्या ऐसा हो सकता है कि मनुष्य लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में सम रहे? व्यवहार की भूमिका में यह सर्वथा आकाशीय उड़ान है। यदि हम व्यवहार की भूमिका में जी रहे हैं, चल रहे हैं तो निश्चित मान लेना चाहिए कि यह सारी गाथा केवल आकाशीय उड़ान है। यह कभी संभव नहीं हो सकता कि आदमी लाभ में भी सम रहे और अलाभ में भी सम रहे। यह हो नहीं सकता। जैसे ही कुछ लाभ होगा, प्रसन्नता आएगी। जैसे ही अलाभ होगा, विषण्णता आएगी। यह निश्चित क्रम है। इसमें कोई सन्देह नहीं है, चाहे संबंधित व्यक्ति प्रकट करे या न करे। वर्तमान में तो ऐसे यंत्र भी हैं जो मापकर बता देंगे कि अमुक घटना से आपके मन में प्रसन्नता की मात्रा कितनी बढ़ी है और अमुक घटना से विषाद की मात्रा कितनी बढ़ी है। यह कैसे संभव हो सकता है कि व्यक्ति सुख-दुःख में सम रहे? कभी संभव नहीं है। सुख होगा तो मन आह्लाद से भर जाएगा, विकसित हो जाएगा। दुःख होगा तो मन विषण्ण हो जाएगा, सिकुड़ जाएगा। देखने वाले को भी पता लग जाएगा कि अभी चेहरे पर क्या भाव उभर रहे हैं। क्या घटित हो रहा है। आकृति तो वही है किन्तु भिन्न-भिन्न स्थितियों में उसकी अवस्था भिन्न-भिन्न हो जाती है। आदमी कुछ और का और बन जाता है।

कुछ दिन पहले की बात है। एक आदमी मेरे पास बैठा था। उसको देखते ही दूसरे व्यक्ति ने कहा—'लगता है, तुमने काफी पैसा कमाया है।' उसने कुछ पूछा नहीं किन्तु उसकी आकृति बता रही थी कि उसने पैसा कमाया है। सचमुच उसने काफी पैसा कमाया था। यह होता है। आकृति देखकर बताया जा सकता है कि व्यक्ति घाटे में है या लाभ में। चेहरा स्वयं बता देता है। आकृति स्वयं बता देती है। तो हम यह कैसे मानें कि सुख-दुःख, लाभ-

अलाभ, जीवन-मृत्यु आदि द्वन्द्वों में व्यक्ति सम रह सकता है ? व्यवहार की भूमिका में यह विषमता अवश्य रहेगी । जब लाभ होगा तो प्रसन्नता फूट पड़ेगी और जब अलाभ होगा तो विषाद आ ही जाएगा । सुख होगा तो शरीर विकस्वर हो जाएगा और दुःख होगा तो सिकुड़ जाएगा । यह सामान्य बात है । भगवान् महावीर ने कहा है—इनमें सम रहने वाला सामायिक कर सकता है । वे कोरी कल्पना की बात तो नहीं कह सकते ? मैं कई बार सोचता हूं कि महावीर को इतने कष्ट झेलने पड़े, क्या कोई शरीरधारी व्यक्ति ऐसे कठोर कष्टों को झेल सकता है ? क्या ऐसी स्थिति में कोई समभाव में रह सकता है ? एक आदमी ने उनके कानों में कीलें ठोकीं, गालियां दीं, फिर भी वे प्रसन्न रहे, हंसते रहे । जरा भी उनमें आवेश नहीं आया । यह कैसे संभव हो सका ? किन्तु सोचते-सोचते मुझे यह मिला कि सविकल्प मन में यह संभव नहीं है । मन की सविकल्प अवस्था में वही होगा जो मैंने कहा है । लाभ में सुख होगा, प्रसन्नता होगी और अलाभ में विषाद होगा, विषण्णता होगी । सुख होने पर आह्लाद की अनुभूति होगी और दुःख होने पर कष्ट की अनुभूति होगी । विकल्पयुक्त मन में यही होगा, और कुछ हो नहीं सकता । किन्तु जैसे ही हमने मन को विकल्प से खाली कर दिया, फिर चाहे लाभ हो या अलाभ, सुख हो या दुःख, कुछ भी अन्तर नहीं आएगा । क्योंकि जहां अन्तर आ रहा था, उसे तो हमने समाप्त ही कर डाला । जो अन्तर को पकड़ रहा था, उसे तो हमने नष्ट ही कर दिया । अब अन्तर करे कौन ? अन्तर करने वाला ही नहीं रहा । अन्तर करने वाला था विकल्प । विकल्प-चेतना को समाप्त कर दिया । अब बाहर में जो घटित हो रहा है, उसे पकड़ ही नहीं रहा है तो अन्तर आयेगा कैसे ? अन्तर तो तब आए जब उसे पकड़ने वाला मौजूद हो । पकड़ने वाला तो मर गया, समाप्त हो गया, घर छोड़कर चला गया, अब अन्तर क्या आयेगा ? तो निर्विकल्प अवस्था में रहकर महावीर ने कष्ट सहा था, इसलिए अन्तर नहीं आया । अगर वे सविकल्प अवस्था में रहते तो अन्तर अवश्य आता, फिर चाहे महावीर हो या कोई दूसरा । सम वह रह सकता है, जिसका मन निर्विकल्प होता है । समता और निर्विकल्प अवस्था—दोनों में तालमेल है । हम सामायिक का अनुष्ठान करते हैं और यदि मन को निर्विकल्प नहीं करते तो सामायिक का वह परिणाम, लाभ-अलाभ में सम, सुख-दुःख में सम निन्दा-प्रशंसा में सम, जीवन-मरण में सम, मान-अपमान में सम रहना नहीं होगा । यह स्थिति प्राप्त नहीं होगी, क्योंकि हमने मन को तो खाली किया

नहीं, मन के विकल्पों को छोड़ा नहीं। विकल्प जब तक रहेगा वह उसे पकड़ेगा। सामायिक समाधि तब प्राप्त होती है जब हम मन को निर्विकल्प कर देते हैं। आप यदि ध्यान दें तो देखेंगे कि अशान्ति और विकल्प साथ-साथ जन्म लेते हैं। अशान्ति कोई अलग वस्तु नहीं है। अशान्ति और विकल्प एक साथ पैदा होते हैं। थोड़ा विकल्प बढ़ता है तो अशान्ति भी थोड़ी मात्रा में बढ़ जाती है। इस अवस्था में कुछ भी स्पष्ट रूप से पता नहीं चलता। जब विकल्प तीव्र होता है तब अशान्ति की मात्रा भी तीव्र हो जाती है। विकल्प की मात्रा के साथ-साथ अशान्ति की मात्रा भी बढ़ती जाती है। तब वह अखरने लगता है। वह अशान्ति को मिटाना चाहता है, पर अशान्ति तब तक नहीं मिटती जब तक हमारा विकल्प नहीं मिटता। अशान्ति और विकल्प एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों साथ-साथ चलते हैं। विकल्प को मिटाए बिना अशांति को नहीं मिटाया जा सकता।

साधना में एक बात मुख्य है। वह बात है मन को खाली करने की। सुख-दुःख है क्या ? हमें इस पर सोचना है। हम आज के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में देखें या महावीर के दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में देखें, हमें यह ज्ञात होगा कि हमारा सारा जीवन प्रकम्पनों का जीवन है। बाह्य जगत् में प्रकम्पन हैं, वाइब्रेशन्स हैं और भीतरी जगत् में भी प्रकंपन हैं। प्रकम्पन ही वास्तव में सुख-दुःख पैदा करते हैं। आपके मुंह में कोई चीज गयी। स्वाद आया। स्वाद क्या है—इसे भी समझ लेना है। कोई चीज जीभ पर रखी। सारी जीभ स्वाद नहीं लेती। जीभ के अगले हिस्से पर कुछेक बिन्दु हैं, जो स्वादानुभूति करते हैं। वस्तु का स्पर्श होते ही उनमें प्रकम्पन होता है और तब स्वाद की अनुभूति होने लग जाती है। यदि उनका प्रकम्पन बन्द हो जाये तो आप कुछ भी खा लें, स्वाद नहीं आयेगा। मुनि को आहार किस प्रकार करना चाहिए—इसकी मीमांसा में आगम कहते हैं कि जैसे सांप बिल में सीधा प्रवेश कर जाता है वैसे ही मुनि भी कवल को, मुंह में इधर-उधर घुमाए बिना, सीधा निगल जाए। इसको शास्त्रीय भाषा में 'बिलमिन पन्नगभूए' कहा जाता है। इस अर्थ को हृदयंगम करने में पहले कठिनाई होती थी, परन्तु जब प्रकंपनों के संदर्भ में देखता हूं तो लगता है कि प्रकम्पन पैदा न करने पर स्वाद की अनुभूति नहीं होती। हमारी हर प्रवृत्ति प्रकम्पन की प्रवृत्ति है। सुख कब होता है ? दुःख कब होता है ? केवल वस्तु से सुख या दुःख नहीं होता। वस्तु और प्रकम्पन—दोनों का योग होने पर उसकी अनुभूति होती है।

वस्तुएं प्रकम्पन पैदा करती हैं, उन प्रकम्पनों से हमारा ध्यान जुड़ता है। इन दोनों का योग होता है तब सुख या दुःख का अनुभव होता है। अगर इनका योग न हो, तो न सुख की अनुभूति होती है और न दुःख की अनुभूति होती है। एक आदमी अनमना है, चिंतातुर है या कोई बाहरी रोग से ग्रस्त है या आपत्ति में हैं, उस समय भी वह खाता है, किंतु स्वाद का अनुभव नहीं करता। अनमना होने के कारण उसका ध्यान अन्यत्र केन्द्रित रहता है, इसलिए खा लेने पर भी उसे पता ही नहीं रहता कि उसने कुछ खाया है। अनमाने व्यक्ति को न सुख का अनुभव होगा और न दुःख का अनुभव होगा। प्रकम्पन पैदा हुआ और हमारा ध्यान उस प्रकम्पन से जुड़ गया, तब सुख या दुःख का अनुभव होता है।

प्रकम्पन वस्तु के योग से भी पैदा हो सकता है, कल्पना से भी हो सकता है और वैज्ञानिक पद्धति से भी हो सकता है, यांत्रिक पद्धति से भी हो सकता है। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'साइटर' ने प्रकम्पनों का सूक्ष्मतम अध्ययन किया। उसने उन प्रकम्पनों के आधार पर एक यंत्र बनाया। उसका नाम रखा 'विद्युत् वाहक इलेक्ट्रॉन'। उस यंत्र से संबंधित एक तार एक चूहे के माथे में लगाया और एक बिजली का बटन उसकी टांग के पास लगा दिया। बटन को दबाते ही चूहे में हरकतें होने लगीं। परिणाम यह आया कि चूही को देखकर उसके मन में जैसे प्रकम्पन पैदा होते थे, वैसे ही प्रकम्पन बटन के दबाने से होने लगे। वैज्ञानिक दिन भर बटन दबाता रहा और चूहे में वैसी हरकतें होती रहीं। अन्त में चूहा थककर चूर हो गया। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि घटना से जो प्रकंपन पैदा होते हैं, वैसे ही प्रकम्पन यंत्रों के द्वारा भी पैदा किये जा सकते हैं।

कल्पना में जो रस है, वह सही घटना में नहीं है। कल्पना में होता क्या है? जो सही घटना में प्रकम्पन पैदा होते हैं, वे कल्पना में भी पैदा होते हैं। 'मानसिक भोग' और क्या है? वह प्रकम्पन ही तो है। सुख का अनुभव होता है प्रकम्पन से; फिर चाहे वह प्रकम्पन यथार्थ वस्तु से हो या विद्युत्वाही किसी यंत्र से हो। मुख्य बात है—प्रकम्पन पैदा करने की। हमारे भीतर भी प्रकंपन पैदा होते हैं और उनके साथ ध्यान जुड़ने के कारण हमें सुख-दुःख की अनुभूतियां होती हैं।

सामायिक का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है प्रकम्पनों को समाप्त करना। प्रकम्पनों को बन्द कर देना, उत्पन्न न होने देना, यह है समभाव। इसे 'संवर'

भी कहा जा सकता है।

साधना की दो स्थितियां हैं—संवर और निर्जरा। निर्जरा के लिए एक शब्द है—विधूननम्'—प्रकम्पित कर देना। जैसे पक्षी पंखों को हिलाकर सारे रज:कणों को धुन डालता है, हिला डालता है, वैसे ही जो निर्जरा करने वाला है वह अपनी सत्प्रवृत्ति के द्वारा कर्मरजों को धुन डालता है, प्रकम्पित कर, झाड़कर साफ कर देता है। निर्जरा प्रकम्पन की प्रक्रिया है। इसमें व्यक्ति अवांछनीय प्रकंपनों के प्रति, वांछनीय प्रकंपन पैदा कर, शक्तिशाली प्रकम्पन पैदा कर उसको समाप्त कर देता है, पुराने संग्रह को समाप्त कर देता है।

दूसरी प्रक्रिया है संवर की। इससे प्रकम्पन बन्द हो जाते हैं। सामायिक संवर की प्रक्रिया है। इसमें प्रकंपन निरुद्ध हो जाते हैं, शान्त हो जाते हैं। जैसे ही मन समभाव की स्थिति में जाता है, वैसे ही प्रकम्पन बंद हो जाते हैं। जब प्रकंपन बंद हो जाते हैं तब चाहे लाभ हो या अलाभ, सुख हो या दु:ख, निंदा हो या प्रशंसा, हमारे लिए कुछ भी नहीं है। क्योंकि उन प्रकम्पनों को ग्रहण करने वाले द्वार को तो हमने बन्द कर दिया। खिड़की बन्द कर दी, अब चाहे आंधी चले या तूफान, भीतर कुछ भी नहीं आयेगा। सामायिक समाधि प्रकम्पनों को बन्द कर देने की प्रक्रिया है। उस समय में ऐसी समाधि घटित होती है कि जिस समाधि पर कोई आंच नहीं आती। कोई भी बाहर की स्थिति उसमें क्षोभ पैदा नहीं कर सकती। सामायिक के लिए तीन बातें जरूरी हैं—

१. मन की शिथिलता—मन को विकल्पों से खाली कर देना।

२. शरीर की शिथिलता—शरीर को तनावों से मुक्त कर देना।

३. प्रकम्पनों का अग्रहण।

शरीर की चंचलता ही सारे प्रकम्पनों का मूल कारण है। तत्त्व की दृष्टि से विचार करें तो प्रवृत्ति वास्तव में एक ही है और वह है शरीर की। हम कहते हैं कि प्रवृत्तियां तीन हैं—मन की प्रवृत्ति, वचन की प्रवृत्ति और शरीर की प्रवृत्ति। श्वास की प्रवृत्ति को हमने प्रवृत्ति माना ही नहीं। यथार्थ में प्रवृत्तियां तीन नहीं हैं, एक ही है। वह है शरीर की प्रवृत्ति। मन और वचन की जो प्रवृत्ति है, उसका काम है—शरीर के द्वारा प्राप्त सामग्री को छोड़ देना। बाहर से कुछ भी लेना, यह सारा का सारा काम शरीर का है। इसलिए वास्तव में प्रवृत्ति एक शरीर की ही है। ये दो योग—मन का योग

और वचन का योग—तो गौण हैं। प्रवृत्ति मात्र के तीन अंग हैं—लेना, परिणमन करना और छोड़ना। ग्रहण, परिणमन और विसर्जन—ये तीनों काम एक शरीर के ही होते हैं। मनोयोग और वचनयोग का काम केवल विसर्जन है, ग्रहण या परिणमन नहीं है। ग्रहण करने का कार्य कामयोग का है, शरीर की प्रवृत्ति का है। मनोवर्गणा के पुद्गल और वचन वर्गणा के पुद्गल—इनका ग्रहण भी कामयोग के द्वारा ही होता है।

शरीर मूलभूत वस्तु है। शरीर की चंचलता छूटती है तो सब कुछ ठीक हो जाता है। प्रकम्पन भी कम हो जाते हैं। सामायिक समाधि का मूल कारण है शरीर की स्थिरता। सामायिक के बत्तीस दोष माने जाते हैं। शरीर को हिलाना-डुलाना, सहारा लेना, चंचलता करना, आदि-आदि सामायिक के दोष हैं। सामायिक में शरीर स्थिर होना चाहिए। शरीर जितना स्थिर और शांत होगा उतनी ही सामायिक समाधि प्राप्त होगी, सिद्ध होगी। शरीर चंचल रहेगा तो कुछ भी नहीं बनेगा, सामायिक में शरीर स्थिर और मन खाली होना चाहिए। तीनों बातें साथ में होती हैं तब सामायिक समाधि निष्पन्न होती है।

शरीर को शिथिल करना, मन को खाली करना और प्रकम्पनों को ग्रहण न करना, न उत्पन्न होने देना—यह है सामायिक की पद्धति या सामायिक समाधि का उपाय।

केवल जान लेने, उच्चारण कर देने या उपदेश दे देने से समता सम्पन्न नहीं होती। हम जो चाहते हैं, वह निष्पन्न नहीं होता। वह होता है क्रिया के द्वारा। सिद्धि के लिए हमारे आचार्यों ने तीन उपाय बतलाए हैं—क्रिया, मंत्र और औषध। क्रिया का अर्थ है—एकाग्रता, स्थिरता। तीन घंटे तक एक विषय पर एकाग्रता करें तो एकाग्रता की सिद्धि मानी जाती है। इसका नाम है क्रिया की सिद्धि। यह प्रथम बार में ही नहीं हो जाती। अभ्यास इस दिशा में हो कि हमें उस सिद्धि की स्थिति तक पहुंचना है। जब साधक एक घंटे की एकाग्रता साध लेता है, तब आगे क्या करना है, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि उसे अपना मार्ग स्वयं दीखने लग जाता है। एक विषय पर एक घंटा एकाग्र होना मामूली बात नहीं है। यह कठोर साधना से ही फलित होने वाली सिद्धि है। जो इस स्थिति का स्पर्श कर लेता है उसके लिए कोई उपदेश आवश्यक नहीं होता। 'उवदेसो पासगस्स णत्थि'—द्रष्टा के लिए उपदेश आवश्यक नहीं होता। वह साधक तो उस स्थिति में चला

गया जहां उसे कोई भी उपाय विचलित नहीं कर सकता। पूर्णसिद्धि तीन घंटे से प्राप्त होती है। तीन घंटे तक इस प्रकार की सामायिक करें और उस समभाव में एकाग्र हो जाएं उस क्रिया से समता की सिद्धि होगी। यह बहुत कठिन प्रक्रिया है। यदि बड़े लक्ष्य को प्राप्त करना है तो उसकी प्राप्ति का साधन छोटा नहीं हो सकता।

दूसरी बात है—मंत्र के द्वारा सिद्धि। मंत्र की सिद्धि के लिए भी वही बात है। मन्त्र का जप भी तीन घण्टे तक पहुंच जाए तो सिद्धि हो सकती है।

तीसरी बात है—औषधि के द्वारा सिद्धि। यह सरल है। वनस्पति जगत् का भी बड़ा चमत्कार है। इसके द्वारा भी सिद्धि होती है। अभी तक वनस्पति का उतना मर्म हमें ज्ञात नहीं है। हमें ही क्या, विश्व के बहुत लोगों को भी यह ज्ञात नहीं है कि किस प्रकार की वनस्पतियों के द्वारा उन सिद्धियों को प्राप्त किया जा सकता है। ग्रंथों में अनेक प्रकार के वर्णन मिलते हैं पर जब तक उनका ठीक प्रयोग न हो जाए, परीक्षण न कर लिया जाए, तब तक यही मानना पड़ेगा कि ग्रन्थों में अतिशयोक्तियां बहुत हैं, प्रयोग और परीक्षण के बाद ही निष्कर्ष सामने आ सकता है।

ये तीन साधन हैं। वनस्पति के विषय में हमारी जानकारी अल्प है, इसलिए इसे छोड़ दें तो दो ही साधन रह जाते हैं-एक क्रिया का और दूसरा मंत्र का। इन दोनों साधनों के द्वारा समभाव का अभ्यास किया जा सकता है। मैं यह नहीं कहता कि आप एक साथ तीन घंटे का अभ्यास या एक घंटे का अभ्यास कर लें। प्रारम्भ में आप मन को निर्विकल्प करने के संकल्प से बैठें। आधा या एक मिनट तक मन में कोई विकल्प न आए—ऐसा अभ्यास प्रारम्भ करें। उस अभ्यास-दशा में भी आप स्वयं अनुभव करेंगे कि उस समय आपके मन में सुख-दुःख का कोई भाव नहीं है। बाहर की घटना का कोई प्रभाव नहीं है। यदि पांच मिनट तक मन खाली रह सकता हो, कोई विकल्प न आता हो तो बाहर में कुछ भी घटित क्यों न हो, आप पर उसका असर नहीं होगा। यह स्थिति होगी निरोध की कि इधर से किवाड़ बन्द कर दिया, उधर क्या हो रहा है कुछ भी पता नहीं चलेगा।

कुंभक में यह स्थिति घटित होती है। आप कुंभक के द्वारा या बिना कुंभक किए ही, अभ्यास के द्वारा मन को खाली कर दें, सुना कर दें। चलते हुए भी ऐसा कर सकते हैं। मन को खाली कर आप कहीं भी जाएं, वहां क्या

हो रहा है, उसका भान नहीं होगा।

सामायिक की साधना शांति और मानसिक संतुलन की साधना है। यह कषाय-मुक्ति की साधना है। सामायिक की सिद्धि के लिए आप इन उपायों को स्मृति में रखें—आप मन को खाली करें। शरीर का शिथिलीकरण करें, श्वास को रोककर मन को खाली करें। यह बार-बार करें। दिन में कई बार करें। ऐसा करने पर सामायिक समाधि या समायिक के द्वारा समाधि या सामायिक में समाधि क्या होती है, वह अपने आप ज्ञात हो जाएगा।

२ विनय समाधि

नेपोलियन बोनापार्ट ने कहा था–"मेरे शब्दकोश में 'असंभव' जैसा शब्द है ही नहीं।" इस बात को बहुत मूल्य दिया जाता रहा है। किंतु ऐसा कहने का साहस एक राजनेता ही कर सकता है, साधक नहीं। 'कुछ भी असंभव नहीं'—मनुष्य यह कह नहीं सकता। जहां मनुष्य के कर्त्तृत्व की प्रेरणा है, वहां यह निश्चित है कि कुछ संभव है और कुछ असंभव। दोनों साथ-साथ चलते हैं। सब कुछ असंभव भी नहीं है तो सब कुछ संभव भी नहीं है। यदि असंभव जैसा कुछ भी नहीं होता तो नेपोलियन आज भी विद्यमान होता। हर आदमी बूढ़ा बनता है, संभव नहीं है कि वह सदा जवान ही रहे। हर आदमी बीमार बनता है, संभव नहीं है कि वह सदा निरोग ही रहे। हर आदमी मरता है, संभव नहीं कि वह सदा जिंदा ही रहे।

'संभव और असंभव सब कुछ है, पर मेरे शब्दकोश में कुछ भी असंभव नहीं'—यह अहं के वातायन से ही निकल सकता है। इस अहं से कौन पीड़ित नहीं है। दिन-प्रतिदिन हमारे भीतर एक प्रकार का जमाव होता चला जाता है और हम उससे भर जाते हैं। अहं का जमाव होता है और हम अहं से भर जाते हैं। जहां अपने स्वरूप का प्रश्न है, अपने अस्तित्व का प्रश्न है, हम भरे हुए होना नहीं चाहते, किंतु ऐसा होता है कि हम भर जाते हैं। जितना भराव होता है उतनी ही बेचैनी बढ़ती है, हमारी अशांति बढ़ती है। जब मनुष्य के मन में यह आया कि बेचैनी, अशांति मिटनी चाहिए, मन की यह अशांति और व्याकुलता मिटनी चाहिए, कम होनी चाहिए, तब खोज प्रारंभ हुई। फलस्वरूप ऋषियों ने, मर्मज्ञ आचार्यों ने कहा—तुम विनम्र बनो अर्थात् खाली हो जाओ। विनय का मतलब है खाली होना। जब तक भरे रहोगे, तब तक तुम्हारी बेचैनी मिटेगी नहीं।

भराव दो ओर से होता है, एक भराव राग से दूसरा द्वेष से। दूसरे शब्दों में एक भराव प्रियता से और दूसरा अप्रियता से। हमें कुछ प्रिय लगता है और कुछ अप्रिय। हम कुछ को प्रिय मान लेते हैं और कुछ को अप्रिय। इस प्रियता और अप्रियता—दोनों ओर से कुछ आता है और हमारे भीतर

जमा होता चला जाता है। फिर हम जो कुछ करते हैं, वह हम नहीं करते। उस समय हमारा कोई कर्त्तृत्व नहीं होता। तब या तो प्रियता करती है या अप्रियता करती है। इन दोनों में से ही हमारा कर्त्तृत्व निकलता है। हमारा कर्त्तृत्व तब स्वाभाविक नहीं रहता, वैभाविक हो जाता है, अस्वाभाविक हो जाता है। और जो उन दो धाराओं—प्रियता और अप्रियता की धाराओं—से निकलता है, वह जीवन से छनता जाता है। उस स्थिति में मन की अशांति और व्याकुलता बढ़ती चली जाती है। असमाधि तीव्र होती चली जाती है।

हमारी स्थिति बड़ी विचित्र है। एक ही घटना के प्रति हम दो तरह का व्यवहार करते हैं। एक वस्तु किसी के हाथ से गिर गयी। समझ लीजिए कि एक शीशा किसी के हाथ से गिर गया। दूसरा शीशा किसी दूसरे के हाथ से गिर गया। दोनों शीशे फूटकर चूर-चूर हो गए। दोनों घटनाएं समान हैं। दोनों में शीशा नीचे गिरता है और फूट जाता है। किन्तु दोनों की प्रतिक्रिया एक नहीं होगी, समान नहीं होगी। वही शीशा प्रिय व्यक्ति के हाथ से गिरा है तो मन में यही आएगा कि 'चलो, गिर गया। फूट गया तो क्या हुआ? नया ले लेंगे। आदमी की भूल होती है।' बात यहीं समाप्त हो जाती है। यदि वही शीशा अप्रिय व्यक्ति के हाथ से नीचे गिरकर फूटा है तो मन क्रोध से भर जाता है। गालियों की स्थिति आ सकती है और हाथ भी उठ सकता है। एक ही घटना के प्रति यह अन्तर क्यों? यह इसलिए है कि अप्रियता से जो व्यवहार निकलता है वह दूसरे प्रकार का होता है और प्रियता से निकलने वाला व्यवहार दूसरे प्रकार का होता है।

हमारा राग दो दिशाओं में फैलता है और द्वेष भी दो दिशाओं में फैलता है। राग का अर्थ है—प्रियता और द्वेष का अर्थ है अप्रियता। दोनों दो दिशाओं में फैलते हैं। राग माया और लोभ—इन दो दिशाओं में फैलता है। द्वेष अभिमान और क्रोध—इन दो दिशाओं में फैलता है। पहले लोभ होगा और बाद में माया। यद्यपि शब्दों का क्रम भिन्न है, पर पहले लोभ, फिर माया। इधर भी चुनाव करें तो पहले मान और फिर क्रोध। क्रोध बहुत बार तब आता है जब हमारे अहं पर कोई चोट करता है। और भी अनेक कारण हो सकते हैं। शारीरिक कारण भी होता है। आदमी शरीर में दुर्बल होता है तो क्रोध अधिक आता है। बीमार व्यक्ति को क्रोध अधिक आता है। अनेक स्थितियां बन सकती हैं। बहुत बार क्रोध आता है, हमारे अहं पर चोट होने पर।

एक गुरु ने अपने शिष्य से कहा, 'जाओ, सांप के दांत गिन आओ।' भयंकर बात थी। हितैषी ऐसी बात नहीं कह सकता। भला एक हितैषी व्यक्ति ऐसी बात कैसे कह सकता है कि जाओ, सांप के दांत गिन आओ? नहीं कह सकता। किन्तु गुरु ने यह आदेश दिया। शिष्य ने सुना। उसके मन पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। उसके अहं पर कोई चोट नहीं लगी। ऐसा क्यों हुआ? वह इसलिए घटित हुआ कि शिष्य का मन खाली था। यदि उसका मन भरा हुआ होता तो वह सोचता—गुरु तो हत्यारे हैं। मुझे मार डालना चाहते हैं। कोई व्यक्ति प्रत्यक्ष मौन के मुंह में ढकेलना चाहे, उसके प्रति क्या भाव आएगा। यही तो आएगा कि गुरु मुझे मार डालना चाहते हैं। शिष्य के मन में यह भाव नहीं आया। शिष्य गया। सांप फुंफकार उठा। फिर भी शिष्य ने दांत गिनने का प्रयत्न किया। सांप ने डंक मारा। शिष्य ने प्रयत्न नहीं छोड़ा। सांप ने फिर डसा। फिर भी उसके मन में कुछ भी नहीं आया, क्योंकि वह भरा हुआ नहीं था। यदि वह भरा हुआ होता तो निश्चित ही दूसरी बात होती, वह दूसरा ही करता। वह तो बिलकुल खाली था। जो खाली होता है उसे चलाओ वैसे चल जाता है।

बौद्धों में जैन संप्रदाय—ध्यान संप्रदाय है। वह साधना का संप्रदाय है। उस संप्रदाय में साधना करने आया है कोई शिष्य। मौका मिलते ही गुरु ने उसे उठाया और पटक दिया नीचे। क्या वे मारना चाहते थे उसे? क्या उसके शरीर को तोड़ना चाहते थे? नहीं। कुछ भी नहीं। वे तोड़ना चाहते थे उसे जो नहीं टूट रहा था। शिष्य का अहं नहीं टूट रहा था। वे चाहते थे उसे तोड़ना। वे चाहते थे कि ऐसा क्षण आए और वह टूट जाए। उन्होंने शिष्य को नीचे फेंका। वह धड़ाम से नीचे गिरा। कुछ चोट आयी। उसने फिर जागृत अवस्था में कहा—'जो काम इतने वर्षों की साधना से नहीं हुआ, वह एक क्षण में घटित हो गया। मैं किसी भी क्षण 'मैं' से परे नहीं जा रहा था। मैं हर वक्त 'मैं यह कह रहा हूं', 'मैं खा रहा हूं', 'मैं ध्यान धर रहा हूं', 'मैं सोच रहा हूं', 'मैं चिन्तन कर रहा हूं'—इस प्रकार सर्वत्र 'मैं-मैं' चल रहा था, किन्तु जिस गुरु ने मुझे नीचे पटका, उसी क्षण मेरा 'मैं' टूट गया। उस समय मुझे बोध ही नहीं रहा कि 'मैं गिर गया हूं। सब समाप्त हो गया।'

'मैं' को तोड़ने का यह प्रकार विचित्र है किन्तु कुछ साधक इसका प्रयोग करते थे। ऐसे भी साधक थे जो इससे भिन्न प्रयोग करके भी 'मैं' को तोड़ते

थे। वे भी विचित्र प्रक्रियाओं का अवलंबन लेते थे। ऐसी परीक्षाएं, ऐसी कसौटियां थीं कि सामान्य आदमी वैसा कर नहीं सकता। सामान्य गुरु यदि वैसा करे तो शिष्य उसे स्वीकार कर ही नहीं सकता। किन्तु इन प्रयोगों को क्रियान्वित करने वाले गुरु भी दूसरे प्रकार के थे तो उन प्रयोगों में से गुजरने वाले शिष्य भी दूसरे प्रकार के होते थे। तात्पर्य यह है कि गुरु और शिष्य–दोनों खाली होते थे। यदि भरा हुआ आदमी आदेश देता और भरा हुआ आदमी आदेश मानने वाला होता तो परस्पर में लड़ाई या गाली-गलौज अवश्य होता। दोनों ओर से खालीपन था। जो आदेश दे रहा था उसका मन भी खाली था और जो आदेश अस्वीकार कर रहा था, उसका मन भी खाली था। उधर भी विनय था और इधर भी विनय था। क्या विनय कभी एकपक्षीय हुआ है ? कभी नहीं। यह तो हमारा व्यवहार है कि हम विनय को भी किसी के 'प्रति' कर देते हैं। विनय किसी के प्रति नहीं होता। दूसरे के प्रति होने वाला केवल व्यवहार होता है, विनय नहीं होता कभी। दूसरे शब्दों में उसे लोकोपचार कहा जाता है। भगवान् महावीर की भाषा में जो दूसरों के प्रति होता है वह होता है लोकोपचार। वह यथार्थ में विनय नहीं है। वह तो लोक का व्यवहार है। विनय का वास्तविक अर्थ है—अपने आपको बिलकुल खाली कर देना, अहं से मुक्त कर देना, केवल अपने स्वरूप की स्थिति में चला जाना, बाहर से जो कुछ भरा हुआ है उससे मुक्त हो जाना। इतना रेचन करना पड़ता है कि मन खाली हो जाए। विनय की सारी प्रक्रिया रेचन की प्रक्रिया है। विनय में कषाय का विवेक होता है। विवेक का अर्थ है—पृथक् करना। पृथक् करने का अर्थ है—रेचन करना, निकालना। गेहूं से कंकरों का विवेचन करना यानी पृथक् करना। निकाल देना। दो चीजें जो मिल गई हैं, उन्हें अलग-अलग करना होता है और जो भीतर चला जाता है उसका रेचन करना होता है। विनय की प्रक्रिया रेचन की प्रक्रिया है। अहं जो हमारे भीतर घुस गया, उसका रेचन करना, उसे निकालना, इसी का नाम है 'विनयनम्'। जब तक आदमी खाली नहीं होता तब तक विनय के द्वारा जो समाधि प्राप्त होनी है वह प्राप्त नहीं होती।

विनय समाधि की चार अपेक्षाएं हैं—

१. गुरु के अनुशासन को सुनना।
२. गुरु जो कहता है उसे स्वीकार करना।
३. गुरु के वचन की आराधना करना।

४. अपने मन को आग्रह से मुक्त रखना।

'अनुशासन को सुनना', यह बहुत ही कठिन कर्म है। कोई दूसरे के अनुशासन को सुनना नहीं चाहता। एक पिता था। उसके आठ-दस वर्ष का एक लड़का था। पिता ने कहा—'बेटे! ऐसे करना है।' बच्चे ने कहा—'मैं स्वयं समझता हूं। आप क्यों कहते हैं? मैं स्वयं कर दूंगा।' छोटा बच्चा भी नहीं चाहता कि कोई उसे कुछ कहे। जैसे ही दूसरा उसे कुछ कहता है, उसके अहं पर चोट होती है। वह सोचता है—यह कहने वाला कौन? मैं स्वयं कर सकता हूं, फिर दूसरा मुझे क्यों कहता है? बात ही बात से असमाधि पैदा होती है, मानसिक दुविधा बढ़ती है। यह स्थिति बड़े-बड़े साधकों तक भी चली जाती है। और उन साधकों में जिन्होंने अहं का विसर्जन करना नहीं सीखा। वह मुझे कहने वाला कौन? वह मुझे क्यों कहता है? इसका मतलब यह है कि वह अधिक समझदार है और मैं कम समझदार हूं।' ऐसे चिन्तन में दोनों का अहं टकराता है। कोई किसी का अनुशासन सुनना नहीं चाहता। यह पहली असमाधि है।

दूसरी बात यह है कि किसी ने कहा और सुनने वाला संकोचवश बोला नहीं, सुन लिया। नहीं चाहता सुनना, फिर भी सुन लिया। सम्यक् स्वीकार नहीं किया। कहने वाले बड़े हैं, बुजुर्ग हैं, कहने दो उन्हें। नहीं बोलेंगे, उत्तर नहीं देंगे। अपने को करना तो है नहीं। बस समाप्त। कथन को सम्यक् स्वीकार नहीं करना यह दूसरी बेचैनी मन में पैदा हो जाती है। उधर से कहा जाता रहेगा और इधर से उसे अस्वीकार करना जारी रहेगा तो असमाधि पैदा होगी, कहने वाले के मन में भी और सुनने वाले के मन में भी।

तीसरी बात है—वचन की आराधना, वचन का पालन। जब स्वीकार नहीं होता, तो पालन की बात तो दूर रह जाएगी। ऐसी स्थिति में आचरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

चौथी बात है—मन को आग्रह से मुक्त रखना। मैं यदि यह मानूं कि यह जो कहा जा रहा है, वह ठीक है तब तो उस पर चलने की बात प्राप्त हो सकती हैं, अन्यथा नहीं। जब उसकी बात को सम्यक् नहीं मान रहा हूं, उसका आचरण नहीं कर रहा हूं, फिर अहं को छोड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो मैंने मान लिया या स्वीकार कर लिया, उसे छोड़ने की बात ही नहीं आती। चारों स्थितियों में मानसिक उलझन बढ़ती है, मानसिक

असमाधि बढ़ती है।

विनय की समाधि में खाली होने की बात आती है। खाली हो जाने का अर्थ है—सम्पूर्ण समर्पित हो जाना। इतना समर्पित कि जो आता है आदेश, जो होता हैं इंगित या इशारा, वैसे ही करना है। यह बहुत बड़ी बात है, उलझन है। हर आदमी ऐसा कर नहीं सकता। ऐसा साधक ही कर सकता है, दूसरा कोई नहीं। साधक में भी वही साधक कर सकता है जिसने कषाय का विसर्जन प्रारम्भ कर दिया है। अहं कषाय का बहुत बड़ा हिस्सा है। जिसने इसका विसर्जन प्रारम्भ कर दिया वही इस समाधि तक पहुंच पाता है। जब तक मन में अप्रियता होती है, तब तक दूसरे की बात स्वीकार नहीं होती। क्योंकि उसके प्रति भी अप्रियता है। वह उसे अप्रियता की दृष्टि से देखेगा। अप्रियता घृणा है। बात अनुकूल न हो तो अप्रियता ही उत्पन्न होती है, घृणा ही उत्पन्न होती है। मैं जब यह मान लेता हूं कि अमुक व्यक्ति मेरे लिए हितकर नहीं है तो उसके प्रति अप्रियता ही कर सकता हूं। 'अप्रियता से भरा हुआ हूं मैं।' इसका अर्थ है कि अस्वीकार करता जा रहा हूं, अमान्य करता जा रहा हूं। यह मैं नहीं करता किन्तु मेरे भीतर छिपा हुआ अप्रियता का बीज करता है। जिस दिन मैं इस अप्रियता की बात से मुक्त हो जाऊं या मन को उससे खाली कर दूं तो मेरे मन में प्रतिक्रिया नहीं होगी। जब अहं नहीं है, अप्रियता नहीं है तो उस पर चोट नहीं होगी। जब चोट नहीं होगी तो मन में प्रतिक्रिया भी नहीं होगी। फिर तो जो कहा, वह सब ठीक है।

एक संन्यासी मिले थे कहीं। वे कहते थे—'हम लोग अहं-विसर्सजन की बहुत बड़ी साधना करते हैं। मैंने पूछा—कैसे ?' वे बोले—'कोई भी व्यक्ति हमें कुछ कह देता है तो हम तत्काल उसकी बात को स्वीकार कर लेते हैं। मान लीजिए कि मैं देह-चिन्ता से निवृत्त होने के लिए बाहर जा रहा हूं। किसी ने कह दिया—'बाबाजी ! बार-बार क्यों घूमते हो ! भीतर बैठ जाओ।' मैं भीतर बैठ जाऊंगा। उस समय बाहर नहीं जाऊंगा। यह अच्छा तो नहीं है। शरीर के वेग को रोकना बीमारी को आमंत्रित करना है। परंतु मैं बाहर नहीं जाऊंगा, भीतर बैठ जाऊंगा। पांच-दस मिनट बैठकर फिर भले ही बाहर जाऊं, उस समय नहीं जाऊंगा।

यह बात विचित्र-सी लगती है, पर साधकों में ऐसा रहा है। हमारे संघ की एक घटना है। श्रीमज्जयाचार्य ने एक साध्वी से कहा—'बैठ जाओ, इस आले में।' वह बैठ गई और घंटों तक बैठी रही उस आले में। अगर तर्क

होता, और तर्क से ही सारा काम किया जाता और मन में भराव होता तो चिन्तन होता कि मैंने कौन-सा अपराध कर लिया जो इस आले में मुझे बिठाया जा रहा है। जयाचार्य चले गए। साध्वी वहीं बैठी रहीं। मन भरा हुआ होता तो सोचती—'अच्छा, गुरुजी चले गए। मैं भी उठकर चली जाऊं।' उसने ऐसा नहीं किया। भोजन का समय हुआ। जयाचार्य भोजन करने बैठे। साध्वी नहीं आयी। सोचा, कहीं इधर-उधर अध्ययन कर रही होगी। कुछ समय बीता। फिर याद आया, ध्यान गया, कहीं वहीं आले में तो नहीं बैठी है? जांच कराई। वह उसी आले में प्रतिमा की भांति निश्चल बैठी थी। उसे बुलाकर पूछा—'उसी आले में बैठी रही?' 'हां, आपका आदेश यही तो था। आपने कब कहा कि अमुक समय के बाद आ जाना।'

हमें लगेगा कि यह तो यान्त्रिक जीवन जैसा हो गया। हमारे पास तर्क है इसलिए लगता है कि यह तो यान्त्रिक है। एक समझदार आदमी भला यान्त्रिक जीवन कैसे जी सकता है? यह तर्क व्यवहार में चलता है। यह तर्क ही कठिनाई पैदा करता है। साधक तो इतना खाली हो जाता है कि उसके मन में तर्क रहता ही नहीं, कभी उठता नहीं। वह तर्क-शून्य हो जाता है या दूसरे शब्दों में वह अहं-शून्य हो जाता है। इस अहं-शून्यता की स्थिति में से ही वह निकलता है जो भरे हुए में से नहीं निकलता। कभी नहीं निकलता। इसी स्थिति को लक्षित कर भगवान् महावीर ने कहा था—इंगित को देखो, आकार को देखो। इंगित और आकार में सम्पन्न बनो—**'इंगियागारसम्पन्ने।'** यह बहुत बड़ा सूत्र है विनय का। किन्तु कहे उसे ही नहीं, किन्तु इंगित को भी समझो। जो गुरु है, मार्गदर्शक है, उसका इशारा क्या है! आकार क्या है, उसे समझो। इंगित और आकार से सम्पन्न बनो। खाली होने की यह पराकाष्ठा है, चरम सीमा है। इतना खाली हो जाना कि जैसा इंगित और आकार हो वैसा ही बन जाना है।

वर्तमान के चिन्तन में इसको मूल्य नहीं दिया जा सकता और मूल्य न देने का ही परिणाम है अनुशासनहीनता। आज यह बढ़ गयी। क्यों? इसकी खोज होनी चाहिए। इसका कारण यह है कि हमने स्वतंत्र चिन्तन के बहाने या स्वतन्त्रता के बहाने बोलने, विचारने या सोचने की स्वतन्त्रा के बहाने अपने अहं को इतना प्रबल बना दिया, अपने आपको इतना भर लिया कि उसमें अब दूसरे को अवकाश ही नहीं है। मार्गदर्शक, पथ-दर्शक या गुरु के लिए भी अवकाश नहीं है। 'गुरु' जैसा शब्द ही समाप्त हो गया। आज का

शब्द हो सकता है 'शिक्षक'। गुरु शब्द नहीं रह सकता। इसका परिणाम निश्चत ही यह आयेगा कि कोई व्यक्ति किसी को सुनना पसन्द ही नहीं करेगा। मेरे मन में आए वह मैं करूं और आपके मन में आए वह आप करें। आप मुझे नहीं कह सकते और मैं आपको नहीं कह सकता। आप मुझे कहेंगे तो मैं आपका विरोध या प्रतिरोध करूंगा। और मैं आपको कहूंगा तो आप मेरा विरोध या प्रतिरोध करेंगे। सब अपने-आप में ज्ञानी हैं। दूसरे की बात सुनने के लिए कोई तैयार नहीं है। यह स्थिति अहं की प्रबलता में आती है। जिस समाज में अहं की प्रबलता होती है, जिस संगठन में अहं को छूट मिल जाती है, वहां निश्चित ही संघर्षण होता है, टकराव होता है। दोनों के अहं परस्पर टकराते हैं फिर चिनगारियां निकलती हैं और समाधि की बात समाप्त हो जाती है। जहां चित्त को समाहित करने की बात है वहां संघर्षण को समाप्त करना होता है। इसको समाप्त करने के लिए या तो अहं को सीमित करना होता है या अहं को विसर्जित करना होता है। साधक के लिए यह बहुत निश्चित बात है। उसे अहं का विसर्जन करना ही होता है। वैसा किए बिना वह आगे नहीं बढ़ सकता। एक बात और है। साधु के लिए अहं के फैलाव का जितना खतरा है, दूसरे के लिए उतना नहीं। बहुत बड़ा खतरा है। क्योंकि जिसे सहज पूजा प्राप्त है उसे अहं का बड़ा खतरा है। साधु बनते ही पूजा प्राप्त होने लग जाती है। उस स्थिति में कोई बहुत सावधान या जागरूक होता है तो वह इस खतरे से बच सकता है अन्यथा वह इसमें इतना बह जाता है, उसमें बड़प्पन के भाव आ जाते हैं और साथ-साथ अन्य चीजें भी। महावीर ने एक शब्द दिया है—'लाघव'। इसका अर्थ है—हल्का होना। साधु को हल्का होना चाहिए। किन्तु गुरुता की बात इतनी अन्दर पैठ जाती है कि बड़ी उलझन पैदा हो जाती है। इस खतरे से बचने के लिए हमें दो दिशाओं में ज्ञान करना होगा—

१. चेतना के स्तर पर कुछ प्रयोग।

२. शारीरिक स्तर पर कुछ प्रयोग।

चेतना के स्तर पर तो निरन्तर लघुता का अनुभव करना होगा। महावीर ने कितनी सूक्ष्मता से कहा था कि पानी लाने वाली एक घटदासी भी साधु को हितकर बात कहे तो उसके प्रति भी आक्रोश प्रकट न करे। यह न कहे कि 'मैं साधु हूं और तू पानी लाने वाली एक दासी। मुझे सीख देने आयी है?' ऐसा कभी न कहे। किन्तु हितकर और अच्छी बात हो तो उसे सम्यक्

प्रकार से स्वीकार करे। कितनी बड़ी बात है। उसे घटदासी की बात को ज्ञानी साधु तब ही स्वीकार कर सकता है जब उसका अहं विलीन हो जाता है। जब अहं का सांप फुफकारता है, तब स्वीकार की बात सामने ही नहीं आती। चेतना के स्तर पर लाघव का यह प्रयोग चलना चाहिए। साधक को निरन्तर यह सोचना चाहिए कि मैं हल्का हूं। मेरे भीतर कुछ नहीं है, कुछ भी नहीं है।

शारीरिक स्तर पर समूचे कषाय को कम करने के लिए तथा अहं को नष्ट करने के लिए श्वास की मन्दता का प्रयोग करना अपेक्षित है। हमारी साधना में मंद श्वास के प्रयोग का बड़ा महत्त्व है। हम श्वास को जितना मंद करेंगे उतनी ही हमारी साधना सफल होगी, विकसित होगी। यह स्थायी सूत्र है दो-चार दिन का नहीं है। यह निरन्तर चलने वाला सूत्र है। साधना की दृष्टि से चिन्तन करने पर पता चल जाता है कि जब कोई आवेश उतरता है तो वह सबसे पहले श्वास पर उतरता है। हम सामान्यतः एक मिनट में १५-१८ श्वास लेते हैं। क्रोध आते ही श्वास की मात्रा बढ़ जायेगी—२०-२५ हो जाएगी। वासना आते ही श्वास की मात्रा बढ़ जाएगी। आवेग या आवेश आते ही श्वास तेज चलने लग जाएगा। यदि हम श्वास की मात्रा को पहले ही घटा दें तो कषाय या आवेश को उतरने का मौका ही नहीं मिलेगा। श्वास की मंदता के लिए अभ्यास करना होगा। अभ्यास के पहले दिन साधक ऐसा करे कि वह पन्द्रह सेकण्ड में एक श्वास ले, एक मिनट में चार श्वास ले—आठ सेकण्ड में श्वास और आठ सेकण्ड में निःश्वास। वह पांच-दस मिनट तक यह अभ्यास करे। दस-बीस दिन ऐसा करे, फिर आगे बढ़े। धीरे-धीरे इस स्थिति में आ जाए कि एक मिनट में एक श्वास। इस स्थिति तक पहुंचने में एक वर्ष भी लग सकता है। दो वर्ष भी लग सकते हैं, और अधिक समय भी लग सकता है। अभ्यास की निरन्तरता होने पर यह अभ्यास फल देने लगता है। पर एक बात ध्यान में रहे। बल-प्रयोग के द्वारा सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न न हो। स्वाभाविक रूप से जो घटित होता है, उसे घटित होने दें। एक मिनट में एक श्वास-निश्वास की स्थिति यदि दिन में एक-दो घंटे तक हो जाए तो फिर आप सब इन खतरों से बाहर हो जाएंगे। तब न क्रोध का प्रश्न रहेगा और न आवेश या आवेग का प्रश्न ही उभरेगा। अहंकार का प्रश्न भी समाप्त हो जाएगा। यद्यपि यह स्थिति बहुत आगे की है, फिर भी यदि इसका अभ्यास प्रारम्भ हो जाता है तो दिशा

का परिवर्तन निश्चित ही हो जाएगा।

• क्या साधक को स्वाभिमानी नहीं होना चाहिए ?

स्वाभिमान 'अहं का ही हल्का रूप है। सामाजिक प्राणी स्वाभिमान को मूल्य देता है। उसके बिना वह अपने अस्तित्व को सुरक्षित अनुभव नहीं करता। किन्तु साधक के लिए न अहं आवश्यक है और न स्वाभिमान ही आवश्यक है। वह तो अपने स्वरूप के सिवाय कुछ भी होना नहीं चाहता। वह तो पूरा हल्का होना चाहता है। इसलिए स्वाभिमान जैसी बात ही नहीं है उसके लिए।

• क्या पूजा प्राप्त होने पर अभिमान नहीं जाग उठता ? क्या वह साधक के लिए खतरा नहीं है ?

मूर्खता के सिवाय किसी भी बात पर अभिमान नहीं किया जा सकता। अभिमान मूर्खता पर ही किया जा सकता है। जहां अनित्य और अशरण भावना है वहां अभिमान कैसा ? इनकी उचित अनुप्रेक्षा हो तो अहं उठता ही नहीं है ?

पूजा साधना के लिए खतरा भी है और सहायक भी है। साधक यदि यह सोचे कि जो लोग मुझे पूजा देते हैं, मैं इन्हें धोखा न दूं—यहां पूजा का भाव साधना में सहायक बन जाता है। यह दिशा का परिवर्तन है। पूजा अहं बढ़ाती है तो अहं को तोड़ता भी है। पूजा आदि आत्मज्ञ व्यक्ति के लिए सहायक है और अनात्मज्ञ के लिए खतरा।

३ ज्ञान समाधि

आज मैं उस समाधि की चर्चा करूंगा जो सबसे सरल है, पर है सबसे कठिन। ज्ञान समाधि सबसे सरल इसलिए है कि उसमें कुछ करना नहीं होता। उसमें न आसन करना होता है, न प्राणायाम और न ध्यान। कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। भक्ति और पूजा करने की भी जरूरत नहीं है। कर्म और उपासना करने की भी जरूरत नहीं है। इसमें कर्मयोग और भक्ति-योग—दोनों छूट जाते हैं। हठयोग भी छूट जाता है। कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। जिसमें कुछ भी करने की जरूरत नहीं वह सबसे सरल होता है। किंतु जिसमें कुछ भी करने की जरूरत नहीं होती वह सबसे कठिन भी होता है। ज्ञानयोग में कुछ भी करना नहीं होता, पर यह करना बड़ा कठिन है। ज्ञानयोगी वही बन सकता है जो संन्यासी की अच्छी भूमिका पर पहुंच जाता है। यह कठिन क्यों हैं—इसे स्पष्ट करना है। हम जो करते हैं, जो घटना घटित होती है, हम जानते हैं—इन दोनों को मिला देता है साधारण आदमी। एक घटना घटित होती है, व्यक्ति उसे अपने ज्ञान से जोड़ देता है।

एक आदमी किसी गांव में गया। पूर्व-परिचित के यहां ठहरा। देखा, जिस घर में ठहरा है, वह मित्र अत्यन्त उदास नजर आ रहा है। उसने पूछा—'मित्र ! जब मैं पहले आया था, तब तुम बहुत प्रसन्न थे। आज उदास क्यों ?' वह बोला—'क्या सही बताऊं ? बात यह है, पहले इस गांव में दुमंजिला मकान एक मेरा ही था। मैं बहुत प्रसन्न रहता था। अब मेरे पड़ोसी ने एक सुन्दर तिमंजिला मकान बना लिया है। इसलिए हर वक्त मुझे बेचैनी सताती रहती है। वह तिमंजिला मकान मेरी स्मृति से ओझल ही नहीं होता।' अब आप देखें, घटना कहां घटित हुई और परिणाम किसमें अभिव्यक्त हुआ। एक तिमंजिला मकान बन गया, घटना घटित हो गयी। जानते सब हैं, पर सबको कोई कष्ट नहीं होता। कष्ट उसी को होता है जो ज्ञान को घटना के साथ जोड़ देता है। एक द्वेष का भाव संचित कर लिया और उसे अपने ज्ञान से जोड़ दिया। यह है अज्ञान।

हम ज्ञान किसको कहें ? ज्ञान वह होता है जहां केवल जानना होता है,

ज्ञप्ति होती है। जहां जानने के सिवाय कुछ भी नहीं होता, वह होता है कोरा ज्ञान।

अज्ञान क्या होता है? अज्ञान का मतलब जानना तो है, पर उसके साथ और कुछ जुड़ जाता है। उसके साथ राग-द्वेष, मोह, मद आदि-आदि जुड़ जाते हैं। जहां वे जुड़ते हैं वहां ज्ञान अज्ञान बन जाता है।

जो ज्ञानी होता है वह समाधि में रहता है। ज्ञानी को समाधि प्राप्त होती है। ज्ञान समाधि है, अज्ञान समाधि नहीं है। वह असमाधि है। वह ज्ञान, जिसके साथ राग-द्वेष, मोह आदि का सम्बन्ध है, वह ज्ञान समाधि नहीं है। समाधि वहीं है जहां केवल ज्ञान है, कोरा ज्ञान है, वेदना नहीं है। जहां ज्ञान और वेदन—दोनों हैं, वह अज्ञान है।

आज के लोग शिक्षा के क्षेत्र में कहते हैं कि ज्ञान का यह परिणाम आ रहा है। ज्ञान का यह परिणाम नहीं है। यह परिणाम संवेदन के साथ आ रहा है। ज्ञान के साथ में संवेदन के जुड़े जाने से ही वही परिणाम आयेगा, जो आज आ रहा है। इससे भिन्न परिणाम नहीं हो सकता। जहां ज्ञान के साथ में संवेदन जुड़ जाता है, वहां वह ज्ञान नहीं रहता, संवेदन या अज्ञान बन जाता है। आज जो है वह संवेदन है, ज्ञान नहीं है। ज्ञान वही होगा जो कोरा ज्ञान है, केवल ज्ञान है, मिश्रण नहीं है। योगसार में लिखा है—

'यथावस्तु परिज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिभिरुच्यते।
रागद्वेषमदक्रोधैः, सहितं वेदनं पुनः॥'

—जो वस्तु जैसी है, वैसा ज्ञान होना अर्थात् सत्य का बोध होना ज्ञान है। ज्ञान के साथ जब राग-द्वेष आदि जुड़ते हैं तब वह संवेदन बन जाता है, ज्ञान नहीं रहता। दोनों में यही अन्तर है। संज्ञा और ज्ञान में यही फर्क है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि-आदि संज्ञाएं हैं। ज्ञान का अर्थ है—केवल ज्ञान, कोरा ज्ञान। संज्ञा का अर्थ है—ज्ञान और वेदन का सम्मिश्रण। जब ज्ञान वेदन बनता है तब संज्ञा बन जाती है। जो कोरा ज्ञान है वह समाधि है। वेदन मिलते ही वह असमाधि बन जाती है। वेदान्त में एक शब्द है—द्रष्टा। द्रष्टाभाव ही ज्ञान समाधि है।

तटस्थभाव, साक्षीभाव, द्रष्टाभाव और ज्ञानसमाधि—ये सब एकार्थक शब्द हैं। कोई अन्तर नहीं है। शब्दों का अन्तर है। द्रष्टाभाव का मतलब है—घटना घटित हो रही है, उससे अपने आपको अलग कर देना। उसमें लिप्त नहीं होना। कुछ भी घटित हो रहा हो, उसके साथ अपने ज्ञान के सूत्र

को नहीं जोड़ना। यही द्रष्टाभाव या साक्षीभाव है। यह स्थिति जिसे प्राप्त हो जाती है, वह अपने ज्ञान को केवल ज्ञान रखना चाहेगा और वेदन से दूर रहने की क्षमता जिसमें आ जाती है, वह सचमुच ज्ञान समाधि पा लेता है। यह कठिन बात अवश्य है। पढ़ना अलग बात है और ज्ञान समाधि अलग बात है। पढ़ना ज्ञान समाधि नहीं है। ज्ञान समाधि साधना है।

दशवैकालिक सूत्र में ज्ञान समाधि का बहुत सुन्दर क्रम प्रतिपादित है। उसमें चार बातें मुख्य हैं। पहले होता है ज्ञान। उसका फलित होता है चित्त की एकाग्रता। ज्ञान का परिणाम होगा एकाग्रचित्तता। जो ज्ञान होगा, उसमें चंचलता हो नहीं सकती। सारी चंचलता आती है वेदन के द्वारा। ज्ञान में चंचलता नहीं। संवेदन चंचलता पैदा करता है। घटना से हम जुड़ जाते हैं तब संवेदन आता है, क्षोभ आता है और तब मन तरंगित हो जाता है। जब कोरा ज्ञान हाता है, उसमें वह स्थिति नहीं होती। उसका तीसरा परिणाम है—स्थितात्मा। चंचलता समाप्त हो जाती है। साधक स्थितात्मा हो जाता है। राग और द्वेष मन को अस्थिर बनाते हैं। जब दोनों नहीं होते तब साधक सत्य में स्थित हो जाता है। वह स्वयं स्थित होकर दूसरों को भी सत्य में स्थित करता है। ये चार बातें हैं—

१. विशुद्ध ज्ञान होना।

२. एकाग्रचित्त होना।

३. स्वयं सत्य में प्रतिष्ठित होना।

४ दूसरों को सत्य में प्रतिष्ठित करना।

ज्ञान समाधि की परिपूर्णता की ये चार बातें हैं। साधक को इनका अभ्यास करना चाहिए।

योगशास्त्र में अन्नमयकोष, प्राणमयकोष और मनोमयकोष के पश्चात् विज्ञानमयकोष बतलाया है। विज्ञानमयकोष का अर्थ है—विज्ञानशरीर। कोष का अर्थ है शरीर। ज्ञान शरीर, बुद्धि शरीर, या मस्तिष्क के पीछे जो सूक्ष्म शरीर है—यह विज्ञानमय कोष है। हमारे शरीर के ऊपर का जो भाग है, वह ज्ञान से सम्बन्धित है। यह ज्ञान-क्षेत्र है। पृष्ठरज्जु या कटि का जो क्षेत्र है, वह है काम-क्षेत्र। ये दो मुख्य केन्द्र हैं—ज्ञान-केन्द्र और काम-केन्द्र। जब ज्ञानधारा ऊपर से नीचे की ओर प्रभावित होने लग जाती है तब मन की चंचलता, इन्द्रियों की चंचलता, वासनाएं और आवेग, क्षोभ और उदासियां—ये सारी स्थितियां बनती हैं। जब काम-केन्द्र की ऊर्जा को ऊपर ले जाते हैं

या ज्ञान-केंद्र में ले जाते हैं या ज्ञान-केन्द्र से नीचे नहीं उतरने देते तब स्थितात्मा हो जाते हैं। इस स्थिति में राग-द्वेष नहीं सताते। क्षोभ और मोह नहीं सताते। आवेश और वासनाएं नहीं सतातीं। यह ज्ञान का स्थान है और वह वासना का स्थान है।

हमारी एकाग्रता से हमें ज्ञान प्राप्त हुआ और ज्ञान के बाद हम सत्य में एकाग्र हो गए, एकाग्रता की स्थिति आ गयी। हम उस धारा को नीचे नहीं ले जाते, उसे नीचे नहीं उतरने देते। नीचे उतरने नहीं देने का अर्थ ही है कि हमारी वृत्तियों में परिवर्तन आ गया है। इसे कहते है—अन्तर्मुखता। बहिर्मुखता की बात समाप्त होकर अन्तर्मुखता प्राप्त हो जाती है। उस स्थिति में इंद्रियां बदल जाती हैं, मन बदल जाता है। जो इंन्द्रियां किसी दूसरी ओर दौड़ रही थीं, वे अपने आप में प्रत्याहृत अथवा प्रत्याहार की स्थिति में आ जाती हैं। मन जो बाहर की ओर जा रहा था वह भी अन्तमुख हो जाता है, संयमित हो जाता है। प्रतिसंलीनता फलित हो जाती है। इसका अर्थ है अपने आप में लीन होना। प्रतिसंलीनता घटित होती है। इन्द्रियां जो बाहर की ओर दौड़ रही थीं, वे अपने-आप में लीन हो जाती हैं। जो बच्चा घर से बाहर चला गया था, वह पुनः घर में आ जाता है। मन का पंछी जो बाहर की ओर जाना चाहता था, वह थककर पिंजड़े में आकर बैठ जाता है। बाहर जाने की स्थिति समाप्त। उनका क्रम बदल जाता है। स्थितात्मा की स्थिति प्राप्त होती है। ज्ञान जब ज्ञान-केन्द्र में ही रहता है, ज्ञान की धारा जब ज्ञान-केन्द्र में ही रहती है तब आदमी स्थितात्म हो जाता है। वह इतना स्थिर बन जाता है कि कुछ भी करने को शेष नहीं रहता। स्थितात्मा ही दूसरों को स्थित बना सकता है। चल व्यक्ति किसी को स्थित नहीं बना सकता। स्थितआत्मा ही स्थित बना सकता है। ज्ञान समाधि के क्रम में सबसे पहले ज्ञान है, चाहे वह पुस्तकीय ज्ञान ही क्यों न हो। वह गलत नहीं है। शास्त्रों में हजारों-हजारों व्यक्तियों के अनुभव संदृब्ध हैं। उनका स्वाध्याय करने का अर्थ है कि हजारों-हजारों अनुभवों से लाभ उठाना। कुछ लोग शास्त्रों के स्वाध्याय का खंडन करते हैं। यह खंडन ज्ञान का नहीं होना चाहिए। खंडन होना चाहिए संवेदन का। हम कहीं से जानें—पुस्तक को पढ़कर जानें, सुनकर जानें, कहीं से भी जानें, अगर ज्ञान है तो कोई कठिनाई नहीं है। ज्ञान कभी नहीं भटकता। भटकता है संवेदन। ज्ञान और संवेदन को ठीक तरह से समझ लें तो सारी समस्याएं सुलझ जाती हैं। इनको

ठीक से नहीं समझते हैं तो कभी हम ज्ञान को कोसते हैं, कभी शास्त्रों को कोसते हैं, कभी पुस्तकों को कोसते हैं, गालियां देते हैं, उनके लिए ऊटपटांग बातें करते हैं। यह दोष उन शास्त्रों का नहीं, उन ग्रंथों का नहीं, उन पुस्तकों का नहीं, पुस्तक लिखने वाले ज्ञानी पुरुषों का नहीं, यह हमारा ही दोष है। हम संवेदन की धारा में जाकर ज्ञान पर तीव्र प्रहार करने लग जाते हैं। यह बहुत बड़ी आत्म-भ्रांति है। यह नहीं होना चाहिए। ज्ञान होना चाहिए। वह ज्ञान चाहे अन्तर् आत्मा से प्रकट हो और चाहे बाहर से स्वीकृत या गृहीत हो, वह अन्तर्मुखता का कारण बनता है। जब कोरा ज्ञान है तो हमारी कोई कठिनाई नहीं है। हमारी सावधानी सिर्फ उस ओर होनी चाहिए कि यमुना के स्वच्छ पानी में दिल्ली का गंदा नाला न पड़ जाए। इतनी-सी सावधानी बरतनी चाहिए। यदि गंदा नाला पड़ता है तो ज्ञान स्वच्छ नहीं रहा, ज्ञान ही नहीं रहा, पानी स्वच्छ नहीं रहा, यमुना का पानी ही नहीं रहा। वह तो दिल्ली का पानी हो गया, यमुना का पानी जहां यमुना का पानी है, गंगा का पानी जहां गंगा का पानी है, वहां कोई कठिनाई नहीं है। जब गंदा नाला इसमें पड़ता है तब गंदगी आ जाती है। यह गंदगी है संवेदन की। संवेदन की गंदगी को साफ पानी से अलग करते रहें तो ज्ञान की कोई कठिनाई नहीं रहती। ज्ञान समाधि वास्तव में समाधि का सबसे बड़ा सूत्र है। आदमी को यदि समाधि मिल सकती है तो ज्ञान के द्वारा ही उच्चकोटि की समाधि प्राप्त हो सकती है। और-और क्षेत्रों में बहुत खतरा है। प्राणायाम से लाभ है तो खतरा भी बहुत है। आसन करने में लाभ है तो खतरे भी हैं। थोड़ी-सी भूल बड़ा खतरा पैदा कर देती है। एकाग्रता करने में भी खतरा है। यदि इसमें अधिक तनाव आ गया, ऊष्मा अधिक बढ़ गयी तो दिमाग पागल जैसा बन जाता है। आदमी पागल हो जाता है। रोने-चिल्लाने लग जाता है। ऐसा लगने लगता है कि मानो उसे भूत लग गया हो। इस प्रकार हर बात में कठिनाई है। सबसे निरपवाद और निर्विघ्न कोई समाधि है तो वह है ज्ञान समाधि। मैंने पहले ही कहा था कि यह जितनी निर्विघ्न है उतनी ही कठिनतम। इतना जागरूक रहना और राग-द्वेष की धारा को ज्ञान के साथ न जोड़ना, बहुत ही कठिन साधना है। इस साधना के लिए, ज्ञान की समाधि के लिए, हमें द्रष्टाभाव का अभ्यास करना होता है। वेदान्त की भाषा में कहूं तो द्रष्टाभाव और जैन परिभाषा में कहूं तो शुद्ध उपयोग अवस्था। हमारी चेतना का उपयोग बिलकुल शुद्ध रहे। उसमें कोई भी अशुद्धता न

आये। पुण्य का भाव भी न आये। शुद्ध का मतलब है—जहां शुद्ध भाव भी नहीं, पुण्य का भाव भी नहीं। यह संवर की स्थिति है। इस शुद्धता की स्थिति का क्रम निरन्तर चालू रहे, अभ्यास चालू रहे तो ज्ञान की समाधि प्राप्त होती है। चेतना को केवल शुद्ध व्यापार में रखना कोई साधारण बात नहीं है। आदमी बहुत जल्दी प्रभावित होता है घटनाओं से। सामने जो घटना आती है, उसी में बह जाता है। राग की आती है तो राग में और द्वेष की आती है तो द्वेष में बह जाता है। देखकर भी बह जाता है क्योंकि उसमें भावुकता है, संवेदनशीलता है। आदमी संवेदनशील होता है। साहित्य में संवेदनशीलता बहुत बड़ा गुण माना जाता है। कहीं भी कुछ घटित होता है, तो आदमी का मन संवेदना से भर जाता है। आदमी हर बात को अपने साथ जोड़ लेता है। यहां से कठिनाई प्रारंभ हो जाती है। इससे बचने के लिए उसे संवेदना से बचना होगा। इसलिए जो कोई भी सत्य का शोधक होगा, उसके लिए अनिवार्य शर्त है कि उसमें संयम का बल हो। जिसमें संयम का बल नहीं है, वह सत्य का शोधक नहीं हो सकता। क्योंकि जो सत्य का शोधक होता है, वह तटस्थ होता है, पक्षपात से मुक्त। जब उसके सामने प्रश्न आएगा कि अमुक तो माना हुआ तथ्य है। वह कहेगा—चाहे माना हुआ हो, पर सत्य यह है।

कुछेक वैज्ञानिकों के लिए कहा जा सकता है कि वे ज्ञान समाधि में थे। सब वैज्ञानिक नहीं, किन्तु कुछेक। अल्बर्ट आइंस्टीन के जीवन को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह ज्ञान की समाधि और योगी की स्थिति में था। वह साधक था। वह साधना का जीवन जी रहा था। उस समय उसके सामने एक प्रश्न आया—'इलेक्ट्रॉन क्या है? वह तरंग है या कण? कण स्थिर होता है और तरंग गतिशील। वास्तव में वह है क्या?' 'इलेक्ट्रॉन न केवल स्थिर है और न केवल गतिशील। वह दोनों है।' यह स्थापना की आइंस्टीन ने। पहले ऐसा नहीं माना जाता था। आइंस्टीन ने कहा—'पहले के वैज्ञानिकों ने इसे कैसे माना, मैं नहीं कह सकता। पर इलेक्ट्रॉन कण और तरंग दोनों है। ये दोनों विरोधी अवश्य हैं। वह कण भी और तरंग भी कैसे हो सकता है, मैं नहीं जानता। पहले क्या माना जाता था, मैं नहीं जानता किन्तु ये दोनों—कण और तरंग सामने हैं, प्रत्यक्ष हैं। ऐसा घटित हो रहा है।' इस तथ्य की अभिव्यक्ति के लिए आइंस्टीन ने एक शब्द चुना—**'क्वान्टा', जहां गतिशीलता भी है और स्थायित्व भी है**। पहले क्या माना जाता था, परस्पर में विरोध दिखाई दे रहा है—इन सबसे परे हटकर आइंस्टीन कहता है कि मैं

नहीं जानता यह क्यों है, पर है यह ऐसा ही । क्यों है यह भी मैं नहीं जानता। पर है—यह सत्य है, इसे जानता हूं । जो सत्य सामने आ रहा है, उसी को मैं कह रहा हूं ।'

सत्य के लिए समर्पित होता है ज्ञान योगी । उसके मन में कोई पूर्वाग्रह नहीं होता कि कल क्या माना जाता था, आज क्या माना जाता है या परसों क्या माना जाएगा ? उसके मन में यह विकल्प ही नहीं उठता कि कल मैंने क्या कहा था ? आज क्या कह रहा हूं ? तात्त्विक आदमी के मन में यह विचिकित्सा हो सकती है कि कल मैंने इस सन्दर्भ में यह कहा था तो आज मैं उसी सन्दर्भ में ऐसे कैसे कह सकता हूं ? किन्तु दो प्रकार के व्यक्तियों के मन में यह विचिकित्सा नहीं होती—एक तो राजनीतिक व्यक्ति के मन में और दूसरे सत्य-शोधक के मन में । कुशल राजनीतिज्ञ वह माना जाता है जो सुबह एक बात कहे और दोपहर में दूसरी बात कहे और यह भी सिद्ध कर दे कि उस समय वह बात ठीक थी तथा अब यह बात ठीक है । सत्य-शोधक भी वही हो सकता है जो सुबह एक बात कहे और दोपहर में दूसरी । किन्तु उसके सामने कोई तर्क नहीं होता । वह कहेगा—'भाई ! मुझे उस समय वह सत्य लग रहा था और अब यह सत्य लग रहा है ?'

श्रीमज्जयाचार्य सत्य-संधित्सु थे, योगी थे, ज्ञानयोगी थे, ध्यान-योगी थे । उनसे पूछा गया—'आपके पूर्वज आचार्य भिक्षु ऐसा कहते थे और आप ऐसा कह रहे हैं । या तो वे सत्य थे या आप ?' उन्होंने कहा—'उनका व्यवहार उनके पास था और हमारा व्यवहार हमारे पास । वे अपने शुद्ध ज्ञान से अपना व्यवहार चलाते थे और हम अपने शुद्ध ज्ञान से अपना व्यवहार चलाते हैं । न वे असत्य थे और न हम असत्य हैं । उनको वह सत्य लग रहा था इसलिए उसका आचरण किया, असत्य जानकर नहीं । हमको यह सत्य लग रहा है इसलिए इसका आचरण करते हैं, असत्य जानकर नहीं । असत्य का आचरण न वे करते थे, न हम करते हैं । दोनों सत्य हैं । कोई असत्य नहीं है । सत्य-शोधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है यह । क्योंकि या तो हम यह मान लें कि सत्य के सारे पर्याय उद्घाटित हो गए, अब कोई पर्याय शेष नहीं है । केवल ज्ञानी ही कह सकता है क्योंकि उसके सामने सत्य के सारे पर्याय उद्घाटित हैं । हमारे सामने सारे पर्याय उद्घाटित होने बाकी हैं । इस स्थिति में हम नहीं कह सकते कि जो आज तक जाना गया वही सत्य है और जो आगे जाना जायेगा वह सत्य नहीं होगा । ज्ञान-योगी सत्य के प्रति

समर्पित होगा। वह कहीं भी राग-द्वेष के प्रति समर्पित नहीं होगा। महावीर ने कहा—ज्ञानयोगी **'अणिस्सियोवस्सिय'** होता है, किसी के प्रति झुका हुआ नहीं होता। वह केवल सत्य के प्रति झुका हुआ होता है। वह न सिद्धांत के प्रति, न शास्त्रों के प्रति और न किसी के वचन के प्रति झुका हुआ होता है। वह केवल सत्य के प्रति समर्पित होता है। जो इतना साधनाशील होता है, वही ज्ञानयोगी होता है। यह बड़ी साधना है—राग-द्वेष से मुक्त होने की साधना है, संयम की साधना है, तटस्थता की साधना है, पक्षपात से मुक्त रहने की साधना है, संयम की साधना है, तटस्थता की साधना है, पक्षपात से मुक्त रहने की साधना है, केवल सत्य-शोध और सत्य-जिज्ञासा की साधना है। इस साधना में जाने वाला ज्ञान के रहस्यों को अनावृत कर देता है।

• क्या साक्षीभाव, द्रष्टाभाव का अर्थ यही है कि हम देखते हैं, करते नहीं ? क्या नृत्य देखना क्रिया नहीं है ? यह द्रष्टाभाव कैसे ?

गन्ध आती है उसे हम नहीं रोक सकते। यह इन्द्रिय का काम है। सुगंध आयी वहां तो राग उत्पन्न हो गया और जहां दुर्गन्ध आयी वहां द्वेष उत्पन्न हो गया। यह शुद्ध उपयोग या साक्षीभाव नहीं है। साक्षीभाव या द्रष्टाभाव यहां खंडित हो जाता है। किन्तु सुगंध या दुर्गन्ध आने पर हमें यथार्थ ज्ञान तो हो गया, हमने जान लिया कि यह सुगन्ध है और यह दुर्गन्ध, पर उसके साथ हमारी प्रियता या अप्रियता का भाव नहीं जुड़ा तो वह साक्षीभाव, द्रष्टाभाव या शुद्ध उपयोग है। इन्द्रिय-विषयों को रोका नहीं जा सकता। उनके प्रति होने वाले राग-द्वेष को रोका जा सकता है। यही प्रतिसंलीनता है। यही साक्षीभाव है। यही शुद्ध उपयोग है। हम ऐसा कर सकते हैं। यह कठिन साधना अवश्य है। प्रियता और अप्रियता की सामग्री सामने हो और हमारा आकर्षण या अनाकर्षण न हो, यह साधना कठोर तो बहुत है।

• शास्त्र को सत्य मानने पर सत्य के प्रति झुकाव कैसे होगा ?

शास्त्र से ज्ञान लेना एक बात है और उसके प्रति झुकाव होना एक बात है। शास्त्र का अर्थ क्या है ? उसका अर्थ यह नहीं होता कि मैं मानूं वह तो शास्त्र और सब अशास्त्र। मेरे लिए एक शास्त्र हो सकता है, दूसरे के लिए दूसरा। मैं किसे शास्त्र मानूं और किसे अशास्त्र, यह मेरा वैयक्तिक प्रश्न है। किन्तु दुनिया के किसी भी ग्रन्थ से मैं सत्य प्राप्त करूं, वह मेरे लिए ग्राह्य हो जायेगा। उसमें पक्षपात नहीं कि अमुक में ही सत्य हो सकता है, दूसरे में नहीं। झुकाव की बात तो तब आती जब मैं यह मान लूं कि अमुक ग्रन्थ या

शास्त्र में जो लिखा वह तो सत्य है और शेष असत्य। ज्ञान में जो बाधा आ रही है। साम्प्रदायिक अभिनिवेश ज्ञान का बाधक है। सत्य-शोधक के सामने यह प्रश्न नहीं होता कि किस ग्रन्थ में लिखा है। वह यह देखेगा कि यह अनुभव की कसौटी पर खरा उतरा है, वह सत्य है। फिर चाहे वह सिद्धान्त की बात हो या रसायनशास्त्र की बात हो, वनस्पतिशास्त्र की बात हो या अन्य कोई भी। चाहे नास्तिक दर्शन की बात भी क्यों न हो, उसके प्रति भी हमारी वही सत्यग्राही दृष्टि रहेगी।

• ज्ञान समाधि और केवल ज्ञान से क्या अन्तर है ?

केवल ज्ञान तो परिणाम है। ज्ञान होना भी परिणाम है। ज्ञान समाधि का अर्थ है ज्ञान ही रहने देना, संवेदन नहीं बनाना।

• क्या ज्ञानयोगी वही होगा जो किसी ग्रंथ को पूर्ण सत्य न माने ?

कोई भी ग्रन्थ पूर्ण सत्य का प्रतिपादक नहीं होता। वह सत्य के कुछेक पर्यायों का प्रतिपादक होता है। भाषा में कुछेक पर्याय ही उतरते हैं, अनंत पर्यायों में से कुछेक। भाषा में इतनी शक्ति भी नहीं है कि वह सब पर्यायों को कह सके। 'अ' अक्षर के अनन्त पर्याय हैं। वाणी में हजार भी नहीं उतरते। पूर्णता की बात ही कहां है।

० क्या संकल्प-विकल्प को रोकना ही समाधि है ? समाधि, एकाग्रता और ध्यान में क्या अन्तर है ?

केवल संकल्प-विकल्प को रोके और ध्येय का बोध न रहे तो जागृत समाधि नहीं हो सकती। ध्येय-शून्य संकल्प-विकल्प का निरोध है शून्य समाधि। संकेल्प-विकल्प की शून्यता और ध्येय की शून्यता—दोनों एक नहीं हैं। समाधि में संकल्प-विकल्प की शून्यता है पर ध्येय की शून्यता नहीं है। समाधि के प्रकर्ष में ध्येय का रूपान्तरण हो जाता है। दृष्टि, दृष्टा और दर्शन; ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; ध्याता, ध्यान और ध्येय—इनमें से प्रत्येक त्रिक एकात्मक बन जाता है। इसे उदाहरण के द्वारा समझें। आत्मा ध्येय है। मैं उसका साक्षात् करना चाहता हूं। मैं दृष्टा हूं। आत्मा दृश्य है। मेरी दर्शन की अपनी प्रक्रिया है। एकाग्रता के द्वारा आत्मा को देखूं—यह है मेरा दर्शन। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—ये तीनों बराबर चल रहे हैं। मैं उस बिन्दु पर पहुंच जाऊं कि जहां आत्मा का साक्षात्कार हो जाए, फिर न ध्येय रहा और न ध्यान रहा। दोनों समाप्त हो गए, ध्येय, ध्याता और ध्यान—सब एक हो गए। एकाग्रता साधन है। वह ध्यान में भी होती है और समाधि में

भी होती है। जैसे धारणा का प्रकर्ष ध्यान है वैसे ही ध्यान का प्रकर्ष समाधि की एकाग्रता ध्यान की एकाग्रता से बहुत प्रकृष्ट होती है।

• द्रष्टा का स्वरूप क्या है ?

द्रष्टा का शब्दार्थ है—देखने वाला। चेतना शुद्ध हो, उसमें कोई विकल्प न हो, भूमिका का नाम द्रष्टा है। इस भूमिका में केवल चैतन्य का प्रवाह होता है। दूसरा कोई नाला उसमें नहीं मिलता। न प्रियता और न अप्रियता का भाव। न राग और न द्वेष का मनोभाव। न संवेदन और न प्रतिक्रिया। चैतन्य और केवल चैतन्य। इसे कुछ साधकों ने साक्षीभाव कहा है और कुछ ने शुद्ध उपयोग कहा है।

• चैतन्य को केन्द्रित करो, चित्त को केन्द्रित करो या मन को केन्द्रित करो—तीनों एक हैं या भिन्न-भिन्न ?

चैतन्य व्यापक है। चित्त उससे छोटा है और उससे छोटा है मन। चित्त (बुद्धि) स्थायी तत्त्व है। मन उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। फिर उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। जब हम कहते हैं—चैतन्य को केन्द्रित करो तो उसका अर्थ है चैतन्य की धारा को कषाय की ओर प्रवाहित करो। जब हम कहते हैं—चित्त को केन्द्रित करो तो उसका अर्थ है चित्त की निर्णयात्मक शक्ति को आत्मा में विलीन करो। जब हम कहते हैं—मन को केन्द्रित करो तो उसका अर्थ है संकल्प-विकल्प का विरोध करना।

३ तप समाधि

इस दुनिया में जीने वाला कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो ताप से परिचित न हो। गर्मी से, अग्नि से हर आदमी परिचित है। क्योंकि ताप के बिना जीवन नहीं चलता। ताप की, ऊष्मा की, गर्मी की जरूरत है, इस स्थूल शरीर के लिए भी और इससे परे भी।

हम जब कभी सोचते हैं तो इस स्थूल शरीर के संदर्भ में सोचते हैं। कभी-कभी आत्मा की भी बात करते हैं। आत्मा तो बहुत सूक्ष्म है। आत्मा और इस स्थूल शरीर के बीच में एक नई दुनिया और है। बहुत बड़ी दुनिया है वह। यदि हम उस बीच वाले जगत् को जान लेते हैं तो तप की बात ठीक समझ में आ जाती है। यह एक दृश्य शरीर है। यह उदार है यानी सघन और स्थूल पुद्गलों से बना है। इसके पुद्गल ठोस और सघन हैं, बड़े हैं, स्थूल हैं, इसलिए हमें दिखाई देता है यह। इसके भीतर कुछ शरीर और हैं जो सूक्ष्म और विरल पुद्गलों से बने हैं, इसलिए हमें नहीं दीखते। उनका पता नहीं चलता। शरीर-शास्त्रियों को भी पता नहीं चलता। वे भी कहते हैं—ये सूक्ष्म शरीर हैं कहां ? शरीर की पूरी शल्य-चिकित्सा करके देख लेने पर भी नहीं दीखते। किन्तु जिन्होंने अन्तर्दृष्टि से देखा, कार्य-कारण के संबंध से देखा तो उन्होंने कहा कि शरीर के भीतर भी और शरीर हैं। स्थूल शरीर के बाद आता है तैजस शरीर। इसे तप शरीर भी कहते हैं। इसे विद्युत् का शरीर, ऊर्जा का शरीर या प्राण का शरीर कहते हैं। यह सूक्ष्म है, दिखाई नहीं देता। स्थूल शरीर की सारी शक्ति, गतिशीलता, हलन-चलन जो कुछ है, वह सारी की सारी तैजस शरीर के कारण है। यदि वह सक्रिय न हो तो शक्ति नहीं मिल सकती। लकवा मार गया और शरीर निष्क्रिय हो गया। इसका मतलब है कि तैजस शरीर का सम्बन्ध वहां से टूट गया। विद्युत् शरीर का सम्बन्ध वहां से टूट गया। वह निष्क्रिय हो गया। जहां-जहां तैजस शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है, वहां-वहां निष्क्रियता आ जाती है। शरीर जड़ हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है।

हमारी सक्रियता का मूल कारण है तैजस शरीर। वह विद्युत् का है,

तापमय है। उसी में से प्राण पैदा होता है। योग के आचार्य इसे 'प्राण-शरीर' कहते हैं। पश्चिम के लोगों ने इसे इथेरिक बाडी (Etheric Body) कहा है। इसके आगे है—कार्मण शरीर, कर्म शरीर। यह सब का मूल है। जहां से शक्ति मिलती है तैजस शरीर को, जहां से शक्ति मिलती है स्थूल शरीर को, वह है कर्म शरीर। सारी शक्ति का संचालन करने वाला है कर्म शरीर। उसे वासना शरीर या मानस शरीर भी कहा जाता है। थियोसोफिस्ट इसे ऐस्ट्रल बॉडी (Astral Body) मानते हैं हमारे ये तीन शरीर हैं—

१. स्थूल शरीर—सात धातुओं से निष्पन्न शरीर।

२. तैजस शरीर या प्राण शरीर।

३. कर्म शरीर या वासना शरीर—सारी घटनाओं का मूल शरीर।

शरीर में बीमारी हुई। हम कहते हैं—आंखें दुःख रही हैं, पेट में दर्द है, घुटने और छाती में दर्द है। क्या बीमारी पैदा होती है आंख में? क्या पेट में दर्द होता है? क्या घुटने और छाती में दर्द होता है? कभी नहीं। यहां बीमारी पैदा नहीं होती, प्रकट होती है। बल्ब में रोशनी पैदा होती है? बिजली पैदा दूसरी जगह होती है किन्तु प्रकट होती है बल्ब में। इसी प्रकार रोग स्थूल शरीर में, उसके विभिन्न अवयवों में प्रकट होता है किन्तु उत्पन्न होता है कर्म शरीर में। रोग स्थूल शरीर में दिखाई देता है आज, किन्तु वह कर्म शरीर में पहले ही बन जाता है। न जाने कब से। आजकल तो विशेष संवेदनशील कैमरे भी बन गए हैं जिनसे पता लग सकता है कि सूक्ष्म शरीर में रोग कब-कैसे हुआ था। बाहर के स्थूल शरीर में वह कब प्रकट होगी, यह भी पता लग जाता है। योगशास्त्र में 'कोष' की चर्चा है। स्थूल शरीर में दो कोष माने जाते हैं—अन्नमयकोष और प्राणमय कोष। सूक्ष्म शरीर में तीन कोष हैं—मनोमय कोष, विज्ञानमयकोष और आनन्दमयकोष। ये पांच कोष हैं। कर्म आठ हैं। कर्म शरीर में विज्ञानमयकोष भी है, आनन्दमयकोष भी है, और शक्ति का कोष भी है।

योग की दो पद्धतियां हैं—

१. स्थूल शरीर को प्रभावित करना। स्थूल शरीर में प्रकम्पन पैदा कर सूक्ष्म शरीर को सक्रिय बनाना।

२. स्थूल शरीर को छोड़कर सीधा सूक्ष्म शरीर को सक्रिय बनाना, प्रकंपित करना।

पहली पद्धति का नाम है बाह्य तप और दूसरी का नाम है आन्तरिक तप। आन्तरिक तप की पद्धति में स्थूल शरीर को बीच में नहीं लाया जाता, सीधा कर्म शरीर या मानस शरीर को प्रभावित किया जाता है। आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर ने कहा—'धुणे कम्पसरीरगं'—कर्म शरीर को धुन डालो। यह आन्तरिक तप की प्रक्रिया है।

तप का यदि साहित्यिक भाषा में अनुवाद किया जाए तो उसका अर्थ होगा—आन्दोलन। एक आन्दोलन पैदा कर देना, एक प्रकम्पन या हलचल पैदा कर देना, इसका नाम है—तप। आन्दोलन के बिना जमे हुए संस्कारों की निर्जरा नहीं होती। जहां जिस चीज को बाहर निकालना है, रेचन करना है वहां तीव्र प्रकम्पन पैदा करना होगा। हलचल करनी होगी। आन्दोलन के बिना जमी हुई चीज उखड़ेगी नहीं। यह है तप का काम। तप एक आन्दोलन है। आन्दोलन तो हमारे शरीर में पहले से ही चालू है। तप का अर्थ है—आन्दोलन के प्रति आन्दोलन। आन्दोलन के विरोध में आन्दोल। पतंजलि ने कहा था—'वितर्के प्रतिपक्ष-भावनम्।' जहां दोष है वहां विपक्ष की भावना करो। वितर्क का अर्थ है—दोष। हिंसा, घृणा आदि दोषों को समाप्त करना हो तो प्रतिपक्ष की भावना करो। उनके विरोध में आन्दोलन प्रारम्भ कर दो। तप विरोधी आन्दोलन है। हमारी सक्रियता दूसरी दिशा में बही जा रही है, उसके प्रति विरोधी आन्दोलन छेड़ देना, इसका नाम है तप।

अब प्रश्न होता है चुनाव का कि इन पद्धतियों में से हम किसे स्वीकार करें? यह रुचि और क्षमता का विषय है। उसी पर आधारित है। सीधा सूक्ष्म शरीर पर प्रहार करना, कर्म शरीर के प्रति आन्दोलन करना—कठिन कार्य है। सब की इसके प्रति रुचि भी नहीं होती। लोग तो यह देखना चाहते हैं कि बना क्या? मिला क्या? क्या हुआ? मूलरूप चाहते है, सूक्ष्मरूप नहीं चाहते। वैसे लोग बाह्य तप करते हैं। जो तत्त्वदर्शी और आत्मज्ञानी होते हैं वे बाह्य तप का आलम्बन नहीं लेते। वे सीधा कर्म शरीर को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। इसी आधार पर हठयोग और राजयोग की पद्धतियां चलती हैं। हठयोग स्थूल शरीर को प्रभावित करने की प्रक्रिया है महावीर ने किसी एक ही विचार को मान्यता नहीं दी। उनका दृष्टिकोण सर्वग्राही था। जब सब लोग एक रुचि के नहीं, एक क्षमता के नहीं, तब फिर एक आलम्बन कैसे हो सकता है? संसार में भिन्न-भिन्न रुचि के लोग हैं। कुछ लोग ध्यान नहीं कर सकते, तपस्या कर सकते हैं, उपवास नहीं कर

सकते हैं। कुछ लोग उपवास नहीं कर सकते, दो-चार घंटा ध्यान कर सकते हैं। सबको एक में कैसे बांधा जाए ? सबको यह अनिवार्य कैसे कहा जाय कि तुमको ध्यान ही करना होगा। अगर यह होगा तो उस भूमिका के सारे लोग वंचित रह जायेंगे जो तपस्या करने में रुचि रखते हैं। ध्यान करने की जिनमें योग्यता है उनको यदि एक मास की तपस्या करने को कहा जाए तो वे जीवन-पर्यन्त भी वैसा नहीं कर पायेंगे। वे भी अपनी योग्यता से वंचित रह जायेंगे। महावीर ने सर्वग्राही दृष्टिकोण के द्वारा सब साधना-पद्धतियों को ग्रहण कर कहा—'साधना का मार्ग ध्यान भी है और तप भी है और दूसरे मार्ग भी हैं। ध्यान के मार्ग से भी लक्ष्य तक पहुंचा जा सकता है और तप के मार्ग से भी लक्ष्य तक पहुंचा जा सकता है। तुम्हारी रुचि यदि तपस्या करने की है तो तपस्या करो। यदि ध्यान में रुचि है तो ध्यान करो। तुम्हारी रुचि यदि स्वाध्याय में है तो स्वाध्याय करो। सारे के सारे मार्ग हैं लक्ष्य तक पहुंचने के। कोई जल्दी ले जाएगा तो कोई देरी से। सब पहुंचेंगे निश्चित। यह तो अपनी-अपनी योग्यता और क्षमता का प्रश्न है।

समूची साधना-पद्धति में बारह उपायों का संकलन किया गया है। उन उपायों को दो भागों में बांट दिया—यह बाहर का तप और यह भीतर का तप। यह स्थूल शरीर को प्रभावित करने वाला तप और यह सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करने वाला तप। यह पहले स्थूल शरीर को प्रभावित कर बाद में सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करने वाला तप और यह सीधा सूक्ष्म शरीर को प्रभावित करने वाला तप। पहले का नाम है बाहर का तप। नाम भी सुन्दर है। यह भीतर का तप नहीं है। यह दरवाजे तक ले जाने वाला माध्यम है। अन्दर प्रवेश निषिद्ध है। जो बाह्य तप में रुचि लेते हैं, वह उनके चुनाव का ही परिणाम है। यह सारा चुनाव स्थूल शरीर के स्तर पर हुआ। आचार्यों ने इसकी परिभाषा करते हुए, इसे बाह्य तप कहने के कई कारण बतलाए हैं। उनमें दो मुख्य हैं—

१. यह बाहरी सामग्री से संबंध रखता है, इसलिए बाह्य तप है।

२. यह बाहर के शरीर को तपाता है, मांस, मज्जा, रक्त को सुखाता है, शोषण करता है, इसलिए बाह्य तप है।

प्राचीन ग्रंथों में तपस्वियों के शरीर के वर्णन में उल्लेख आता है कि तपस्वी का शरीर सूख गया था। मांस सारा चला गया था, रूक्ष हो गया था। शरीर हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया था, अस्थि-कंकाल मात्र रह गया था।

साधना की वह अजीब पद्धति है कि बाहर के शरीर को सुखा डालो। यह बाहर के शरीर को सुखाता है, ताप देता है, तपाता है, शोषण करता है, इसलिए बाह्य तप है। यह क्यों आवश्यक है ? इससे समाधि कैसे प्राप्त होगी ? यदि आपका शरीर ठीक है, पर्याप्त मांस और रक्त है तो वह समाधि का साधन हो सकता है। शरीर स्वस्थ है तो शान्ति मिलती है, समाधि मिलती है। शरीर सूख रहा है, तप रहा है तो बाह्य तप समाधि कैसे बन सकता है ? वह तो असमाधि बन जाएगा। यह एक शरीर-शास्त्रीय प्रश्न है। हमारे सामने फिर इसे समाधि क्यों कहा जाए ? पचास दिन तक यदि भोजन न करें तो शरीर अवश्य सूखेगा। ऐसी स्थिति में इसको तप समाधि कैसे कहें ? इस बिन्दु पर हम जब आते हैं तब कुछ नयी दिशाएं उद्घाटित होती हैं।

भोजन के दो कार्य हैं—शक्ति देना और ताप—ऊष्मा पैदा करना। भोजन केवल यही तो नहीं देता। वह और भी कुछ देता है। वह शरीर में सक्रियता पैदा कर उत्तेजना देता है। शरीर में जितने काम-केन्द्र, वासना-केन्द्र, आवेग-केन्द्र और स्मृति-केन्द्र हैं, वे सारे के सारे उत्तेजित होते हैं भोजन को प्राप्त कर। भोजन के अभाव में ये सारे केन्द्र शिथिल हो जाते हैं क्योंकि उन्हें अब सहयोग नहीं मिलता। सहयोग का रास्ता कट जाता है। सेना को जब रसद नहीं मिलती, वह आगे नहीं बढ़ पाती। शत्रु-सेना सबसे पहले रसद के मार्ग को काट देती है। उपवास रसद के मार्ग को काट देता है। जो पहुंच रहा है, जिससे शक्ति मिल रही है, उसे रोक देता है। उपवास किया, रस नहीं मिला तो कोई सक्रियता नहीं, कोई उत्तेजना नहीं। उस स्थिति में इन्द्रियां शान्त, मन शान्त, और सब कुछ ढीला-ढाला। शक्ति का स्रोत सूखने लग जाता है क्योंकि उसे कुछ प्राप्त नहीं हो रहा है। इस प्रक्रिया के द्वारा यह होता है कि उत्तेजना या सक्रियता के जो साधन हैं, उपाय हैं, निमित्त हैं, उनको हम समाप्त कर देते हैं। किन्तु पूरा समाप्त नहीं कर पाते। यह पूरी प्रक्रिया नहीं है। केवल मार्ग में जो व्यवधान डालते थे, उन्हें शिथिल बना डालते हैं। बाह्य तप में तीन बातें मुख्य हैं—

१. उपवास या मिताहार।
२. आसन आदि (कायक्लेश)।
३. प्रतिसंलीनता।

आहार का विसर्जन, परित्याग, एक शब्द में उपवास, इसलिए कि जिससे

उत्तेजना पैदा हो रही है, उसका मार्ग अवरुद्ध किया जाए।

आसन का उपयोग यह है कि शरीर के जो मर्म-स्थल हैं, जहां ज्ञानवाहक और गतिवाहक सूत्र हैं (जिन्हें योग की भाषा में चक्र, शरीर-शास्त्रीय भाषा में ग्रंथियां कहते हैं) उन बिन्दुओं को प्रभावित करना, उनको सक्रिय करना, उनमें हलचल पैदा करना, उन्हें जागृत करना। आयुर्वेद के ग्रन्थों में १५० मर्म-स्थल माने हैं और जापानी मानीषियों ने सात सौ से अधिक मर्म-स्थानों की गवेषणा की है। इन सबको सक्रिय कर देना आसन का कार्य है। इसको हम कायक्लेश कहते हैं।

प्रतिसंलीनता संबंध-विच्छेद की प्रक्रिया है। आंख से कुछ दिखाई दे रहा है और वह व्यवधान बन रहा है तो आंख को बन्द करें। कान से कुछ सुनाई दे रहा है और व्यवधान बन रहा है तो कान को बन्द करें। भोजन से कठिनाई होती है तो खाओ मत, जीभ पर कुछ डालो ही मत। एक शब्द में यह निरोध की प्रक्रिया है। प्राप्त विषय पर राग-द्वेष न करना ही प्रतिसंलीनता का एक प्रकार है। किन्तु यह उतना बाह्य नहीं है, पर बाह्य के वर्गीकरण से जुड़ा हुआ है। बाह्य तप में पहला प्रकार ही अधिक उपयुक्त लगता है कि विषयों से अपने आपको अलग कर दो। उससे हटा लो। खिड़कियों को, रास्तों को बन्द कर दो जिससे कि तुम तक कोई वस्तु पहुंचे ही नहीं।

इस प्रकार बाह्य तप में तीन बातें प्राप्त होती हैं—

१. भोजन को सर्वथा बंद कर देना या अल्प कर देना।

२. शरीर में हलन-चलन पैदा करना जिससे कि शरीर के विशेष स्थान सक्रिय हो जाएं, वे अपना संकुचन छोड़कर विकसित हो जाएं, खुल जाएं।

३. निरोध करना। विषयों के आगमन-द्वारों को रोकना या सहज प्राप्त इन्द्रिय-विषयों के प्रति राग-द्वेष न करना।

हम भोजन नहीं करते हैं तो इसका परिणाम केवल स्थूल शरीर पर ही नहीं होता, सूक्ष्म शरीर पर भी होता है। यदि उसका परिणाम केवल स्थूल शरीर पर ही होता तो वह बहुत छोटी बात होती। स्थूल शरीर बेचारा दोनों ओर से घसीटा जा रहा है। इधर विषयों की अभिव्यक्ति होती है स्थूल शरीर में, उधर सजा भी उसे ही मिलती है। दूसरी बात यह है कि सूक्ष्म शरीर को भी शक्ति प्राप्त होती है स्थूल शरीर के माध्यम से ही। उसे भी शक्ति चाहिए। वह स्थूल शरीर से ऐसा काम करवाता है कि उसे शक्ति प्राप्त हो सके। उपवास करना सूक्ष्म शरीर को पसन्द नहीं है। भूखा रहा स्थूल शरीर और

चोट पड़ी सूक्ष्म शरीर पर। ऊर्जा का स्रोत है स्थूल शरीर। हमारा मन बुरी बात सोचता है तो ताकत किसे मिलती है? ताकत मिलती है सूक्ष्म शरीर को, कर्म शरीर को। सारी शक्ति प्राप्त होती है स्थूल शरीर के द्वारा। जब भोजन बंद होता है तो परेशानी होती है सूक्ष्म शरीर को। उसका प्रभाव वहां तक पहुंच जाता है।

जब हम आसन करते हैं तब विशेष स्थान जागृत होते हैं। वे विशेष स्थान प्राण शरीर में हैं। उससे आगे होते हैं कर्म शरीर में। जो चक्र स्थान हैं या मर्म-स्थान हैं, उनका मूल है कर्म शरीर। वहां से वे प्रतिनिधित्व होते हैं प्राण शरीर में और वहां से उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है स्थूल शरीर में। एक दूसरे का प्रतिबिम्ब है। तीव्रतम घटना अंकित होती है कर्म शरीर पर, उससे हल्की तैजस शरीर पर और अत्यन्त स्थूल होती है स्थूल शरीर पर। इसको ही हम सब कुछ मान लेते हैं। हमारे चक्र मूलतः कर्म शरीर में हैं। अच्छा-बुरा संस्कार, ज्ञान-अज्ञान—यह सारा का सारा लेखा-जोखा वहां से होता है। जब हम इस स्थूल शरीर में सक्रियता पैदा करते हैं तो उसका प्रभाव होता है प्राण शरीर पर और फिर कर्म शरीर पर। वहां तक प्रभाव पहुंच जाता है। ठीक यही बात प्रतिसंलीनता में है। जब हम प्रतिसंलीन होते हैं तब हम अपनी इन्द्रियों को, मन को रोकते हैं, विवेक से रोकते हैं। कर्म शरीर को जो मिल रहा था, वह बन्द हो जाता है। इस प्रकार चाहे हम भोजन बंद करें, आसन आदि के द्वारा विशेष स्थानों को सक्रिय करें अथवा इन्द्रियों को तथा मन को रोकने का प्रयत्न करें—इन तीनों का प्रभाव कर्म शरीर तक पहुंचता है। अगर नहीं पहुंचता है तो ये सारी बातें तप की कोटि में नहीं आतीं। तप नहीं होता। इस स्थूल शरीर से हमारा विरोध क्या है? इस बेचारे ने हमारा बिगाड़ा ही क्या है? तप तभी है जब वह कर्म शरीर को तपाए। तपाने की प्रक्रिया बाहर की ओर से मिलती है, इसलिए कहा गया बाह्य तप, बाहर का तप।

जो कर्म शरीर को क्षीण न करे, प्रभावित न करे वह तप नहीं होता महावीर की भाषा में। जो केवल स्थूल शरीर को तपाता है, महावीर ने उसे अज्ञान तप कहा है। दो शब्द हैं—बालतप और पंडिततप, ज्ञानतप और अज्ञानतप। एक व्यक्ति अग्नि का ताप लेता है, शूलों की शय्या पर सो जाता है—यह बालतप है, अज्ञानतप है। यह कठिन भी बहुत है। महावीर ने कहा—'अज्ञानपूर्ण तप तप नहीं है, कष्ट अलग बात है और तप अलग बात।

वह अज्ञानतप इसलिए है कि वह केवल स्थूल शरीर को तपाता है, कर्म शरीर को नहीं। जहां हिंसा हुई वहां कर्म शरीर को ताकत मिली, वह तपा नहीं। कर्म शरीर को जहां बल मिलता है, महावीर उसे तप नहीं मानते। चाहे तुम कष्ट भी सहो पर उसका परिणाम पहुंचना चाहिए कर्म शरीर तक। तब यह तप होगा अन्यथा नहीं। यदि कष्ट तो हुआ पर उसका परिणाम कर्म शरीर तक नहीं पहुंचा, कर्म शरीर प्रकंपित नहीं हुआ तो वह तप नहीं होगा, कष्ट मात्र होगा। बाल तप और पंडिततप, अज्ञानतप और ज्ञानतप के बीच यह स्पष्ट भेद-रेखा है कि जो कर्म शरीर को तपाए वह पंडिततप और जो केवल स्थूल शरीर को ही तपाए, कष्ट दे, वह बालतप।

जो कर्म शरीर को शक्ति पहुंचाए वह स्थूल शरीर को कष्ट देने पर भी तप नहीं होता। वह केवल अज्ञानपूर्ण कष्ट है। उसे अज्ञान का कष्ट कहा जाना चाहिए।

जो ताप कर्म शरीर तक प्रभाव डाले वह होता है वास्तव में तप। कष्ट देना धर्म नहीं है। शरीर को कष्ट देना तप नहीं है। तप वह है जो स्थूल शरीर को तपाने के साथ-साथ कर्म शरीर को भी तपाए। जहां कर्म शरीर तक ताप नहीं पहुंचता तो वह तप है ही नहीं। कर्म शरीर को तपाने में कष्ट होना जरूरी नहीं है। कष्ट हो भी सकता है और नहीं भी। बिना कष्ट के भी हम उसे तपा सकते हैं, सक्रिय कर सकते हैं। कष्ट हो भी और ताप उस तक न पहुंचे तो वह तप की प्रक्रिया नहीं है, यथार्थ तप की प्रक्रिया नहीं है। इसलिए यह धारणा स्पष्ट होनी चाहिए कि कष्ट होना तप नहीं है, किन्तु कष्ट होने पर उसको सहा जाए और ताप कर्म शरीर तक पहुंच जाए, तब तप होगा।

बाह्य तप के विषय में हमारी धारणा स्पष्ट होनी चाहिए। बाह्य तप के द्वारा हम स्थूल शरीर को तपाना नहीं चाहते। यह हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारा उद्देश्य है—कर्म शरीर को परितप्त करना, उसे झकझोर देना, धुन डालना, प्रकंपति कर देना। यह होता है तब बाहर का कष्ट भी तप बन जाता है।

बाह्य तप की प्रक्रिया में सभी शरीर—स्थूल शरीर, प्राण शरीर और कर्म शरीर, और इन शरीरों को मिलने वाले बाहर के सारे साधन तथा उपकरण चाहे भोजन, मकान, पुद्गल, हवा, सुगन्ध, दुर्गन्ध, खट्टे-मीठे रस, सुन्दर और भद्दे रूप, कोमल और कठोर स्पर्श—ये सारे के सारे मिलकर तप की

स्थिति का निर्माण करते हैं। इन्द्रियों का भी इसमें योग होता है और मन का भी योग होता है। उन सारी स्थितियों का पूरा विश्लेषण कर, उन सब को एक साथ जोड़ें तब यह बाह्य तप बनता है।

आन्तरिक तप

बाहर और भीतर कोई अलग-अलग नहीं है। यह हमारे समझने की व्यवस्था मात्र है। केला और उसका छिलका कोई अलग-अलग नहीं है। छिलका न हो तो केला नहीं हो सकता और केवल छिलका ही हो तो भी केला नहीं हो सकता। दोनों चाहिए। एक सुरक्षा है जो निर्माण को आगे बढ़ाती है और एक निर्मिति है जो छिलके को भी मूल्य दे देती है। यदि गूदा न हो तो छिलके का मूल्य नहीं हो सकता। भीतर में कुछ सार अधिक होता है इसलिए छिलके को मूल्य मिल जाता है। छिलका होता है तभी भीतर में कुछ हो सकता है। इसलिए बाहर और भीतर—दोनों इतने जुड़े हुए हैं कि हम उन्हें काटकर नहीं देख सकते, व्याख्या नहीं कर सकते।

बाहर का ताप और भीतर का तप—ये भी कटे हुए नहीं हैं। कोई बाहर का तप करेगा, उसके साथ भीतरी भाग भी होगा, भीतरी तप होगा, आन्तरिक तप होगा। जो भीतर का करेगा, उसके साथ बाहर का भी कुछ न कुछ जुड़ा रहेगा। किन्तु विभाजन इसलिए कि—

जहां मानसिक स्तर पर साधना होती है वह आन्तरिक तप है और जहां शरीर के स्तर पर साधना होती है वह बाह्य तप है, बाहर का तप है। मानसिक स्तर की साधना कठिन है। यह साधना विकास की अगली भूमिका में प्रारम्भ होती है। विकास की पहली भूमिका में केवल शरीर पर ही साधना होती है और योग्यता भी उतनी ही विकसित होती है। स्थूल शरीर से चलकर हम प्राण शरीर तक पहुंच जाते हैं, उसे साध लेते हैं। हमारा प्राण शरीर शक्तिशाली हो जाता है। किन्तु मानस शरीर उतना विकसित नहीं होता। जैसे ही दृश्य शरीर—स्थूल शरीर और प्राण शरीर की साधना आगे बढ़ती है, मानस शरीर का विकास प्रारम्भ हो जाता है। वह उचित भूमिका में आ जाता है, परिवर्तन हो जाता है। यह है स्वभाव-परिवर्तन की प्रक्रिया।

कोई व्यक्ति उपवास करता है। आवश्यक नहीं कि उसमें ऋजुता भी हो। उसमें माया और वंचना भी हो सकती है। माया के कारण भी वह उपवास करता है। उपवास करते समय भी माया हो सकती है। किन्तु प्रायश्चित्त

तब करते हैं जब माया नहीं होती। प्रायश्चित्त और माया—दोनों एक साथ नहीं रह सकते। जब मानसिक परिवर्तन होगा, स्वभाव बदलेगा तब ही प्रायश्चित्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। प्रायश्चित्त भीतरी तप है, अन्तर् तप है। उपवास करना सरल है। उपवास किया जा सकता है किन्तु माया के स्वभाव को बदले बिना प्रायश्चित्त नहीं किया जा सकता। पूरी ऋजुता तब जब तक नहीं आती, प्रायश्चित्त नहीं होता। प्रायश्चित्त अन्तर् तप है। क्यों है—यह प्रश्न है। वह अन्तर् तप इसलिए है कि यह सारी क्रिया मानसिक स्तर पर या मनोमयकोष के स्तर पर घटित होती है। इसका शरीर से कोई संबंध नहीं है। जब मन की इतनी योग्यता बढ़ जाती है, मन इतना बदल जाता है, स्वभाव इतना बदल जाता है कि छुपाव की गांठें खुल जाती हैं, ग्रंथि-मोक्ष हो जाता है, ऋजुता आ जाती है, तब प्रायश्चित्त का भाव उदित होता है। यह केवल मन से घटित होने वाली घटना है। प्रायश्चित्त का अर्थ ही है—बदलने की प्रक्रिया।

प्रायश्चित्त का अर्थ पश्चात्ताप नहीं है। सामान्यतः प्रायश्चित्त का अर्थ पश्चात्ताप ही किया जाता है, किन्तु प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप में कोई तालमेल नहीं है। **प्रायश्चित्त का अर्थ है**—चित्त का शोधन (चित्तस्य शोधनं प्रायश्चित्तम्)। **प्रायश्चित्त** दो शब्दों से बना है—**'प्रायः'** और **'चित्त'**। **'प्रायः'** का अर्थ—शोधन और **'चित्त'** का अर्थ है—चित्त, मन। जिससे चित्त का शोधन होता है, उस प्रक्रिया का नाम है—प्रायश्चित्त। पश्चात्ताप तो बहुत छोटी-सी बात है। हर आदमी पश्चात्ताप करता है। सामान्य से सामान्य व्यक्ति भी पश्चाताप करता है। विदेशी लोग छोटी-सी भूल पर 'सॉरी' (Sorry) कह देते हैं। यह पश्चात्ताप है, प्रायश्चित्त नहीं। यह सभ्यता और शिष्टता के स्तर पर चलती हैं। यह शोधन की प्रक्रिया नहीं है।

प्रायश्चित्त मन को निर्मल बनाने की प्रक्रिया है, रूपान्तर की प्रक्रिया है। जो व्यक्ति आलोचन करता है अपने दोषों की, वह अपनी सारी की सारी भूलें सामने रख देता है। व्यक्ति प्रवृत्ति करता है, उसकी गांठें बनती चली जाती हैं। इस प्रकार हमारे भीतर संस्कारों की असंख्य गांठें हैं। प्रतिक्रमण उन गांठों को खोलने की प्रक्रिया है। प्रतिक्रमण में उन गांठों को खोलने का प्रयत्न होता है।

आज की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की प्रक्रिया और प्रायश्चित्त की प्रक्रिया

में कोई अन्तर नहीं है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सक रोगी को बिस्तर पर लिटाकर कहता है–'जो कुछ स्मृति में आए, कहते रहो, कहते चले जाओ। एक घंटा, दो घंटा, एक दिन, दो दिन, दस दिन····कहते रहो, कहते रहो।' रोगी जो मन में आया बाहर फेंकने लगता है, वह कहता चला जाता है। वह बात करता है, फिर कुछ स्मृति में आते ही कह डालता है। फिर कुछ क्षणों तक इधर-उधर की बातें करता है और फिर स्मृति का कुछ अंश उगलता है। यह क्रिया चलती जाती है। चिकित्सक बार-बार अनुरोध की भाषा में कहता है—'कहीं छिपाना मत। मन में जो आए, उसे साफ-साफ कह देना। यह मत सोचना कि कहने का परिणाम क्या होगा? लोगों में अच्छा लगेगा या नहीं? मेरी प्रतिष्ठा का क्या होगा? मत सोचना ऐसी बातें। बच्चे की भांति सब कुछ उगल देना।' यथार्थ में यही प्रायश्चित्त की प्रक्रिया है। गुरु कहता है शिष्य से—'दोष हुआ है, भूल हुई है, घबराओ मत। उसे खोकलर कह दो मेरे सामने। गांठ रहने ही न पाए मन में, इस प्रकार उसे खोल देना। छिपाना मत। छिपाओगे तो नयी गांठ बन जाएगी। नहीं छिपाओगे तो जो गांठ बनी है, वह खुलती चली जाएगी और मन निर्मल हो जाएगा। सावधान रहना। मन में माया न आ जाए। मन में लोक-लाज का भाव न आ जाए। मन में वंचना का भाव न आ जाए। विशुद्ध चित्त होकर, भूल की प्रक्रिया को आदि से अन्त तक कह दो।' वह सारी बातें खोलकर रख देता है। रोगी चिकित्सक के सामने जीवन की सारी बातें उगल देता है। मनोवैज्ञानिक चिकित्सक समझ लेता है कि किस विचार से इसके मन में ग्रन्थिपात हुआ है? किस कारण से ऐसी स्थिति पैदा हुई है। वह कारणों का विश्लेषण कर चिकित्सा के निर्देश देता है और वह स्वस्थ हो जाता है।

प्रायश्चित्त की भी यही प्रक्रिया है। यह वास्तव में शोधन की प्रक्रिया है, ग्रन्थि-विमोचन की प्रक्रिया है। गांठ को खोलने की प्रक्रिया मानसिक स्तर पर ही घटित होती है। वह मानसिक परिवर्तन या स्वभाव-परिवर्तन के स्तर पर ही घटित होती है। इसलिए यह अन्तर तप है, बाह्य तप नहीं है।

विनय

यह भी अन्तर् तप है। हमने विनय का एक अर्थ पकड़ रखा है। वह अर्थ है—विनम्रता। यह विनय का एक अर्थ है, किन्तु यह अर्थ विनय की समग्रता का वाचक नहीं है। महावीर की वाणी में विनय का जो समग्र रूप

व्याख्यात है, उसका प्रतिपादन औपपातिक सूत्र में मिलता है। विनय के सात प्रकार हैं—

१. ज्ञान विनय।
२. दर्शन विनय।
३. चारित्र विनय।
४. मन विनय।
५. वचन विनय।
६. काय विनय।
७. लोकोपचार विनय।

इस वर्गीकरण से कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर की समग्र साधना पद्धति इस एक शब्द 'विनय' में संग्रहीत हुई है। विनय आंतरिक प्रक्रिया है। यह अहं की ग्रन्थि को तोड़ने की प्रक्रिया है, अहं-मोक्ष की प्रक्रिया है। अहं की गांठ तीव्र होती है और वह हर जगह बाधक बनती है। ज्ञान में भी बाधक बनती है। अभिमानी व्यक्ति ज्ञान को स्वीकार नहीं कर सकता। वह अहं के प्रदर्शन में ज्ञान का नियोजन करता है। दर्शन में भी अहं की गांठ बाधक बनती है। अहं इतने गलत ढंग से प्रस्तुत होता है कि व्यक्ति सत्य को यथार्थ रूप में देख ही नहीं पाता। वह अयथार्थ को देखता है, होता कुछ और है और देखता कुछ और है।

छोटी-सी कहानी है एक बुढ़िया थी। उसके पास एक मुर्गा था। मुर्गा रोज बांग देता और बाद में सूरज निकलता था। बुढ़िया को ऐसा अहं हो गया कि मेरा मुर्गा बांग देता है तभी सूरज निकलता है। यदि यह बांग न देगा तो सूरज निकलेगा ही नहीं। कुछ दिन बीते। एक दिन बुढ़िया का गांव-वालों से झगड़ा हो गया। बुढ़िया नाराज हो गयी। उसने गांववालों से कहा—'लो, मैं गांव को छोड़कर चली जाती हूं। तुम भी ध्यान रखना। मैं जाऊंगी तो मेरा मुर्गा भी मेरे साथ चला जाएगा। फिर सूरज कैसे निकलता है, देखूंगी!'

बुढ़िया चली गयी। मुर्गा उसके साथ चला गया। वह दूसरे गांव में जाकर बस गयी। वहां भी वही हुआ। मुर्गों के बांग देने के बाद ही सूरज निकलता। जब-जब मुर्गा बांग देता है, तब-तब बुढ़िया सोचती है—देखा, मेरा मुर्गा बांग देता है तो इस गांव में भी सूरज निकल आता है। यहां तो सूरज निकल आता है किन्तु वे बेचारे रोते होंगे पीछे से, क्योंकि वहां मेरा मुर्गा

तो है नहीं। मुर्गे के अभाव में सूरज भी नहीं निकलता होगा।'

यह भी एक अहं है। अहं के कारण ही आदमी की दृष्टि गलत होती है, भ्रांत होती है और वह तब सत्य को देख ही नहीं पाता। अहं हमारे ज्ञान में बाधक बनता है, हमारे दर्शन में बाधक बनता है और हमारे चारित्र में—आचरण में बाधक बनता है। अहं मन की पवित्रता में बाधक बनता है। अहं वाणी की पवित्रता में बाधक बनता है। अहं शरीर की ऋजुता में, पवित्रता में बाधक बनता है। अहं शिष्टाचार में बाधक बनता है। सातों प्रकार में वह बाधक बनता है, इसलिए विनय के सात प्रकार किए गए हैं। यदि अहं के स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता, अहं की गांठ नहीं खुलती है तो ज्ञान, दर्शन तथा आचरण की पवित्रता और मन, वाणी तथा शरीर की पवित्रता प्राप्त नहीं होती। समाज शिष्टाचार से भी वंचित हो जाता है। यदि हम इस भूमिका को भी न निभा सकें तो अगली भूमिकाओं की बात ही क्या? जिस व्यक्ति में स्वभाव परिवर्तित हो जाता है वह व्यक्ति अहं की गांठ को खोलता है। यह आंतरिक परिवर्तन है, बाह्य नहीं। अहं-विसर्जन किए बिना कोई भी व्यक्ति विनय नहीं कर सकता। हमारी अन्तर् साधना का दूसरा क्रम है—अहं का विसर्जन।

अन्तर् साधना के क्रम में पहला है प्रायश्चित्त अर्थात् संस्कारों की ग्रंथियों को खोलने के लिए ऋजुता का संपादन, ऋजुता की साधना, चित्त को निर्मल करने की साधना और दूसरा है विनय—अहं के विसर्जन की साधना। तीसरा है वैयावृत्त्य है।

वैयावृत्त्य

इसका अर्थ है—सेवा। यह समझने में कठिनाई होती है कि सेवा अन्तर्तप क्यों है? मैं यदि आपका काम कर देता हूं तो यह आंतरिक तप क्या है? यह तो व्यवहार मात्र है। यह तो परस्पर का व्यवहार है। इसका आंतरिकता क्या है यह बहुत बड़ा प्रश्न है किन्तु जब हम गहरे में डुबकियां लेंगे तो ज्ञात होगा कि महावीर के दर्शन को यदि हम सेवा के संदर्भ में देखें तो पता चलेगा कि सेवा का अर्थ काम कर देना नहीं है। किसी के काम में व्यावृत्त होना या व्यापार करना ही सेवा नहीं है। सेवा का और ही कुछ रहस्य है। वह रहस्य है—तादात्म्य की स्थापना करना। समग्रता की अनुभूति का प्रयोग है सेवा। दूसरे व्यक्ति के साथ इतना तादात्म्य कर लेना कि उसका दुःख और मेरा दुःख, कोई दो चीज न रहे, दोनों एक हो जाएं। उसकी अपेक्षा और मेरी

अपेक्षा दो न रहे। यह जो तादात्म्य की अनुभूति है, समत्व की अनुभूति है, एकत्व की अनुभूति है, यह है सेवा। काम करना और करवाना व्यवहार मात्र है। यह अन्तर् तप कैसे हो सकता है? अन्तर् तप उसमें है कि सेवा करने वाला व्यक्ति इतना बदल जाता है, उसमें इतनी करुणा आ जाती है, अहं का इतना विसर्जन हो जाता है कि वह यह कभी नहीं मानता कि यह शरीर मेरा है और वह उसका। वह यह कभी नहीं मानता कि यह जरूरत उसकी है और यह मेरी। अभिन्नता की बात सेवा है।

जैन वाङ्मय में इस अभिन्नता का प्रतिपादन स्थान-स्थान पर हुआ है। एक आचार्य कहते हैं—'एक्कम्मि हीलियम्मि सव्वे ते हीलिया हुंति'—यदि तुम एक साधु की अवज्ञा करते हो तो समूचे साधु-संघ की अवज्ञा करते हो।' एक्कम्मि आराहियम्मि सव्वे ते आराहिया हुंति'—यदि तुम एक साधु का सम्मान करते हो तो समूचे साधु-संघ का सम्मान करते हो। इसका मतलब बहुत गहरा है। एक साधु है। वह व्यक्ति नहीं है। वह उस साधुत्व से जुड़ा हुआ है जिस साधुत्व से शेष सब साधु जुड़े हुए हैं। यह अवज्ञा साधुत्व की अवज्ञा है। यह पूजा साधुत्व की पूजा है। किसी व्यक्ति की अवज्ञा नहीं, किसी व्यक्ति की पूजा नहीं। इस संदर्भ में जब सेवा की बात देखते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि एक साधु की जो अपेक्षा है, वह साधुत्व की अपेक्षा है। एक साधु का शरीर है, वह साधुत्व का शरीर है, संयम का शरीर है, न कि किसी व्यक्ति विशेष का। इसलिए जो एकत्व और समत्व की भावना है, जो तादात्म्य की अनुभूति है, वह है वास्तविक सेवा। इसीलिए यह आंतरिक तप है। इसमें आंतरिकता की बहुत जरूरत है। जैसे अहं की ग्रन्थि टूटे बिना विनय नहीं होता, वैसे ही ममत्व की ग्रन्थि टूटे बिना सेवा नहीं होती। जब मेरे मन में भेद बना रहेगा तब मैं यह सोचूंगा कि मैं मेरे लिए काम कर दूं, दूसरे की क्यों चिंता करूं। वे अपनी जानें।' यह ममत्व की ग्रन्थि भेद डाल रही है—यह तुम्हारा, यह मेरा। ऐसी स्थिति में मैं अपनी सुविधा की बात सोचूंगा। स्वार्थ की बात सोचूंगा। स्वार्थ मानसिक भूमिका पर पनपने वाला एक दोष है। योग के आचार्यों ने यह माना है कि जब तक स्वार्थ की बात नहीं टूटती, स्वार्थ की भावना नहीं छूटती, तब तक मनोमयकोष का विकास नहीं होता। व्यक्ति में परमार्थ की बात ही तब आती है जब मनोमयकोष का विकास होता है। साधना के द्वारा जब यह कोष विकसित होता है तब व्यक्ति इस भाषा में नहीं सोचता कि यह मेरा है यह उसका है। वह सर्वत्र अपनत्व की दृष्टि से देखने लगता है। जब अपनत्व की दृष्टि का विकास होता है तब

भेद की बात समाप्त हो जाती है। सेवा किसी दूसरे की नहीं होती, सेवा वास्तव में अपनी होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो ममत्व का विसर्जन ही वास्तव में सेवा है।

चौथा क्रम है—स्वाध्याय का। यह भी मानसिक भूमिका पर होता है। मन के दो कार्य हैं—कल्पना और तत्त्व-विचार। जिस व्यक्ति का मानसिक विकास समुचित मात्रा में नहीं होता, वह तत्त्व-विचार नहीं कर सकता। उसकी तात्त्विक भूमिका प्रशस्त नहीं होती। तत्त्व-विचार वही कर सकता है जिसका मानसिक विकास पर्याप्त मात्रा में हो जाता है।

स्वाध्याय है तत्त्व-विचार के द्वारा सत्य का बोध करना, अन्तर्बोध करना। स्वाध्याय का अर्थ पुस्तक पढ़ना मात्र नहीं है। वह अनुप्रेक्षा तक चलता है। भावना भी उसमें सन्निहित है। शब्द या भावना के माध्यम से गहराई में उतरकर सत्य तक पहुंच जाना, सत्य का आंतरिक निरीक्षण करना, आंतरिक बोध करना, यह है स्वाध्याय।

एकाग्रता और निर्विचार—ये दोनों मानसिक क्रियाएं हैं। ये मन और बुद्धि के स्तर पर घटित होती हैं, अर्थात् मन भी स्थिर और बुद्धि भी स्थिर। ये दोनों मानसिक चैतन्य और बौद्धिक चैतन्य पर घटित होती हैं, इसलिए आंतरिक हैं, बाहरी नहीं हैं। इनमें भी बाहर का योग होता है। इनमें शरीर और वाणी का सम्बन्ध रहता है, किन्तु इतना गौण होता है इनका योग कि इनका सारा बहाव अन्दर की ओर होता है, बाहर की ओर नहीं।

पांचवां क्रम है—ध्यान का। इस विषय में हम अन्यत्र विस्तार से बता चुके हैं।

छठा क्रम है—व्युत्सर्ग का। इसका अर्थ है—विसर्जित करना। विसर्जन की बात बहुत आन्तरिक है। यह सारी आन्तरिक प्रक्रिया है। छोड़ना बड़ा कठिन है। इसके साथ-साथ साधना की पद्धति जुड़ी हुई है। शरीर को विसर्जित करना कायोत्सर्ग है। यह साधना की पद्धति है। किन्तु इसके साथ और भी कुछ महत्त्वपूर्ण बातें जुड़ी हुई हैं। संसार का व्युत्सर्ग करना, कषाय का व्युत्सर्ग करना—ये सब इसी के साथ जुड़े हुए हैं। काया का विसर्जन तो ठीक बात है। व्यक्ति लेट गया, शरीर को ढीला छोड़ दिया, शिथिल कर दिया, यह काया का विसर्जन हो गया। किन्तु जब तक शरीर के प्रति ममत्व का भाव बना रहता है, तब तक काया का पूरा विसर्जन नहीं होता, पूरा कायोत्सर्ग नहीं होता। कायोत्सर्ग की दो अपेक्षाएं हैं—

पहली अपेक्षा है—शरीर का पूर्ण शिथिलीकरण और दूसरी अपेक्षा है ममत्व का शिथिलीकरण। जब तक 'मेरा शरीर' यह भावना रहेगी तब तक पूरा कायोत्सर्ग नहीं हो सकेगा। कायोत्सर्ग के साथ भेद-विज्ञान आवश्यक हैं। देहाभ्यास का छूटना बहुत जरूरी है। 'आत्मा भिन्न और शरीर भिन्न' —यह बुद्धि जब तक स्पष्ट नहीं होती तब तक पूरा कायोत्सर्ग नहीं हो सकता। अन्दर का तनाव बना रहता है। 'कहीं गिर न जाऊं', 'मेरे शरीर पर चोट न आ जाए'—यह विचार आते ही शरीर में तनाव आ जाता है। कायोत्सर्ग के समय ममत्व को इतना विसर्जित कर देना होता है कि यह भाव ही न रहे कि शरीर मेरा है। साधना की यह भी एक पद्धति है। इससे आगे की बात है—कर्म का विसर्जन। यह कठिन साधना है। यह कोई हाथ की बात नहीं है। यदि यह सरल होता तो व्यक्ति आठों ही कर्मों का विसर्जन कर अकर्म बन जाता। पर ऐसा हो नहीं सकता। कर्म के विसर्जन की साधना *क्या है—इसे समझना है। ज्ञानावरण कर्म* का विसर्जन करने का तात्पर्य है कि ज्ञानावरण कर्म की प्रकृतियों को नष्ट करने वाली साधनाओं में लग जाना। इसका नाम है—कर्म का व्युत्सर्ग। जिन उपायों से नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति के आयुष्य का बंध होता है, उन उपायों को समाप्त करने की साधना करना—इसका मतलब है संसार का व्युत्सर्ग। अगर यह न हो तो संसार का व्युत्सर्ग तप क्या होगा? संसार का व्युत्सर्ग तप तब होगा जब यह संसार नष्ट हो जायेगा, तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान के बाद। तप वही है कि जिस कर्म के प्रभाव से संसार बढ़ रहा है, उसके प्रतिपक्ष में ऐसी साधना करना जिससे संसार का आयुष्य टूट जाये। कर्म-व्युत्सर्ग का तात्पर्य है कि ऐसी साधनाएं करना, जिससे कि कर्म की जो प्रकृतियां हैं, कर्म का जो स्वभाव है, वह टूट जाए। इस साधना का विकास आवश्यक है। आज इस साधना का स्वरूप ही प्राप्त नहीं है। कितना अच्छा होता कि आज इसका अन्वेषण होता और साधक इस कर्म-व्युत्सर्ग की प्रक्रिया में लगते।

कर्म आठ हैं और उनकी पचासों प्रकृतियां हैं। उन प्रकृतियों को परिवर्तित करने के लिए, उनका व्युत्सर्ग करने के लिए, अमुक-अमुक साधना निश्चित की जाए कि इस साधना के द्वारा अमुक कर्म की अमुक प्रकृति विसर्जित हो सकती है, तो बहुत बड़ा लाभ हो सकता है। असाध्य माने जाने वाली स्थितियों को हम साध्य बना सकें—यह है कर्म-व्युत्सर्ग की प्रक्रिया।

ये सारी प्रक्रियाएं आन्तरिक हैं, मानसिक स्तर पर घटित होने वाली हैं।

ये मानसिक विकास के अमुक स्तर पर आने के बाद, स्वभाव में परिवर्तन होने के बाद, रूपान्तरण के बाद सहज होने वाली क्रियाएं हैं, घटनाएं हैं। इसलिए इन्हें आन्तरिक तप की श्रेणी में रखा गया है।

इस प्रकार बाह्य और आन्तरिक तप साधना के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। एक तो बाहर से भीतर की ओर ले जाने का प्रवेशद्वार खोल देता है और दूसरा भीतर ले जाकर, सारी समस्याएं सुलझाकर, हमें समाधि तक ले जाता है। इन दोनों का स्पष्ट बोध किया जाए तो साधना में नए उन्मेष आ सकते हैं।

• क्या देखा-देखी तपस्याएं करना बालतप है ?

नहीं, सारा बालतप नहीं है। व्यवहार के स्तर पर जो चलता है, वह व्यवहार की बात होती है। फिर भी हमें ठीक समझ लेना चाहिए। सारा तप बालतप नहीं होता। प्रायः लोग जो उपवास आदि तपस्याएं करते हैं, वे विशुद्ध भावना से ही करते हैं, आत्मशुद्धि के लिए ही करते हैं। वे चाहे 'आत्मशुद्धि' की बात को दोहराएं या नहीं, यह अलग प्रश्न है, किन्तु वे करते इसीलिए हैं। कहीं-कहीं तप दिखावे के लिए भी किया जाता है, यह अच्छी बात नहीं है।

• तपस्या से तैजस-शरीर क्षीण होता है या तेजस्वी ?

यह तो मानदंड की बात है। मानदंडों को हमने ही निश्चित किया है। किन कारणों से कर्म शरीर पुष्ट होता है और किन कारणों से क्षीण होता है, कर्मशास्त्र की सारी की सारी प्रक्रिया इसी आधार पर चलती है। जिन्हें हम कर्म-बन्ध के हेतु मानते हैं, वे कर्म शरीर को पुष्ट करने वाले तथ्य हैं। अच्छा होता कि जैन मनीषी कर्मशास्त्र का योगशास्त्रीय और मानसशास्त्रीय अध्ययन करते। इस अध्ययन से अनेक नए तथ्यों का उद्घाटन हो सकता है और इस नई पद्धति का आविष्कार कर सकते हैं। समझ लीजिए कि वर्तमान में अमुक व्यक्ति के ज्ञानावरण कर्म की अमुक प्रकृति का उदय है तो उसे अमुक प्रकार की साधना करनी होगी और यदि किसी दूसरे कर्म की दूसरी प्रकृति का उदय है तो उसे भिन्न प्रकार की साधना करनी होगी। अमुक कर्म के लिए अमुक साधना। यह उस कर्म की चिकित्सा-पद्धति है। शरीर और मन की जितनी बीमारियां, उतनी ही तपस्या की पद्धतियां। आचार्यों ने मंत्रों का आविष्कार किया और विधान बनाए कि अमुक प्रकार की मंत्र-सिद्धि के लिए तेला करो, बेला करो, उपवास करो, आचाम्ल करो, आदि-आदि। उन्होंने एक-एक कर्म के उपशमन के लिए, मंत्रों के साथ

तपस्या की अनेक विधियों का विधान किया। आज यदि इन पद्धतियों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाए, पचासों विद्वान् लगें तो अनेक नए तथ्य सामने आ सकते हैं।

तपस्या से मोह शरीर क्षीण होता है और तैजस शरीर प्रदीप्त होता है। कबीर ने लिखा है—'बाहर से तो कछुयन दीखे, भीतर जल रही जोत'। आचार्य भिक्षु ने भी यही आशय प्रकट किया है। आगम सूत्रों में मुनि को 'भासछन्न हुतासन' कहा है। तपस्वी मुनि भस्मच्छन्न अग्नि की भांति लगते हैं। वैसी अग्नि जो ऊपर से राख से ढंकी हुई हो और भीतर प्रदीप्त। तपस्वी मुनि में तपः तेज की लक्ष्मी की प्रखरता आ जाती है। उनके मन में इतनी सघन समाधि उत्पन्न होती है कि उनके पास बैठने वाला प्रत्येक व्यक्ति परम शान्ति का अनुभव करने लगता है। यह है तैजस शरीर का विकास। यह है तैजस शरीर की तेजस्विता। यह है प्राण शरीर का विकास।

भगवती सूत्र में एक प्रसंग है। भगवान् महावीर साधनाकाल में तपस्या अधिक करते थे। उनका शरीर सूख गया था, क्षीण हो गया था। स्कंधक संन्यासी उनके पास आया। उसने भगवान् को देखा और एकटक निहारता रहा उनको। भगवान् सुन्दर लगे, पुष्ट लगे। उसका कारण बताते हुए वहां लिखा है—अब भगवान् प्रतिदिन भोजन करने लगे हैं, इसलिए शरीर पर चमक आ गयी है। यह चमक भोजन की चमक है। स्थूल शरीर को यदि आहार न मिले तो वह क्षीण हो जाता है। चाहे वह शरीर भगवान् का हो या किसी अन्य व्यक्ति का हो। प्राण-शक्ति का तेज हो जाना, तेजस्विता का बढ़ जाना, यह तैजस शरीर का विकास है। जिनका तैजस शरीर विकसित होता है, वे जो बात कहते है, सामने वाला व्यक्ति उसे टाल नहीं सकता। यह है उनकी तेजस्विता। यह तैजस शरीर का काम है। यह सच है कि अन्त में उसे भी क्षीण करना होता है। यह शरीर कर्म शरीर या स्थूल शरीर में बाधक नहीं बनता। यह तो विद्युत् शरीर है, उपकरण मात्र है सक्रियता को योग देने वाला है।

• जो अभिग्रहधारी होता है उसकी अपनी निश्चित मर्यादाएं हैं। वह किसी का विनय नहीं करता, हाथ नहीं जोड़ेगा, आदि-आदि। क्या यह भी तप है?

यह सब संगठन की व्यवस्था है। मेरा किसके साथ में संबंध हो, मैं किसकी सेवा करूं, किसकी न करूं—ये सारी बातें व्यवहार के या तीर्थ के स्तर पर चलती हैं। दो बातें हैं। निश्चय नय की बात है सत्य की प्रविधा

और व्यवहार नय हमेशा व्यवहार या तीर्थ के साथ जुड़ा हुआ होता है। संगठन में एक व्यक्ति जुड़ता है और वह उसकी मर्यादा को स्वीकार करता है। ये सारी व्यवहार की बातें हैं। इसके साथ हम मानसिक परिवर्तन या आन्तरिक तप की स्थिति नहीं जोड़ सकते। यदि हम ऐसा करते हैं तो दोनों में उलझन पैदा हो जाती हैं। हाथ जोड़ना, सामने आना, खड़ा होना—यह कोई आन्तरिक तप नहीं है। यह लोकोपचार है। आन्तरिक तप है विनय। उसका अर्थ है—अहं की ग्रंथि का विमोचन।

• आपने कहा कि कर्म के विलय के लिए प्रक्रियाएं हैं। यदि हम वेदनीय कर्म की या ज्ञानावरणीय कर्म को दूर करने के लिए उन प्रयोगों को काम में लें तो क्या दिक्कत है ?

दिक्कत क्या हो सकती है ? उस ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। पद्धतियां नहीं हैं—यह नहीं है। प्राचीन ग्रंथों में विभिन्न पद्धतियों के संकेत मिलते हैं। कुछ स्पष्ट निर्देश भी प्राप्त होते हैं। आठों कर्मों के लिए पूरा का पूरा विवरण मिलता है कि अमुक कर्म के उदय में अमुक मंत्र का जाप और अमुक तप। जप और तप—दोनों साथ-साथ जुड़े हुए मिलते हैं। किन्तु आज वे विस्मृत-से हो गए हैं। काल के प्रवाह से विस्मृति आ गयी है। हम उन पद्धतियों की ओर ध्यान केन्द्रित करें, उन्हें स्मृति में लाएं तो आज उनका प्रयोग किया जा सकता है और लाभ भी उठाया जा सकता है।

५ दर्शन समाधि

सचमुच मैं उल्टा चला हूं और कभी-कभी उल्टा चलना भी जरूरी होता है। सबसे पहले दर्शन समाधि की चर्चा होनी चाहिए थी। किन्तु ज्ञान समाधि, चारित्र समाधि, तप समाधि, सामायिक समाधि—इन सबकी चर्चा होने के बाद दर्शन समाधि की चर्चा हो रही है। यह विषय-व्यवस्थापन के क्रम में पहला रहेगा, किन्तु चर्चा के क्रम में बाद में आएगा। इसका भी कारण है। यह अन्त में इसलिए जरूरी है कि हमने जितनी चर्चा की है, जितने आगे आए हैं, अन्त में यह मानकर चलें कि 'वितिगिच्छा समावण्णेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहीं'—जो संदेहशील है वह समाधि नहीं पा सकता। यह उपसंहार है सारी चर्चा का। महावीर ने सुन्दर बात कही है कि जिसके मन में विचिकित्सा है उसे कभी समाधि नहीं मिल सकती। उसे न ज्ञान की समाधि प्राप्त होती है, न चारित्र की समाधि, न तप की समाधि और न दूसरी समाधि। समाधि उसे ही मिलती है जिसके मन में कोई विचिकित्सा नहीं है, संशय नहीं है, संदेह नहीं है और अपने लक्ष्य के प्रति, अपनी पद्धति के प्रति बिलकुल असंदिग्ध है।

एक भारतीय युवक अमेरिका गया। वह अपने मित्र के ऑफिस में बैठा था। उसका मित्र बार-बार अपनी पत्नी को फोन कर रहा था। आधे-आधे घंटे में फोन पर पत्नी से बात करते देख, उसने पूछा—'आपका तो पत्नी पर बहुत प्रेम है, फिर बार-बार फोन किसलिए करते हैं ?' वह बोला—'सच बताऊं, प्रेम कुछ भी नहीं है। मुझे यह भरोसा ही नहीं है कि वह घर पर है या मुझे छोड़कर किसी दूसरे के साथ चली गयी है। इसलिए समय के थोड़े-थोड़े अन्तर से यह तसल्ली कर लेता हूं कि स्थिति क्या है ?'

क्या ऐसा व्यक्ति, जिसे यह भरोसा नहीं है कि घंटा-दो घंटा बाद उसकी पत्नी रहेगी या नहीं, कभी समाधि पा सकता है ? कभी नहीं। जहां भरोसा नहीं, विश्वास नहीं, उसे कभी समाधि नहीं मिल सकती। समाधि के लिए विश्वास का होना बहुत जरूरी है। आस्था का होना बहुत जरूरी है। व्यक्ति ध्यान प्रारंभ करता है, पर सोचता रहता है कि सफल होऊंगा या नहीं, वह पहले कदम पर ही स्खलित हो जाता है। वह लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाता।

वास्तव में सबसे पहले विचिकित्सा छूटनी चाहिए। इसीलिए उचित ही कहा है—'नादंसणिस्स नाणं'—जिसमें दर्शन नहीं, श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं, साक्षात्कार नहीं, उसमें ज्ञान भी नहीं है। जिसमें ज्ञान नहीं है, उसमें चरित्र नहीं हो सकता—'नाणेण विद्य न हुंति चरणगुणा।' ज्ञान समाधि और चारित्र समाधि—ये सब दर्शन के बाद होने वाली समाधियां हैं। सबसे पहले दर्शन की समाधि होनी चाहिए क्योंकि इतरभाव सहन नहीं होता। जब तक कैंसर है, व्रण है, तब तक समाधि कैसे होगी ? तीन शल्य हैं—माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य। जब तक मिथ्यादर्शन शल्य भीतर विद्यमान है तब तक समाधि की बात या कल्पना निरर्थक है। इसके रहते समाधि कभी नहीं आ सकती। समाधि के लिए पहली शर्त है कि शल्य न रहे। शल्य-चिकित्सा से घाव भर जाता है। कोई पीड़ा नहीं होती। जब पीड़ा नहीं होती है तो समाधि अवश्य प्राप्त होती है।

प्राचीन काल में अनेक दार्शनिकों के समक्ष यह प्रश्न आया कि धर्म का मूल क्या है ? भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से इस पर विचार हुआ और भिन्न-भिन्न समाधान प्रस्तुत हुए। किसी ने कहा—**'विणयमलो धम्मो'**—धर्म का मूल विनय है। किसी ने कहा—**'दयामूलो धम्मो'**—धर्म का मूल दया है। आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ। उन्होंने समाधान की भाषा में कहा—**'दंसणमूलो धम्मो'**—धर्म का मूल है दर्शन। जो देखता है वही धर्म को प्राप्त होता है।

देखना क्या है ? जो अतीत को काटकर, भविष्य को बंद कर, केवल वर्तमान को देखता है, उसका नाम है देखना। उसी का नाम है—साधना। वर्तमान की धारा में अतीत और भविष्य—दोनों की धारा मिले नहीं तो समझ लीजिए कि आपने साधना के क्षेत्र में प्रवेश कर लिया, आपको देखना आ गया। जहां इन तीनों कालों—अतीत, भविष्य और वर्तमान की संलग्नता है, वहीं साधना का सबसे बड़ा विघ्न है। साधना को तीनों कालों को अलग-अलग कर देना है, तोड़ देना है। इसमें हमें पूर्ण अनित्यता का सूत्र काम में लेना है।

संग्रहनय, व्यवहारनय और ऋजुसूत्र नय—ये तीन नय हैं, तीन दृष्टियां है। संग्रहनय की दृष्टि से अभेद का दृष्टिकोण हमारे सामने प्रस्तुत होता है। व्यवहारनय हमें भेद की ओर ले जाता है। ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से केवल वर्तमान ही हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। केवल वर्तमान, न अतीत और न

भविष्य । वर्तमान वही है जो अतीत से टूट चुका है और भविष्य से विच्छिन्न है । जहां न अतीत है और न भविष्य है, केवल वर्तमान है । अतीत का अस्तित्व नहीं है क्योंकि वह बीत चुका । अनागत का भी अस्तित्व नहीं है क्योंकि वह अभी तक प्राप्त नहीं है । अस्तित्व है केवल वर्तमान का, क्योंकि वह है । इसीलिए साधना में वर्तमान का महत्त्व है, न अतीत का और न भविष्य का । हम वर्तमान में जीयें । यदि हम वर्तमान में जीते हैं तो साधना बहुत आगे बढ़ जाती है ।

हमें ध्यान वर्तमान में करना है । उस समय विघ्न आता है अतीत से । इतनी स्मृतियां उभरने लगती हैं कि वर्तमान हाथ से छूट जाता है, डोर छूट जाती है, वर्तमान का क्षण निकल जाता है । और ध्यान-साधक अतीत के प्रवाह में बह जाता है । उसका अन्त नहीं है । स्मृतियों का क्या अन्त हो ?

दूसरा विघ्न आता है—भविष्य की ओर से । ध्यान-साधक ध्यान करने बैठता है । उसका मन भविष्य की सुखद कल्पनाओं से भर जाता है । वह सोचने लग जाता है—कल क्या करना है ? आगे क्या करना है ? वह कल्पना में डूब जाता है कि वर्तमान हाथ से निकल जाता है । इस प्रकार दोनों ओर से—अतीत से भी और भविष्य से भी—कठिनाइयां आती हैं । और साधक भटक जाता है । वह खो जाता है अतीत की गहराइयों में या भविष्य की ऊंचाइयों में । इस स्थिति में ऋजुसूत्र नय का दृष्टिकोण यथार्थता प्रस्तुत करता है । वह केवल वर्तमान को पकड़कर चलता है । मैं समझता हूं कि यह दृष्टिकोण तत्त्व की दृष्टि से असत्य नहीं तो पूर्ण सत्य भी नहीं है । किन्तु साधना की दृष्टि से यह बहुत ही मूल्यवान सूत्र है । यह वर्तमानग्राही सूत्र है । वर्तमान में हम रहें—यही इसका मूल है ।

वेदान्त ने भी अभेद के दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है । वेदान्त का यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है । अभेद का दृष्टिकोण पूर्ण सत्य है, यह मैं नहीं कह सकता । सत्य है, यह कहा जा सकता है । साधना की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है । जहां अभेद की प्रतीति होती है वहां मैत्री, समता और अहिंसा का पूर्ण विकास होता है । शुक्लध्यान के दो प्रकार हैं—पृथक्त्व-वितर्क-सविचार और एकत्व-वितर्क-अविचार । जब हम भेद की भूमिका में रहते हैं, तब तक सविचार होता है । हमारा ध्यान बदलता रहता है, संक्रमण होता रहता है । जब हम अभेद की भूमिका में रहते हैं तब अविचार होता है । हमारा ध्यान अविचार होता है, वह बदलता नहीं । उसमें संक्रमण नहीं

होता। सर्वथा अविचार रहता है, अविचार की अनुभूति होते ही मैत्री का, अहिंसा का, समता का हमारे जीवन में निर्बाध प्रवेश हो जाता है।

एक आदमी भैंसे को पीट रहा था। तुकाराम ने कहा—'तुम मुझे पीट रहे हो।' उसने कहा—'महाराज ! आपको नहीं, भैंसे को पीट रहा हूं।' तुकाराम बोले—नहीं, एक-एक कोड़ा जो भैंसे की पीठ पर पड़ रहा है, उसका मेरी पीठ पर प्रहार हो रहा है। इसीलिए तो कह रहा हूं कि तुम भैंसे को नहीं, मुझे पीट रहे हो।' यह अभेदानुभूति है, अभेद का अनुभव है। तुकाराम ने इतना अभेद साध लिया कि भैंसे और स्वयं में कोई अन्तर नहीं रहा। भैंसे की पिटाई ने स्वयं की पिटाई का तीव्र अनुभव करा डाला। इतनी एकात्मता उसके साथ जुड़ गयी।

कबीर का पुत्र कमाल घास काटने जंगल गया। सामने अथाह घास है। कमाल वहां खड़ा है और एकटक उसे निहार रहा है। मध्याह्न हुआ। दिन ढला। सांझ हो गई। कमाल खड़ा ही रहा और देखता रहा घास को। कबीर आया। पुत्र को इस प्रकार खड़े देखकर बोला—'खड़ा-खड़ा क्या देख रहा है ? सांझ हो चली है। घास काट और घर चल।' कमाल का ध्यान टूटा। वह बोला—'किसे काटूं ? कैसे काटूं ? जो प्राणधारा मेरे भीतर प्रवाहित हो रही है वही प्राणधारा इस घास में प्रवाहित हो रही है। इसे कैसे काटूं ? नहीं काट सकता। क्या मैं अपने ही हाथों अपना छेदन-भेदन करूं ? यह संभव नहीं है। यह सर्वथा असंभव है।'

यह अभेदानुभूति है, एकात्मता का अनुभव है। जब यह अभेदानुभूति साक्षात् हो जाती है तब क्या साधना शेष रह जाती है ? कुछ भी नहीं। साधना वहां शेष रहती है जहां भेद का अनुभव होता है। जहां अभिन्नता सध जाती है वहां कोई भिन्न दिखाई नहीं देता।

आचार्य सिद्धसेन उज्जैन के एक मंदिर में सो रहे थे। मूर्ति की ओर पैर थे। राजा तक शिकायत पहुंची। राजा ने आदेश दिया कि मुनि को मंदिर से हटा दिया जाए। राजपुरुष आए। मुनि से निवेदन किया। पर वे वहां से हटे नहीं। राजपुरुषों ने उन पर कोड़े बरसाए। मुनि हंसते रहे। उन पर कोड़े का एक भी प्रहार नहीं हो रहा था। वह प्रहार हो रहा था अन्तःपुर की रानियों पर। रानियों की पीठें छिल गईं, लहूलुहान हो गईं। मुनि ने इतना अभेद साध लिया था कि कोड़ा पड़ रहा है उनकी पीठ पर और मार लग रही है अन्तःपुर की महारानियों की पीठ पर।

जहां स्थूलता का भेद समाप्त होकर अभेद की स्थिति आ जाती है वहां साधना परिपक्व हो जाती है। दार्शनिक दृष्टि से जो आनेवाली उलझनें या असमाधियां हैं, उनका निरसन तीन दृष्टियों से किया जा सकता है—

१. अभेद की दृष्टि—अद्वैत या वेदान्त की दृष्टि।

२. भेद की दृष्टि—नैयायिक और वैशेषिक की दृष्टि।

३. ऋजुसूत्र की दृष्टि—बौद्ध दर्शन की दृष्टि

इन तीनों दृष्टियों का सापेक्ष प्रयोग कर हम दर्शन की समस्याओं को सुलझाएं तो हमें दर्शन की समाधि प्राप्त होगी और समाधि तथा साधन के क्षेत्र में आने वाला पहला विघ्न समाप्त हो जाएगा।

समाधि की दूसरी सबसे बड़ी बाधा है—असंतोष। आज कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जहां असंतोष न हो। चाहे धनिकों का क्षेत्र हो या गरीबों का, चाहे शासकों का क्षेत्र हो या शासितों का। सर्वत्र असंतोष ही असंतोष है। क्या साधना के द्वारा इसे मिटाया जा सकता हैं? हां, मिटाया जा सकता है। साधना की उपलब्धि हमारे वर्तमान की समस्या के समाधान में होनी चाहिए। इसी व्यापक संदर्भ में हमने समाधि की चर्चा की है। कुछेक क्षण हम ध्यान में बैठें या समाधि में रहें तब तक हमें समाधान मिले, शांति मिले और जीवन के व्यवहार के क्षेत्र में उतरते ही असमाधान मिले, अशांति उभरे, ऐसी स्थिति में मैं मानता हूं कि ऐसी साधना का कोई मूल्य नहीं हो सकता। आज इतने व्यस्त जीवन में इतना समय नहीं बिताया जा सकता, उस क्षणिक समाधान के लिए, शांति के लिए। आज किसी के पास इतना समय भी नहीं है। साधना का परिणाम वह आना चाहिए कि ध्यान या साधना में रहे, केवल उस समय तक के लिए ही नहीं, किन्तु दिन-रात साधक के मन में असमाधि या असंतोष पैदा हो ही नहीं। मन का निर्माण ही ऐसा हो जाए तो साधना का विशेष अर्थ हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसके लिए आने वाली जो उलझनें हैं, उन पर भी दर्शन समाधि के अन्तराल में विचार कर लेना चाहिए।

पहली उलझन है—असंतोष की। असंतोष किस बात का है? जो पास में है उसका या जो पास में नहीं है उसका? असंतोष इस बात से उभरता है कि 'वह हमारे पास नहीं है।' यही असंतोष का मुख्य कारण है। हम यह नहीं देखते कि यह हमारे पास है। एक करोड़पति है। उसके पास करोड़ की संपत्ति है। करोड़ की संपत्ति है, उसका उसे कोई संतोष नहीं। उसका असंतोष यह है कि उसके पास पांच करोड़ की संपत्ति नहीं है। मंत्री बन गया

इस बात का उसे संतोष नहीं है उसे असंतोष इस बात का है कि वह मुख्य-मन्त्री नहीं है। मुख्यमन्त्री बन गया, इस बात का उसे संतोष नहीं है, उसे असंतोष इस बात का है कि वह प्रधानमन्त्री नहीं बना। जो है उसका असंतोष नहीं होता। आदमी हमेशा अभाव को देखता है, अभाव को खोजता है। मेरे पास यह है, परन्तु यह नहीं है। मेरे पास वह है परन्तु वह नहीं है। यही असंतोष का मूल कारण है। यही दर्शन का मूल दोष है। साधक का काम यह है कि वह जो नहीं है, उसे न देखे, जो है उसे देखे। इतना-सा अन्तर है—साधक में और असाधक में, साधना में और असाधना में, ध्यान करने में और ध्यान न करने में। इतना-सा ही अन्तर है। जो अभाव को देखता है वह न साधना करता है, न ध्यान करता है, न समाधि करता है, और न धर्म की दृष्टि से देखता है। वह हमेशा बाहर को ही देखता है, सामने वाले को ही देखता है। जिसे देखना आ गया, जिसे साधना की दृष्टि प्राप्त हो गई, वह 'ह' को देखेगा, 'नहीं है' को नहीं देखेगा। अभाव को नहीं देखेगा, भाव को देखेगा। अपने जीवन में भावात्मक दृष्टि को प्रकट करना, भावात्मक दृष्टि का उदय करना और अभावात्मक दृष्टि को समाप्त करना—यह है हमारा दर्शन। यह है दर्शन की समाधि। जिस व्यक्ति को यह दृष्टि प्राप्त हो जाती है, उसे कभी असंतोष नहीं होता। फिर वह अपने अस्तित्व को देखने लग जाता है, जो पास है उसे देखने लग जाता है। अब उसे कोई कठिनाई नहीं होती। वह कठिनाइयों का पार पा जाता है। किन्तु जब तक 'यह नहीं है, वह नहीं है' की दृष्टि समाप्त नहीं होती, तब तक कठिनाइयां और असमाधियां आती रहती हैं। उनका कभी पार नहीं पाया जा सकता।

इसलिए दर्शन की समाधि की प्राप्ति के लिए या समग्र साधना की दृष्टि से यह बहुत ही आवश्यक है कि हम अपने अस्तित्व को देखें, 'है' को देखें। यह दृष्टि प्राप्त होते ही अभाव की, असंतोष की दृष्टि समाप्त हो जाएगी और साधना का एक बहुत बड़ा रहस्य हमारे हाथ में आ जाएगा। उस स्थिति में हम हजारों असंतोषों के बीच पूर्ण संतोष और पूर्ण समाधि का जीवन जी सकेंगे।

• वर्तमान की साधना में भूत और भविष्य का प्रवाह समाप्त हो जाता है। 'है' की न तो स्मृति रहती है और न कल्पना। इस दृष्टि से साधना शब्द समाप्त हो जाता है। क्योंकि साधना करते हैं कल्पना द्वारा, 'है' से हटकर क्या बनना है ? होना क्या है ? के लिए तो बनने में साधना आती है। तब

कहां आती है 'है' की साधना ? आप क्या कहते हैं ?

सीधा-सा उत्तर है इसका। साधना के लिए कुछ नहीं बनना है। बनने के लिए साधना है। बनने के लिए तो पहले आपने कर लिया—यह बनना है। अब बनने के लिए जब साधना प्रारम्भ होगी फिर कुछ नहीं बनना है। साधना में तो खाली होना है। खाली होंगे तब ही कुछ बनेंगे। यदि बनने-बनने की बात दिमाग में सवार रही तो बनने कुछ और चले और बन जाएंगे कुछ और। साधना से असाधना में चले जाएंगे।

शंकराचार्य का एक वाक्य है—'चित्तस्य एकाग्रता समाधानम्'—चित्त की जब एकाग्रता होती है तब समाधान या समाधि प्राप्त होती है। 'क्या होना है'—यह तो साधना के प्रारम्भ में हम सोचते हैं। जब करने बैठते हैं तब इस बात को निकाल देना होता है और मन को 'है' में लगा देना होता 'है' में मन लगते ही 'होना है' वह स्वतः हो जाएगा। साधना शब्द को भी आप समाप्त कर दें। उस शब्द में ही जुड़े रहें तो साधना की जगह कुछ और आ जाएगा।

६ चारित्र समाधि

प्राणायाम के तीन अंग हैं—पूरक, कुंभक और रेचक। दूसरे शब्दों में श्वास को भरना, रोकना और छोड़ना। आज मैं आध्यात्मिक प्राणायाम की चर्चा करूंगा। इसका सम्बन्ध श्वास से नहीं है। यह उत्कृष्ट प्राणायाम है। इसके दो ही अंग हैं—कुंभक और रेचक। इसमें पूरक की जरूरत नहीं है। पूरक की जरूरत तो तब हो जब भीतर नहीं हो और बाहर से कुछ लेना पड़े। जो चाहिए वह सब भीतर प्राप्त है, बाहर कुछ भी नहीं है। पर जो नहीं चाहिए वह भी भीतर जुड़ा हुआ है, उसका रेचन कर देना है। कुंभक करना है। केवल दो क्रियाएं करनी हैं—रेचक और कुंभक। इस आध्यात्मिक प्राणायाम का नाम है चारित्र। चारित्र के दो ही काम हैं—खाली करना और निग्रह करना। महावीर की वाणी में—**'एयं चयरित्तकरं चारित्तं होइ अहिया'**—जो भर रखा है, संचय कर रखा है, उसे खाली कर देना चारित्र है। संचय को बाहर फेंकना, ढेर को समाप्त कर देना चारित्र है। यह पहला काम है। उसका दूसरा काम है—निग्रह करना—**'चरित्तेण निगिण्हाइ।'** आध्यात्मिक प्राणायाम की केवल दो क्रियाएं है—कुंभक और रेचक। इन दोनों प्रक्रियाओं का संयुक्त नाम है—चारित्र। आध्यात्मिक प्राणायाम की बहुत सुन्दर प्रक्रिया है। क्योंकि कुंभक के बिना कोई काम नहीं चलता। कुंभक है निग्रह की शक्ति। यदि हमारी निग्रह की शक्ति विकसित नहीं होती है तो हम कुछ नहीं कर सकते। कोरी निग्रह की शक्ति से भी काम नहीं बनेगा। निग्रह की शक्ति तो है, पर संचय को बाहर फेंकने की ताकत नहीं है, तो सफलता नहीं मिलेगी। अन्दरी सफाई होनी चाहिए और निग्रह भी होना चाहिए, जिससे कि दूसरा अन्दर आ न सके।

एक उपभोक्ता ने एक किलो चीनी खरीदी। दूसरे दिन उसने दुकानदार को एक नोट लिखा—'चीनी में कंकर इतने हैं कि चाय बनाई नहीं जा सकती और सड़क बनाने में वे कम पड़ते हैं।' यदि हमारे चैतन्य में इतने कंकर हों तो चैतन्य की चाय बनती नहीं है, उसमें मिठास नहीं आता। कूड़े-करकट को खाली करना अत्यन्त आवश्यक है।

संचय को खाली करना है तो साथ में निग्रह-शक्ति का भी विकास करना होगा। यह क्यों जरूरी है—इसके पीछे भी एक सिद्धांत है। वह यह कि व्यक्ति स्वतन्त्र है, वह दूसरों पर निर्भर नहीं है। आत्म-कर्त्तृत्व का सिद्धांत, आत्म-स्वतन्त्रता का सिद्धांत ही निग्रह का सिद्धांत है। इसे सूक्ष्मता से समझना है। हम क्रोध के, वासना के हारमोन्स को इंजेक्शन के द्वारा बदल सकते हैं। किन्तु इसमें हमारा क्या? यह तो एक यन्त्र के द्वारा हुआ है। क्या आत्मा का इतना भी कर्त्तृत्व नहीं है? क्या आत्मा इतनी स्वतन्त्र नहीं है? क्या आत्मा इतना अधीन और इतना निर्भर है कि यांत्रिक क्रिया की भांति सब कुछ हो जाए। हो तो सकता है, पर वह चारित्र नहीं है। चारित्र दो बातों पर निर्भर है—पहली बात है आत्मा की स्वतन्त्रता और दूसरी बात है आत्मा का पुरुषार्थ। पुरुषार्थ का अर्थ है संयम में वीर्य—'संजमम्मि य वीरियं'। यदि इन्जेक्शन के द्वारा हारमोन्स की रासायनिक क्रियाओं को बदलकर संयम किया जा सकता है तब संयम में पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही क्या है? यह तो सबसे सीधा तरीका है, मार्ग है। न शिविर लगाने की आवश्यकता है और न शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन की आवश्यकता है। डॉक्टर की शरण में जाओ, इन्जेक्शन लगवा लो, साधु बन जाओगे, भले आदमी बन जाओगे, बुरे नहीं रहोगे। किन्तु इससे हम अच्छे नहीं बनेंगे, यन्त्र बन जायेंगे और आत्मा के अस्तित्व से हट जायेंगे। उसे हम अस्वीकार कर देंगे। उसका कोई अस्तित्व नहीं रहेगा, कर्त्तृत्व नहीं रहेगा। आत्मा का कर्त्तृत्व तब है कि वह स्वतन्त्र है। वह निमित्तों से प्रभावित होती है, पर उसमें निमित्तों को हतप्रभ करने की शक्ति भी है। वह उन्हें बदल भी सकती है। निर्वीर्य बना सकती है। वह निमित्तों के वश में नहीं है। निमित्त उस पर हावी होने का प्रयत्न करते हैं, उसे परास्त और पराजित करने का प्रयत्न करते हैं, पर आत्मा में इतनी क्षमता है, इतना वीर्य है कि वह निमित्तों को पछाड़ सकती है। वहां हमारा संयम का सिद्धांत पुरुषार्थ और आत्मा के स्वतन्त्र कर्त्तृत्व पर विकसित होता है। यह चरित्र का सिद्धांत आत्मा की स्वतन्त्रता का और पुरुषार्थ का सिद्धांत है।

हम जानते हैं कि कर्म के बन्धन हमारे साथ हैं। वे प्रकट होकर हमें प्रभावित करते हैं। हमारे शरीर में जितने कर्मस्थान हैं, जितनी ग्रन्थियां हैं, वे सब हमारे चैतन्य को, हमारे आनन्द को, हमारी शक्ति को क्षत-विक्षत, आवृत और विकृत करने का प्रयत्न करती है। पर हम उनके सामने मोर्चा

बांधकर खड़े होते हैं। चारित्र बहुत बड़ा संघर्ष है, युद्ध है। जो व्यक्ति चारित्र को स्वीकार करता है, महायुद्ध में कूद पड़ता है, संघर्ष को स्वीकार करता है। वह जीवन के संघर्ष में आ जाता है। किसी भाई ने कहा था कि जब ध्यान करने बैठता हूं तब अधिक चंचलता आती है। आनी चाहिए। यही तो संघर्ष है। आपने ध्यान प्रारम्भ किया और आपकी चंचलता न बढ़े तो इसका मतलब है कि आप ध्यान में गए ही नहीं। यह तो संघर्ष का पहला चिह्न है कि आप संघर्ष में उतरे हैं और पहले ही क्षण तगड़ा प्रतिरोध हो रहा है, कड़ा संघर्ष हो रहा है। चंचलता इतनी तीव्रता से आ गई कि आपको भान होने लगा कि भीतर भी खराबी है; अन्यथा आपको भान ही नहीं होता। जो संयम नहीं करता उसे यह अनुभव नहीं होता कि मेरे भीतर भी वासना भी है, क्रोध भी है, आवेग भी है, आवेश भी है। खतरनाक मोड़ आते हैं। आप यह न मानें कि साधना करने वाला पहले ही दिन विजय पा लेता है। और अगर यह कोई ढोंग करता है कि मैंने साधु जीवन या श्रावक जीवन की साधना प्रारम्भ की और मैं तो पार पा चुका, तो यह बहुत बड़ा ढोंग होगा। साधना के प्रारम्भ का अर्थ है—संघर्ष के मोर्चे पर खड़े होना, संघर्ष में उतरना। इतने मोड़ आते हैं कि उसे लगता है—अब दबाया जा रहा हूं, अब नष्ट होता जा रहा हूं। संघर्ष तो अभी प्रारम्भ हुआ ही है। जब उसका मध्य-बिन्दु आएगा तब ऐसा लगेगा कि कहीं आप नीचे गिरते जा रहे हैं। बड़े-बड़े साधकों का यह अनुभव है कि आगे की स्थिति में जैसे ही वे आगे बढ़ने लगे कि उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि वे पीछे गिरते जा रहे हैं। विवेकानन्द ने अपने जीवन के एक प्रसंग में लिखा है—'ध्यान की अमुक अवस्था को पार करने पर यह स्पष्ट अनुभव होने लगा कि वासनाएं भयंकर आक्रमण कर रही हैं। अन्दर के विकार इतने उभरकर आ रहे हैं कि उन्हें संभाल पाना कठिन-सा हो रहा है।' महावीर के प्रसंगों में यह चर्चित है कि देवताओं ने उन्हें बहुत कष्ट दिये। यह एक दृष्टिकोण है। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि देवता आये या नहीं, इसे छोड़ दें, किन्तु वासनाओं के संघर्ष, दबे हुए संस्कारों के संघर्ष तो निश्चित ही आए। उन्होंने महावीर को सताना प्रारम्भ किया, अनुकूल रूप में भी और प्रतिकूल रूप में। बहुत सताया, बहुत सताया। पौराणिकता की भाषा में कहें तो देवताओं ने और योग की भाषा में कहें तो संस्कारों ने उनको सताया। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। मूल बात यह है कि हम जैसे-जैसे संघर्ष को तेज करते हैं, महायुद्ध की ज्वाला को जैसे-जैसे

प्रज्वलित करते हैं, वैसे-वैसे भयंकरता बढ़ती है। वह हमारे सामने आ खड़ी होती है। चय को खाली करने की बात सीधी नहीं है। इस साधना में इतने संघर्ष, इतने उतार-चढ़ाव, इतनी विकट परिस्थितियां सामने आती हैं कि साधक को सावधान और जागरूक होकर अपना मार्ग तय करना होता है। इसलिए उसे निग्रह की स्थिति में जाना पड़ता है, निग्रह की शक्ति को बढ़ाना पड़ता है। संघर्ष तो चल रहा है और यदि सुरक्षा की पंक्ति मजबूत न हो तो पराजय का मुंह देखना पड़ता है। युद्ध की व्यूह-रचना में सुरक्षा-पंक्ति का बहुत बड़ा महत्त्व है। निग्रह की शक्ति हमारी सुरक्षा पंक्ति है। इसके होने पर बाहर से कोई खतरा नहीं आ सकता। निग्रह और चय का रिक्तीकरण—दोनों साथ-साथ चलते हैं। दूसरे शब्दों में कुंभक और रेचक के आधार पर चारित्र की समाधि खड़ी होती है।

चारित्र के सात अंग हैं। इनमें पहला अंग है अनाशंसा। जब तक हमारी आशंसा समाप्त नहीं होती, चारित्र जीवन में नहीं आता। मन में आशंसा है, अर्थात् आकांक्षा है, अभिलाषा है, तब तक चारित्र आ नहीं सकता। चारित्र में सबसे बड़ी बाधा है—जीवन की आशंसा। जीवन की आशंसा होने का अर्थ है—मौत का भय। आशंसा और भय—दो चीज नहीं हैं। आपको भय वहीं है जहां आपके मन में कोई आशंसा है। धन की आशंसा है इसलिए चोरी का या चोर का भय बना रहता है। यदि धन की आशंसा न हो तो चोर का भय कभी नहीं हो सकता। जब तक जीवन की आशंसा है तब तक मौत का भय नहीं मिट सकता। मौत का भय का मूल है जीने की आशंसा। जब तक भय है तब तक समता नहीं आ सकती, सामायिक नहीं आ सकता। महावीर ने कहा—**'सामाइय माहु तस्स जं, जो अप्पाण भए ण दंसए'**—सामायिक उसके हो सकता है जिसके मन में भय नहीं होता। भय और सामायिक—दोनों साथ नहीं चल सकते। जहां आशंसा होगी वहां भय होगा। अनाशंसा के बिना अभय नहीं आ सकता और अभय के बिना सामायिक नहीं हो सकता, समता नहीं हो सकती। चारित्र का पहला अंग है अनाशंसा, दूसरा है अभय और तीसरा है समता। ये तीनों बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। साधना के लिए ये इतने बहुत महत्त्वपूर्ण हैं कि आध्यात्मिक साधना करने वाला कोई भी व्यक्ति यदि आशंसा और भय से मुक्त नहीं हैं तो वह हमेशा विषम स्थिति में रहेगा, समता का वही स्पर्श कर पायेगा। उसके लिए चारित्र सम्भव नहीं होगा। चारित्र का आदि-बिंदु है समता और समता की पृष्ठभूमि में है अनाशंसा, तथा इसके

साथ अभय का होना बहुत जरूरी है। कोई भयभीत भी है और साधक भी है—यह समझ में आने वाली बात नहीं है। भय भी है और साधना भी है, यह कभी नहीं हो सकता। जहां साधना है वहां सबसे पहले अभय प्रकट होगा।

भय अनेक प्रकार का है। उसमें दो मुख्य हैं—पूजा-प्रतिष्ठा की कमी का भय और मौत का भय। जब ये दोनों भय मिट जाते हैं तो दुनिया में कोई भय है ही नहीं। आदमी जीवन की आशंसा से सोचता है—कल क्या होगा? जीवन कैसे चलेगा? बुढ़ापे में क्या होगा? सारी की सारी जीवनैषण के साथ भय का यह ताना-बाना बुना रहता है। जब पूजा-प्रतिष्ठा की कमी का भय सताता है तब व्यक्ति सोचता है—यह होगा तो लोग क्या कहेंगे? आज इतना सम्मानित हूं, कल क्या होगा? कुछ साधु भी इससे अछूते नहीं हैं। वे भी सोचते हैं—यह सचाई तो है, किन्तु यदि हम ऐसा करने लगेंगे तो लोग हमें मानना छोड़ देंगे। भय छा जाता है। वे सत्य को भी दबाने का प्रयत्न करते हैं। यह सत्य की साधना नहीं हो सकती, संयम और चारित्र की साधना नहीं हो सकती। उसके लिए अभय होना जरूरी है। अभय आएगा तब समता का विकास होगा। सामायिक आता है तब जीवन में चारित्र की पहली किरण फूट पड़ती है।

समता के बाद आता है संयम-निग्रह की शक्ति का प्रादुर्भाव। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये सारी बातें समता के बाद प्रकट होती हैं। संयम के बाद जो अगला चरण है, वह है सम्यक्-चर्या का। पांच महाव्रत और पांच समितियां अर्थात् संयम और सम्यक्-चर्या।

इससे अगला चरण है—ध्यान। यह छठा अंग है। ध्यान भी चरित्र का अनिवार्य अंग है। वह तीन गुप्तियों में वर्णित है—मन की गुप्ति, वचन की गुप्ति और काया की गुप्ति।

सातवां अंग है—अप्रमाद।

चारित्र के ये सात अंग हैं—अनाशंसा, अभय, समता, संयम, सम्यक्चर्या, ध्यान और अप्रमाद। जो इन सात अंगों की सम्यक् उपासना करता है, वह चारित्र की सम्यक् उपासना करता है।

भगवान् महावीर ने एक प्रसंग में अपना आत्म-विश्लेषण करते हुए कहा—**'जहेत्थ मए सन्धि झोसिए, एवमन्नत्थ दुज्झोसिए'**—मैंने जिस पराक्रम के साथ इस संधि को खपाया है, ऐसा अन्यत्र दुर्लभ है। मैंने जिस परा-

क्रम से इस गांठ को खोला है, ऐसा अन्यत्र दुर्लभ है। यह सुनने में गर्वोक्ति-सी लगती है, पर है यह सच। जिस पराक्रम के साथ, जिस पुरुषार्थ के साथ भगवान् महावीर ने चारित्र का दीप प्रज्वलित किया, शायद ऐसा अन्यत्र दुर्लभ ही मिलेगा। उन्होंने सारे जीवन की संघर्ष-भूमि में पराक्रम और पुरुषार्थ को बहुत महत्त्व दिया। कोई भी साधक इस साधना के समरांगण में, संघर्ष-भूमि में, इतने पराक्रम का प्रयोग नहीं करता तो न वह महावीर बन सकता है और न महावीर की भूमिका तक पहुंच सकता है और न उस समाधि के बिंदु तक पहुंच सकता है जो कि चारित्र की समाधि का बिंदु है। इसमें महावीर का मार्ग सबसे कठोर मार्ग है। इसे कहा गया है—**'दुरनुचरे मग्गे'**—इस पर चल पाना बड़ा कठिन है। क्यों कठिन है? 'दुरनुचर' का तात्पर्य दूसरा है, इसे हम समझें।

हठयोग के अनुसार प्राण की साधना करने वाला साधक मूलाधार से चलता है और एक-एक चक्र की साधना करता हुआ, सहस्रार चक्र तक पहुंचने का प्रयास करता है, उसकी साधना करता है। यह कठोर मार्ग है। राजयोग की साधना करने वाला आज्ञाचक्र से साधना प्रारम्भ करता है और आगे चला जाता है। यह भी कठोर मार्ग है। किन्तु अध्यात्म योग की साधना करना सबसे अधिक कठोर मार्ग है। इसका साधक किसी बाहरी चीज का सहारा नहीं लेता। वह न तो किसी आसन को मुख्यतः देता है, न प्राणायाम को, न मूलाधार चक्र से प्रारम्भ कर सहस्रार चक्र तक पहुंचने का प्रयत्न करता है, न आज्ञा चक्र से चलकर सहस्रार चक्र तक पहुंचने का प्रयास करता है। वह केवल चैतन्य के अनुभव के सहारे आगे बढ़ता है। केवल आत्मा की शक्ति के सहारे, बिना बाह्य वस्तुओं का आलम्बन लिए, आत्मा को शक्तिशाली बनाकर उसको उस साधना में झोंक देना, सबसे कठिन साधना-पद्धति है। महावीर ने इसका आलम्बन लिया, इसलिए इसका मार्ग **दुरनुचर** है। चारित्र का मार्ग कठोरतम मार्ग है और इसलिए इसमें पराक्रम को अधिक प्रज्वलित करना पड़ता है, चैतन्य को अधिक प्रज्वलित करना होता है, दस-पांच का सहारा मिल जाए तो व्यक्ति सोचता है, चलो वह भी सहारा देने वाला है; यह भी सहारा देने वाला है। चारों तरफ सहारे-सहारे हैं, तब खुद को उतना खपना नहीं पड़ता। किन्तु राणा प्रताप जैसी स्थिति आ जाए, जंगल में रहना और स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ना—यह बहुत कठिन कर्म है। बच्चों को खाने के लिए घास-पात की रोटी मिले और स्वतंत्रता की लड़ाई चले,

दुनिया में कभी-कभी ऐसे प्रसंग घटित होते हैं और किसी-किसी व्यक्ति के साथ। महावीर की साधना-पद्धति ठीक वैसी ही है जैसी कि राणा प्रताप की स्वतंत्रता की लड़ाई थी। महाराणा प्रवाप के पास न हथियार थे, न सैनिक थे, न खाने को रोटी थी, न रहने को मकान था, फिर भी स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ते रहे, झुके नहीं। इसी प्रकार की लड़ाई महावीर ने लड़ी, केवल आत्मा के सहारे। उन्होंने न हारमोन्स की रासायनिक प्रक्रिया को बदलने का प्रयत्न किया और न शरीर के चक्रों का या प्राणायाम का सहारा लिया। उन्होंने केवल आत्मा के विवेक के सहारे, प्रज्वलित पराक्रम के सहारे बंधनों को तोड़ने का प्रयत्न किया, गांठ को खोलने का प्रयत्न किया। इस संदर्भ में देखें तो यह गर्वोक्ति नहीं, बहुत यथार्थ है कि—

जहेत्थ मए संधि झोसिए, एवमन्नत्थ दुज्झोसिए।

इस प्रकार चारित्र की समाधि में खाली करने की बात और निग्रह की बात दोनों बातें आती हैं। इस चारित्र की उपासना के द्वारा सारी असमाधियां समाप्त होती हैं। बड़ी असमाधि है मौत का भय, वह समाप्त होता है। बड़ी असमाधि है जीवन की विषमता, वह समाप्त होती है। संयम की शक्ति बढ़ती है और बहुत सारी समस्याएं सुलझ जाती हैं। हमारी चर्या सम्यक् होती है, हम अपने आप में लीन हो जाते हैं। बाहर से आने वाली असमाधियां समाप्त हो जाती हैं। इस चारित्र की उपासना करने वाला असमाधियों के चक्र को मूल से उखाड़कर, इतनी गहरी समाधि में प्रतिष्ठित हो जाता है कि उसके लिए दुनिया में असमाधि जैसा कुछ भी नहीं रहता।

• महावीर ने कोई पराक्रम किया होगा और उसी से वे महावीर बने होंगे। किन्तु उनके पश्चात् चारित्र की जो व्यवस्था परम्परा से प्राप्त हुई या साधक ने अपनी सुरक्षा के लिए व्यवस्थाएं सोचीं और हर वस्तु को व्यवस्था के नाम से, अभय के नाम से, समता के नाम से या समाधि के नाम से स्वीकार किया, क्या इस मार्ग से चारित्र की समाधि प्राप्त हो सकती है?

काल का प्रवाह ऐसा होता है कि वह जो बहुत कुछ आवश्यक होता है उसे धो डालता है और नयी चीजों को अपने साथ लेकर बहता रहता है। हर नदी की धारा के साथ ऐसा होता ही है। यह ठीक है कि यदि पराक्रम की वह बात आज होती तो साधना अधिक तेजस्वी होती। जो भी तेजस्विता में

कमी आयी है वह मूल के छूटने और अन्य के मिश्रण से आयी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। हम एक-एक अंश का विश्लेषण करें। पहले हम अभय को लें आज हमारा ऐसा संस्कार बन गया है कि हम सोचते हैं—यदि अभय आ गया तो व्यवस्थाएं कैसे चलेंगी? अभय आने पर व्यवस्थाएं टूट जाती हैं, नियंत्रण टूट जाता है। महावीर उल्टी बात करते हैं। वे कहते हैं—अभय हो तब ही अनुशासन चल सकता है, अन्यथा नहीं। आत्मा का अनुशासन अभय में ही चल सकता है। पुलिस का अनुशासन भय में चल सकता है। आगे मत करो, पीछे चाहे जो कुछ हो—यह है पुलिस का अनुशासन। आत्मा का अनुशासन है—देखते हुए मत करो, पीछे तो करो ही मत। परिषद् में मत करो, पर अकेले तो करो ही मत। बिलकुल उल्टा है। यह अनुशासन तब चल सकता है, जब पूर्णतः अभय हो। अभय के बिना यह चल नहीं सकता। किन्तु बहुत बार व्यवहार इतना हावी हो जाता है कि वास्तविकता धूमिल हो जाती है। साधु हों या श्रावक, सभी इसी भाषा में सोचते हैं कि अभय होने पर काम कैसे चलेगा। समूचे भारतीय चिंतन में अभय पर जितना बल महावीर ने दिया, उतना किसी ने नहीं दिया। उनकी साधना का प्रत्येक चरण अभय के लिए उठा। अभय के बिना वे एक पग भी नहीं चले। उनकी अहिंसा प्रारम्भ हुई अभय से। जहां अभय नहीं, वहां अहिंसा नहीं। जहां अभय नहीं, वहां सामायिक नहीं। जहां अभय नहीं वहां साधना है ही नहीं। अभय पर महावीर ने इतना बल दिया कि भय के साम्राज्य को झकझोर डाला। भय क्यों आता है? भय इस बात की सूचना देता है कि अभी आत्मा में दुर्बलता है। यदि मैं मन में भय करता हूं तो इसलिए नहीं कि मुझे आचार्यजी का भय है। किन्तु यह भय मेरी आत्मा की दुर्बलता है, क्योंकि मेरे मन में वह आशंसा का भाव बना हुआ है कि यदि यह बात आचार्यजी तक चली गई तो मुझे जो मिलने वाला है, वह नहीं मिलेगा। मेरी पूजा-प्रतिष्ठा में अन्तर आ जाएगा। अपनी दुर्बलता पर ही भय खड़ा होता है। दूसरे का भय किसी को नहीं होता। दूसरे से मैं क्यों डरूं? मैं उस व्यक्ति से डरता हूं जिससे मेरी आशंसा को सहारा मिलता है। जहां-जहां से आशंसा को सहारा मिलता है, वहां-वहां से भय जाता है। यह भय अपनी ही आशंसा की दुर्बलता है। यह स्वयं के पराक्रम की दुर्बलता है, दूसरे व्यक्ति की नहीं। हमें यह मानना चाहिए कि साधना में जो तेजस्विता नहीं आती, उसका मूल कारण है कि हम अनाशंसा की साधना नहीं करते। यदि

अनाशंसा जीवन में आ जाए, जीवन की एषणा मिट जाए तो भय मिट सकता है, साधना में तेज आ सकता है। महावीर अकेले चले थे। न उन्हें कल का पता था, न उनका कोई सहयोगी था। वे अत्राण, असहाय और अशरण होकर चल पड़े साधना के पथ पर, आत्मोपलब्धि के मार्ग पर। जो व्यक्ति इस प्रकार जीवन की आशंसा को छोड़कर चल पड़ता है, साधना के मार्ग पर उसके लिए किसी भी प्रकार का भय शेष नहीं रहता। वह अभय हो जाता है।

यह आशंसा छोड़ने की साधना ही तेजस्विता का आदि-बिन्दु है। हमारा पराक्रम तभी प्रज्वलित होगा जब हम आशंसा को छोड़कर अनाशंसा के राज-मार्ग पर चल पड़ेंगे। जब आशंसा का व्यूह पहले से ही बना होता है कि यह बनना है, वह बनना है, यह होना है, वह होना है, फिर हम तेजस्विता की बात करें, अभय की बात करें सम्भव नहीं है इन्हें पाना।

• साधारण व्यक्ति के लिए कौन-सा मार्ग है ?

साधारण आदमी साधना को थोड़ा-थोड़ा करे। यह सम्भव नहीं कि प्रारम्भ से ही वह महावीर जैसा पराक्रम फोड़ दें। साधारण साधक चलने का प्रारम्भ कर दे। साधना के आस-पास घूमे, उसे देखे। बगीचे के भीतर न जा सके तो बाहर में जो ऑक्सीजन प्राप्त हो उसे ले और इतना करते-करते ताकत आ जायेगी। एक दिन वह देखेगा कि वह उस विशाल बगीचे में स्वतंत्रता से घूम रहा है, जहां प्राणवायु की प्रचुरता है।

४

इतिहास के सन्दर्भ में

१ जैन परम्परा में ध्यान : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

१

आचार्य हरिभद्र ने लिखा है—

वादांश्च प्रतिवादांश्च, वदन्तो निश्चितांस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद् गतौ ॥

'वाद और प्रतिवाद से तत्त्व प्राप्त नहीं होता। एक मनुष्य वाद करता है, दूसरा उसका प्रतिवाद करता है। इस वाद और प्रतिवाद के क्रम में एक नहीं अनेक जन्म बीत जाएं, पर सत्य नहीं पहुंचा जा सकता। जैसे कोल्हू पेरने वाला बैल घंटों तक घूमता रहता है, पर कहीं नहीं पहुंचता, केवल धुरी के आसपास घूमता रहता।'

'तर्क और प्रतितर्क, वाद और प्रतिवाद के द्वारा सत्य हाथ नहीं लगता'—यह सत्य जब समझ में आ जाता है तब मनुष्य की दिशा बदल जाती है, चिन्तन की धारा बदल जाती है। दृष्टिकोण बदल जाता है। उसका अभियान अध्यात्म की दिशा में हो जाता है। आचार्य ने परामर्श दिया है कि यदि सत्य को पाना है तो वाद और प्रतिवाद के अखाड़े को छोड़कर अध्यात्म का अनुचिंतन करो—'मुक्त्वाऽतो वादसंघट्टमध्यात्मननुचिन्त्यताम्।'

भारत में अनेक धार्मिक परम्पराएं हैं। उनकी भिन्न-भिन्न धारणाएं और मान्यताएं हैं। पर एक बात उन सबके साथ जुड़ी हुई है, और वह है साधना-पद्धति। कोई भी धार्मिक परम्परा ऐसी नहीं है जिसकी अपनी साधना-पद्धति न हो। जिसके साथ साधना-पद्धति जुड़ी हुई न हो, वह धार्मिक परम्परा नहीं हो सकती। भारतीय चिन्तन ने दर्शन और धर्म की पृथक्ता को मान्यता नहीं दी। ज्ञान केवल ज्ञान के लिए नहीं रहा, किन्तु जीवन के रूपान्तरण के लिए रहा। आचार्य बट्टकेर ने लिखा है—

'जिससे पदार्थ जाना जाता है, जिससे चंचल चित्त का निरोध होता है, जिससे आत्मा की विशुद्धि होती है, जैन शासन में उसे ही ज्ञान कहा है।'

'जिससे राग का विनयन होता है, जिससे श्रेय की ओर गति होती है,

जिससे मैत्री भाव बढ़ता है, जैन शासन में उसे ही ज्ञान कहा है।"[१]

जैन दर्शन और जैन धर्म—दोनों साथ-साथ चलते हैं। जैन दर्शन ने तत्त्व की व्याख्या की है तो जैन धर्म ने व्यक्तित्व के रूपान्तर की पद्धति प्रस्तुत की है। उस पद्धति का नाम है 'मोक्ष मार्ग'। बौद्ध साधना-पद्धति का नाम 'विशुद्धि मार्ग' और सांख्य दर्शन की साधना-पद्धति का नाम 'योगदर्शन' है। ये नाम भिन्न-भिन्न हैं, पर तात्पर्य में भिन्नता नहीं है। इन सबका उद्देश्य है चित्त को निर्मल करना। विश्व की जितनी साधना-पद्धतियां हैं वे सारी की सारी मनुष्य को अन्तर् की गहराई में ले जाने की पद्धतियां हैं। वे जहां से शुरू होती हैं वहां छोटी दिखाई देती हैं, आगे जाकर वे विस्तीर्ण हो जाती हैं और इतनी विस्तीर्ण कि वहां नाम का भेद भी समाप्त हो जाता है।

बहुधा पूछा जाता है कि जैन परम्परा में योग है या नहीं? महर्षि पतंजलि ने योग की सुव्यवस्थित और सर्वग्राही पद्धति प्रस्तुत की है। उनका योगदर्शन बहुत प्रसिद्ध हो गया। उसकी प्रसिद्धि ने प्रत्येक साधना-पद्धति के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित कर दिया कि अमुक धर्म में योग है या नहीं? ध्यान की पद्धति है या नहीं? जैन परम्परा भी इस प्रश्न से मुक्त नहीं है। कोई मुझे पूछे कि जैन परम्परा में योग है या नहीं? ध्यान की पद्धति है या नहीं, तो योग के बारे में मेरा उत्तर सापेक्ष होगा। मैं कहूंगा कि जैन परम्परा की साधना-पद्धति का नाम 'योग' नहीं है। उसका नाम 'मोक्ष मार्ग' है। तात्पर्यार्थ की दृष्टि से मेरा उत्तर होगा कि जैन परम्परा में योग है। जैन आगमों में 'ध्यान-योग', 'समाधि योग' और 'भावना योग'—इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। फिर भी 'योग' शब्द को जितना उत्कर्ष महर्षि पतंजलि के योगदर्शन के बाद मिला उतना सम्भवतः पहले नहीं मिला। इसलिए जैन साधना-पद्धति को मौलिक रूप में योग शब्द के द्वारा अभिहृत नहीं किया जा सकता। किन्तु ध्यान के बारे में मेरा उत्तर इससे भिन्न होगा। ध्यान को किसी भी दृष्टिकोण से जैन परम्परा से पृथक् नहीं किया जा सकता है। वह उसका मौलिक तत्त्व है।

---

१. मूलाचार, ५।६०, ६१ :

- जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं निरुज्झदि।
  जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे॥
- जेण रागा विरज्जेज्जा, जेण सेए-सु रज्यदि।
  जेण मित्ति पभाविज्य, तं णाणं जिणसासणे॥

अर्हत दगभाली ने लिखा है—'मनुष्य का सिर काट देने पर उसकी मृत्यु हो जाती है, वैसे ही ध्यान को छोड़ देने पर धर्म चेतनाशून्य हो जाता है। जैसे मनुष्य की चेतना का केन्द्र मस्तिष्क है, वैसे ही धर्म की चेतना का केन्द्र ध्यान है'—

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य ।
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते ।।

यदि हम धर्म को ध्यान से अलग कर दें तो उसकी वही गति होगी जो मस्तिष्क से विहीन मनुष्य की होती है। जिस परम्परा के अर्हत् ने ध्यान का इतना मूल्यांकन किया उस परम्परा में ध्यान है या नहीं—क्या यह प्रश्न पूछा जा सकता है ? फिर भी यह प्रश्न पूछा जाता है। लोग पूछते हैं—क्या जैन परम्परा में ध्यान है ? यह प्रश्न सर्वथा अहेतुक नहीं है। वर्तमान में जैन लोग जितना बल बाह्य आचार पर देते हैं उतना ध्यान पर नहीं देते। इसलिए यह प्रश्न पूछा जाता है, उसमें आश्चर्य नहीं है किन्तु जैन साधना-पद्धति की दृष्टि से यह प्रश्न हो ही नहीं सकता। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने लिखा—

'मोक्ष के दो मार्ग हैं, संवर और निर्जरा। उनका मार्ग है तप और तप का प्रधान अंग है—ध्यान। इसलिए मोक्ष का मुख्य साधन ध्यान है।'[1]

इस समाहार की प्रक्रिया में समूचा मोक्षमार्ग ध्यान में केन्द्रित हो जाता है। आचार्य जिनसेन ने तपस्या के सभी प्रकारों को ध्यान का परिवार बतलाया है।

जिस परम्परा में ध्यान का इतना महत्त्व था उसमें ध्यान की पद्धति लुप्त-जैसी हो गई, यह बहुत बड़ा प्रश्न है। इसलिए कुछ लोग यह जानना चाहते हैं कि जैन परम्परा में ध्यान की मौलिक पद्धति क्या है ? इस विषय में कुछ चर्चा करनी है। इस विषय की चर्चा करने के लिए मैं अपने विषय को चार भागों में विभक्त करता हूं—

१. भगवान् महावीर से आचार्य कुन्दकुन्द तक।
२. आचार्य कुन्दकुन्द से आचार्य हरिभद्र तक।
३. आचार्य हरिभद्र से आचार्य यशोविजय तक।
४. आचार्य यशोविजय से आज तक।

---

१. झाणज्झयणं, ९६ :
संवरविणिज्जराओ मोक्खस्स पहो तवो पहो तासिं।
झाणं च पहाणंगं तवस्स तो मोक्खहेऊयं ।।

पहला युग है भगवान् महावीर से आचार्य कुन्दकुन्द तक। इस युग में ध्यान की मौलिक पद्धति प्राप्त होती है। भगवान् महावीर ध्यान करते थे। उन्होंने साढ़े बारह वर्ष के साधन-काल में अधिकांश समय ध्यान में बिताया। अनेक दिनों तक निरन्तर ध्यान किया। उस समय के ग्रन्थों में जिस किसी मुनि का वर्णन है उसके साथ 'ध्यानकोष्ठोपगत' विशेषण जुड़ा हुआ है। उस समय के मुनि ध्यान करते थे, यह स्पष्ट है। इसे स्पष्ट करना है कि वे क्या ध्यान करते थे ? किस पद्धति से ध्यान करते थे ?

आगमयुगीन ध्यान की पद्धति का अनुसंधान करने पर चार तत्त्व प्राप्त होते हैं—कायोत्सर्ग, भावना, विपश्यना और विचय।

पहला तत्त्व है—कायोत्सर्ग। काया की प्रवृत्ति का विसर्जन करना, ममत्व का विसर्जन करना, भेद-विज्ञान का अनुभव करना—इन तीनों का समन्वित नाम है कायोत्सर्ग। हम अपने-आप को शरीर समझे हुए होते हैं। चेतना की ओर हमारा ध्यान जाता ही नहीं। शरीर का अनुभव ही सब कुछ होता है। इस स्थिति में हमारे राग और द्वेष के प्रकम्पन तीव्र हो जाते हैं। चैतन्य के अनुभव की बात और अधिक परोक्ष हो जाती है। कायोत्सर्ग चेतना और शरीर के भेदज्ञान का पहला बिन्दु है। इस बिन्दु पर ही हमें 'चेतना और शरीर दो हैं', इसका स्पष्ट अनुभव होता है। शास्त्र या शब्दों के आधार पर हम चेतना और शरीर को दो मान लेते हैं पर उसका स्पष्ट अनुभव नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे बहुत स्पष्ट अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने लिखा है—'शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि वह स्वयं कुछ भी नहीं जानता। इसलिए ज्ञान अन्य है और शास्त्र अन्य है। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द स्वयं कुछ भी नहीं जानता। इसलिए ज्ञान अन्य है और शब्द अन्य है।'[1]

शास्त्र के आधार पर चेतना और शरीर को पृथक् मान लेना एक बात है और उनके पार्थक्य का अनुभव करना दूसरी बात है। इस अनुभव का प्रारम्भ कायोत्सर्ग के द्वारा होता है। इससे शरीर में शिथिलता आती है, तनाव समाप्त होता है, ममत्व की गांठ खुलती है और भेदविज्ञान स्पष्ट हो

१. समयसार, ३९०, ३९१ :

सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ।।
सद्दो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ।।

जाता है। लम्बे समय तक कायोत्सर्ग करने वाले कभी-कभी स्थूल शरीर से पृथक् होने का अनुभव करते हैं। कभी-कभी प्रतीत होता है कि वे शरीर को छोड़कर मुक्त आकाश में विचरण कर रहे हैं। शिथिलता के सघन होने पर सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को छोड़ भी देता है। इस प्रकार की और भी घटनाएं घटित होती हैं।

दूसरा तत्त्व है—भावना। भावना के द्वारा ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है। उसके चार प्रकार हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य। इनका अभ्यास जितना पुष्ट होता है उतना ही ध्यान पुष्ट होता है।[1]

तीसरा तत्त्व है—**विपश्यना**। इसका अर्थ है—अपने-आपको देखना। भगवानन् महावीर ने बार-बार निर्देश दिया—**'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं'**—आत्मा से आत्मा को देखो। आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्ध चैतन्य को देखने की बात कही है। यह आत्मा को देखने की, शुद्ध चैतन्य को देखने की बात भगवान् महावीर के ध्यान की मौलिक पद्धति है। प्रश्न होता है—आत्मा को कैसे देखें? वह अमूर्त है। आत्मा के दो अर्थ हैं—शरीर और चैतन्य। **'अप्पाणं वोसिरामि'**—इसका अर्थ है—मैं आत्मा अर्थात् शरीर को छोड़ता हूं। वेदों में आत्मा का अर्थ शरीर होता है। तो आत्मा का एक अर्थ है शरीर और दूसरा अर्थ है चैतन्य। **'आत्मा को आत्मा से देखो'**—इनमें ये दोनों अर्थ घटित हो सकते हैं। चैतन्य को देखना है, उसका अनुभव करना है, पर यह कैसे करें? वहां तक कैसे पहुंचें? स्थूल शरीर का भीतरी भाग हमें दिखाई नहीं देता। उसके भीतर सूक्ष्म शरीर है। वह भी हमें दिखाई नहीं देता। उसके भीतर चैतन्य है। उसका अनुभव फिर कैसे हो सकता है? यह अनुभव की यात्रा स्थूल शरीर के दर्शन से प्रारम्भ की जाती है। आचार्य शुभचन्द्र ने इस ओर इंगित भी किया है। उन्होंने लिखा है—'लक्ष्य के सहारे अलक्ष्य तक, स्थूल के सहारे सूक्ष्म तक और सालम्बन के सहारे निरालम्बन तक पहुंचा जा सकता है।[2] चैतन्य तक पहुंचना है, उसका अनुभव करना है, पर यात्रा का

१. ध्यानशतक, ३० :

'पुव्वकयब्भासो भावणाहि झाणस्स जोग्गयमुवेइ।
ताओ य नाणदंसण-चरित्तवेरग्गनियताओ॥'

२. ज्ञानार्णव, ३३।४ :

अलक्ष्यं लक्ष्यसंबंधात्, स्थूलात् सूक्ष्मं विचिन्तयेत्।
सालम्बाच्च निरालम्बं, तत्त्ववित् तत्त्वमञ्जसा॥

आरम्भ स्थूल शरीर के दर्शन से करेंगे। प्रारम्भ में ही चैतन्य को पकड़ने की बात करेंगे तो पहुंच नहीं पायेंगे। वह हमारा औदारिक (भौतिक) शरीर प्रत्यक्ष है। इसे देखना आरम्भ करें। उसके एक-एक अवयव को देखें। ऊपरी भाग को देखें, मध्य भाग को देखें और अधो भाग को देखें। भगवान् महावीर ध्यान करते थे तब ऊर्ध्वलोक को देखते थे, अधो लोक को देखते थे और तिरछे लोक को देखते थे। यह ऊर्ध्व लोक क्या है? नाभि के ऊपर का भाग ऊर्ध्व लोक है। यह अधोलोक क्या है? नाभि के नीचे का भाग अधोलोक है। यह तिरछा लोक क्या है? नाभि के आस-पास का भाग तिरछा लोक है। यह लोक-दर्शन या शरीर-दर्शन विपश्यना है। हम स्थूलशरीर में होने वाली घटनाओं, संवेदनाओं को देखें, उन पर ध्यान केन्द्रित करें तो वे घटनाएं प्रत्यक्ष होने लग जाती हैं, मन की जागरूकता बढ़ जाती है। हमारे आस-पास बहुत सारी घटनाएं घटित होती हैं, पर मन जागरूक नहीं होता है तो हमें उनका पता नहीं चलता। यदि हम थोड़ा-सा ध्यान केन्द्रित करें तो हमें पता चलेगा कि हमारे शरीर में कुछ ध्वनियां हो रही हैं। कहीं सुख का और कहीं दुःख का संवेदन हो रहा है। ये सब विपश्यना के द्वारा पकड़े जा सकते हैं।[1] स्थूल शरीर में घटित होने वाली घटनाओं को देखना विपश्यना है। पर यह उसकी सीमा नहीं है। स्थूल शरीर के भीतरी भाग, सूक्ष्म शरीर, मानसिक ग्रन्थियों, कर्म और वासनाओं को देखना भी विपश्यना है। कौन-सा कर्म उदय में आ रहा है, उसके द्वारा किस प्रकार की चेतना निर्मित हो रही है—यह सब विपश्यना के द्वारा देखा जा सकता है। स्थूल शरीर को देखना, सूक्ष्म शरीर को देखना, वासनाओं को देखना, विभिन्न रूप में उदय में आने वाली चित्तवृत्तियों को देखना, उनके हेतुओं को देखना और उन्हें देखते-देखते उनको पार कर शुद्ध चैतन्य तक पहुंच जाना—यह सारी की सारी पद्धति है विपश्यना की।

'विपश्यना'—भीतर की ओर जाने की पद्धति है और 'विचय' द्रव्यों पर ध्यान केन्द्रित कर, उनके स्वरूप को जानने की पद्धति है।

कायोत्सर्ग, भावना, विपश्यना और विचय—इन चार तत्त्वों के आधार पर समूची ध्यान की प्रक्रिया चलती थी। यह पद्धति धर्म्यध्यान और शुक्ल ध्यान—इन दो भागों में विभक्त थी। मुझे इस पद्धति की विशद चर्चा नहीं करनी है। मुझे केवल उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की समीक्षा करनी है।

१. आयारो, २।१२५ : आयतचक्खू लोगविपस्सी।

यह पद्धति आचार्य कुन्दकुन्द के समय तक (वीर निर्वाण की छठी शताब्दी तक) चलती रही। उसके बाद उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू हो गई। परिवर्तन का क्रम कुन्दकुन्द से पहले ही प्रारम्भ हो गया था।

भगवान् महावीर के समय में हमारे मुनि उक्त पद्धति से ध्यान का अभ्यास करते थे। उन्हें ध्यान के रहस्य ज्ञात थे। भगवान् महावीर के शिष्यों में सैकड़ों केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी और मनःपर्यवज्ञानी थे। पूर्वजन्म की स्मृति वाले श्रमणों और श्रमणोपासकों की संख्या बहुत बड़ी थी। सैकड़ों-सैकड़ों की सख्या में लब्धिधर (योगजविभूति-सम्पन्न) मुनि थे। चतुर्दशपूर्वी मुनि भी बहुत थे। उन्हें 'सूक्ष्म आनापान' लब्धि प्राप्त थी। वे आनापान को इतना सूक्ष्म कर लेते थे कि चौदह पूर्व की विशाल ज्ञानराशि का एक अन्त-महूर्त्त (४८ मिनट) में परावर्तन कर लेते थे। ध्यान की विशिष्ट साधना के बिना ये उपलब्धियां सम्भव नहीं थीं। भगवान् के निर्वाण की दूसरी शताब्दी तक यह क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। आचार्य भद्रबाहु चतुर्दशपूर्वी थे। उन्होंने बारह वर्ष तक 'महाप्राण' की साधना की थी। आनापान की सूक्ष्मता होने पर ध्यान की चरम सीमा प्राप्त होती है। जैन संघ में विच्छेदों की एक लम्बी तालिका प्रस्तुत हुई। कहा जाने लगा कि केवलज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, परम अवधिज्ञान, यथाख्यात चारित्र, सूक्ष्मसंपराय चारित्र आदि-आदि विच्छिन्न हो गए हैं।

आचार्य भद्रबाहु के बाद इसमें एक बात और जुड़ गई कि चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान भी विछिन्न हो गया है। इस विच्छेद के क्रम में ध्यान के विच्छेद की चर्चा भी शुरू हो गई। आचार्य कुन्दकुन्द के समय तक यह चर्चा पुष्ट हो चुकी थी। उन्होंने मोक्ष पाहुड़ में लिखा है—'कुछ मुनि कहते हैं कि पांचवें आरे में ध्यान नहीं हो सकता। यह ध्यान के लिए उचित काल नहीं है।'[1]

१. मोक्ष पाहुड़, ७३-७६ :

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्ठा।
केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥

सम्मत्त णाणरहिओ अभव्वजीवो हु मोक्खपरिमुक्को।
संसारसुहेसु रदो ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७४॥

पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
जो मूढो अण्णाणी ण हु कालो भणइ झाणस्स ॥७५॥

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणि ॥७६॥

ध्यान का निषेध करने वालों ने एक तर्क प्रस्तुत किया कि जिनका संहनन उत्तम (वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच और नाराच) होता है, वही ध्यान का अधिकारी है। इसका तात्पर्य है कि जिसकी अस्थि-रचना अत्यन्त सुदृढ़ होती है, वही ध्यान कर सकता है। साधारण अस्थि-रचना वाला ध्यान नहीं कर सकता। इस तर्क में कुछ सचाई भी है। अस्थियों की दृढ़ता के साथ शरीर की स्थिरता और मन की एकाग्रता का सम्बन्ध है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि सामान्य अस्थि-रचना वाला ध्यान कर ही नहीं सकता। ध्यान को लेकर जैन संघ में दो धाराएं हो गईं। ध्यान का निषेध करने वालों ने कहा—वर्तमान काल में ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान का समर्थन करने वालों ने कहा—उत्तम संहनन के अभाव में शुक्ल ध्यान नहीं हो सकता किन्तु धर्म्यध्यान हो सकता है। यह ध्यान के निषेध और समर्थन की परम्परा आचार्य **रामसेन** (वि० ९-१० शताब्दी) तक चलती है। उन्होंने **'तत्त्वानुशासन'** में आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों को दोहराया है।[1] देवसेन ने भी **'तत्त्वसार'** में इस विषय की चर्चा की है।[2] ध्यान की पद्धति का अवरोध वीर निर्वाण की कुछ शताब्दियों बाद ही शुरू हो गया था। संघ-शक्ति के विकास की भावना ने बल पकड़ा। व्यवहार धर्म या तीर्थ धर्म की प्रमुखता बढ़ी और आध्यात्मिक शक्ति के विकास की प्रक्रिया मन्द हो गई। ध्यान की पद्धति गौण हो गई। ध्यान की अपेक्षा स्वाध्याय का मार्ग सरल है। उसके द्वारा अर्थात् शास्त्रीय ज्ञान के अभ्यास के द्वारा संघ को विस्तार मिलने लगा, तब ध्यान से सुदीर्घ अभ्यास और आंतरिक यात्रा में जाने का आकर्षण सहज ही कम हो गया। 'मनोनुशासनम्' की रचना के समय आचार्यश्री तुलसी ने मुझे कहा कि जिन आचार्यों ने विच्छेद की तालिका प्रस्तुत की उन्होंने एक बाधा अवश्य ही उपस्थित कर दी। उससे उत्तरवर्ती साधकों के मन में शिथिलता आ गई, निराशा का भाव बन गया। जो विच्छिन्न है, जो हो नहीं सकता, उसके लिए प्रयत्न क्यों किया जाए? कैवल्य नहीं हो सकता, विशिष्ट उपलब्धियां नहीं

१. तत्त्वानुशासन, ८२, ८३ :
येऽप्राहुर्न हि कालोऽयं ध्यानस्य ध्यायतामिति ।
तेऽर्हन्मताऽनभिज्ञत्वं ख्यापयन्त्यात्मनः स्वयम् ॥
अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यामं जिनोत्तमाः ।
धर्म्यध्यानं पुनः प्राहुः श्रेणिभ्यां प्राग्विवर्तिनाम ॥

२. तत्त्वसार १४।

हो सकतीं, तो फिर हम ध्यान किसलिए करें ? क्या हो सकता है और क्या नहीं हो सकता, इसकी चर्चा में उलझने वाले का प्रयत्न तीव्र नहीं हो सकता। जिसका जैसा प्रयत्न होता है, उसके वैसे हो जाता है। किन्तु जब हम मान-कर चलते हैं कि यह नहीं हो सकता तो निश्चित ही हमारे सामने एक अव-रोध उपस्थित हो जाता है। मुझे लगता है कि यह अवरोध ध्यान के मार्ग में आया। जब से विच्छेद की चर्चा शुरू हुई, निश्चय धर्म के स्थान पर व्यवहार धर्म का प्रभुत्व बढ़ा, आध्यात्मिक उत्क्रांति की अपेक्षा लोक-संग्रह को अधिक महत्त्व मिला, तब से जैन-शासन में ध्यान की धारा अवरुद्ध होकर बहने लगी।

जिस जैन परम्परा ने ध्यान को पल्लवित और पुष्पित किया था, जिस परम्परा के मुनियों ने श्रुतसागर के पारगामी होकर ध्यान के सूक्ष्म रहस्य उद्घाटित किए थे, वही परम्परा अपनी मौलिक सम्पदा से वंचित होने लग गई। इस विस्मृति के क्षणों में ही आचार्य रामसेन ने अपनी मानसिक वेदना इन शब्दों में व्यक्त की[1]—'आज श्रुतसागर के पारगामी मुनि नहीं हैं तो शुक्ल ध्यान नहीं हो सकता। उस शुक्लध्यान के लिए बहुत सूक्ष्म ध्यान की आवश्यकता होती है। क्या अल्पज्ञानी मुनि धर्म्यध्यान करने के योग्य भी नहीं है ? आज 'यथाख्यात' (वीतराग) चारित्र नहीं है तो क्या सामायिक चारित्र भी नहीं हो सकता ? क्या आज के तपस्वी यथाशक्ति चारित्र की आराधना नहीं कर सकते ?'

आचार्य ने इस वेदना भरे शब्दों में यह कहने का प्रयत्न किया कि आज ध्यान नहीं हो सकता'—इस स्वर को बन्द कर ध्यान के विकास के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उसका स्वर ठीक से सुना नहीं गया और क्रमशः ध्यान का मार्ग अवरुद्ध होता चला गया। ध्यान की मौलिक पद्धति हाथ से छूट गई।

• अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएं और ज्ञान, चारित्र और वैराग्य भावनाएं क्या भिन्न हैं ?

भावना का अर्थ भिन्न नहीं है। अभ्यासकाल भिन्न है। ज्ञान आदि भावना

१. तत्त्वानुशासन, ८५, ८६ :

ध्यातारश्चेन्न सन्त्यद्य, श्रुतसागरपारगाः।
तत्किमल्पश्रुतैरन्यैर्न ध्यातव्यं स्वशक्तितः॥
चरितारो न चेत्सन्ति, यथाख्यातस्य सम्प्रति।
तत्किमन्ये यथाशक्ति, माऽऽचरन्तु तपस्विनः॥

ध्यान की योग्यता प्राप्त करने के लिए है और अनित्य, अशरण आदि भावना वीतराग भाव की पुष्टि के लिए है। वह ध्यान के मध्यवर्ती काल में की जाती है। जब हम ध्यान करते हैं तब निरन्तर ध्यान नहीं कर सकते। एक विषय पर हमारा मन निरन्तर प्रवाहित नहीं होता। बीच-बीच में विकल्प आते हैं और ध्यान की धारा टूट जाती है। उस समय हमें अनित्य, अशरण आदि भावना का प्रयोग करना चाहिए। यह मध्यकालीन भावना है। ज्ञान आदि भावना प्रारम्भकालीन है। अज्ञानी मनुष्य ध्यान नहीं कर सकता। जो सम्यक्दर्शी नहीं है वह ध्यान नहीं कर सकता। शम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य के होने पर ही ध्यान के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। जिसमें चारित्र नहीं है, शील और सहिष्णुता नहीं है, वह ध्यान नहीं कर सकता। जिसमें वैराग्य नहीं है, राग-द्वेष पर विजय पाने की भावना नहीं है, वह ध्यान नहीं कर सकता। ध्यान की दीर्घकालीन साधना के लिए इन सबका होना जरूरी है।

ध्यान का उद्देश्य है—वीतराग चेतना का उदय। अपनी चेतना को शुद्ध रूप में देखना विपश्यना है। इसे प्रेक्षा भी कहा जाता है। राग-द्वेष को क्षीण करने के लिए अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। अनित्य, अशरण आदि भावना को अनुप्रेक्षा कहा जाता है। प्रेक्षा के साथ होने वाली या प्रेक्षा के बाद होने वाली अनुप्रेक्षा। पदार्थों के संयोग की अनित्यता का अनुचिन्तन, आत्मा की एकता का अनुचिन्तन, बाहर में अत्राण का अनुचिन्तन—यह अनुचिन्तन हमारे ध्यान की धारा को वीतरागता की दिशा में ले जाता है, इसलिए यह उसका अनिवार्य अंग है। यह उसके पहले और पीछे—दोनों बिन्दुओं में होता है।

• कायोत्सर्ग में भी भेद-विज्ञान होता है और विपश्यना भी पहुंचते-पहुंचते भेद-विज्ञान तक पहुंच जाती है, शरीर को पार कर चैतन्य तक पहुंच जाती है। फिर कायोत्सर्ग और विपश्यना—ये दो क्यों ?

विपश्यना की योग्यता कायोत्सर्ग के द्वारा प्राप्त होती है। शरीर की शिथिलता साधना की पहली शर्त है। विपश्यना ध्यान है। ध्यान का अर्थ है स्थिरता और विपश्यना का अर्थ है देखना। जैन पद्धति में ध्यान तीन भागों में विभक्त है—कायिक ध्यान, वाचिक ध्यान और मानसिक ध्यान। ध्यान का अर्थ केवल मन को रोकना ही नहीं है। जो लोग केवल मन-निरोध को ध्यान मानते हैं वे शायद पूरी बात नहीं कहते। प्रथम ध्यान है—शरीर की

चंचलता का निरोध। इसका अभ्यास किए बिना तृतीय ध्यान नहीं हो सकता। यह कायिक ध्यान कायोत्सर्ग है। विपश्यना मानसिक ध्यान है। कायोत्सर्ग के होने पर विपश्यना ध्यान हो सकता है। इस दृष्टि से इनमें पौवापर्य है। कायोत्सर्ग की स्थिति में स्थूल शरीर निस्पन्द हो जाता है। इस स्थिति में सूक्ष्म शरीर सक्रिय होता है। कायोत्सर्ग की साधना परिपक्व हो जाती है, स्थूल शरीर पर्याप्त मात्रा में शिथिल हो जाता है, तब कभी-कभी सूक्ष्म शरीर इस स्थूल शरीर को छोड़कर बाहर भी चला जाता है। वैसे क्षणों में भेद-विज्ञान की पहली किरण फूटती है। साधक को यह अनुभव होने लगता है कि इस स्थूल शरीर से भिन्न कोई सूक्ष्म अस्तित्व है जो इससे पृथक् हो रहा है। परामनोवैज्ञानिक अनेक घटनाओं के अध्ययन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि शिथिलता, मूर्च्छा, मादक औषधियों के प्रयोग—इन कुछ अवस्थाओं में सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर से अलग हो जाता है। एक रोगी ऑपरेशन के टेबल पर सो रहा है। डॉक्टर ऑपरेशन के लिए खड़ा है। एक डॉक्टर ने चेतनाशून्य करने वाली औषधि का प्रयोग कर उसे संज्ञाहीन कर दिया। वह अचेत हो गया। डॉक्टर ऑपरेशन कर रहा है। रोगी का सूक्ष्म शरीर उस टेबल के ऊपर खड़ा है। वह ऑपरेशन को देख रहा है। कुछ समय बाद वह स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। यह सारा Coma (सुषुप्ति) की स्थिति में घटित होता है। Fainting (मूर्च्छा) की स्थिति में घटित होता है। कभी-कभी स्वाभाविक नींद की स्थिति में भी ऐसा हो जाता है। लम्बा कायोत्सर्ग करते-करते ऐसी स्थिति आती है कि सूक्ष्म शरीर से अलग हो जाता है। इन क्षणों में यह धारणा निर्मित होती है कि शरीर अलग है, मैं अलग हूं। यह रटा हुआ भेद-विज्ञान नहीं होता। यह उसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। आन्तरिक चेतना स्वयं प्रबुद्ध होकर कहती है—'तुम कुछ और हो, शरीर कुछ और है।' विपश्यना ध्यान में इससे आगे की स्थिति का निर्माण होता है। विपश्यना काल में हम स्थूल शरीर के बाद तैजस शरीर का, उसके बाद कार्मण शरीर का, मानसिक ग्रन्थियों और संस्कारों का साक्षात् करते-करते आगे बढ़ते हैं तब शुद्ध चैतन्य शेष रह जाता है। शरीर के द्वारा होने वाली सारी प्रतिक्रियाएं समाप्त हो जाती हैं। यह भेद-विज्ञान का अग्रिम चरण है। इस प्रकार कायोत्सर्ग और विपश्यना में होने वाले भेद-विज्ञान में क्रमिक विकास का अन्तर है।

• **सूफी पद्धति में चक्राकार घूमते-घूमते ध्यान कराया जाता है। आपने**

कहा ध्यान का अर्थ है स्थिरता। क्या शरीर की चंचलता में ध्यान नहीं हो सकता?

शरीर की स्थिरता और फिर मन की स्थिरता—यह एक सामान्य पद्धति है। कुछ विशेष पद्धतियां भी हैं। उनका प्रयोग शरीर की चंचलता की स्थिति में भी किया जाता है। जैनों में 'गमन योग' और बौद्धों में 'स्मृति प्रस्थान' सम्मत हैं। एक आदमी चल रहा है और वह 'मैं चल रहा हूं'—इसी विषय में एकाग्र है, उसकी स्मृति इसी में संलग्न है। दूसरा कोई विकल्प नहीं आ रहा है तो चलते समय भी ध्यान हो सकता है। चक्राकार घूमते समय इसका अनुभव किया जाए कि शरीर घूम रहा है और मन स्थिर है तो इस अनुभव में शरीर और मन की भिन्नता स्पष्ट होती है और मन अपने आप में शान्त हो जाता है। यह सक्रिय ध्यान है। ध्यान की विकसित भूमिका में इसे छोड़ 'अक्रिय' ध्यान करना होता है। सालंब या सविकल्प ध्यान को छोड़कर निरालम्ब निर्विकल्प ध्यान में जाना होता है। वहां स्थिरता अनिवार्य है या सहज-स्वाभाविक है। कायिक ध्यान या कायोत्सर्ग के द्वारा शरीर सध जाता है, फिर शरीर के जिस अवयव को स्थिर रखना होता है, पूरे शरीर को स्थिर रखना होता है तो पूरे शरीर को स्थिर रख लेते हैं। कोशा वेश्या ने सरसों के ढेर पर नृत्य किया। सरसों के ढेर पर रखी हुई सूईं की नोंक पर नृत्य करना कायोत्सर्ग के सुदृढ़ अभ्यास के बिना नहीं हो सकता। शरीर को इतना हल्का कर लेना कि वह अन्तरिक्ष में भी टिक सके, अधर रह सके—यह केवल स्थूल शरीर को शिथिल करने से नहीं होता। यह तब होता है जब सूक्ष्म शरीर पर भी हमारा नियंत्रण स्थापित हो जाता है और शरीर पर होने वाली ममत्व की ग्रन्थि खुल जाती है।

• भेद-ज्ञान के प्रकरण में कहा गया कि सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर को देखता है। सूक्ष्म शरीर स्वयं अचेतन है, फिर वह स्थूल शरीर को कैसे देखेगा?

सूक्ष्म शरीर स्वयं चेतन नहीं है किन्तु उसमें चैतन्य संक्रान्त है। चैतन्य के संक्रमण का क्रम यह है कि हमारी चेतना सबसे पहले कार्मण शरीर में संक्रान्त होती है। वहां से छनकर तैजस शरीर में आती है और वहां से स्थूल शरीर में। चैतन्य का जितना निकट का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर के साथ होता है उतना स्थूल शरीर के साथ नहीं होता। स्थूल शरीर की अपेक्षा चेतना सूक्ष्म शरीर में अधिक जागृत रहती है और जो सूक्ष्म शरीर बाहर निकलता है है वह चेतना के साथ ही निकलता है। इसी को जैन परिभाषा में 'समुद्घात' कहते हैं। चेतनायुक्त सूक्ष्म शरीर में जानने की क्षमता रहती है, इसलिए यह आश्चर्य का विषय नहीं है।

२

भगवान् महावीर के समय में हजारों-हजारों मुनि एकान्तवास में, पहाड़ों में, गुफाओं में, शून्यगृहों में, उद्यानों में ध्यानकील रहते थे। उनके बाद भी दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक यह स्थिति चलती रही। उसके उतरार्द्ध में कुछ परिवर्तन आया। उस परिवर्तन के ये कुछ कारण बने—

१. प्राकृतिक प्रकोप।

२. राजनैतिक उथल-पुथल।

३. संघ-सुरक्षा व लोक-संग्रह का आकर्षण।

वीर निर्वाण के दो सौ वर्ष बाद एक द्वादशवर्षीय भयंकर अकाल पड़ा। उस समय मगध आदि जनपदों में जटिल स्थिति बन गई। आज यातायात के प्रचुर साधन हैं, फिर भी अकाल का सामना करने में कठिनाई का अनुभव होता है। उस समय यातायात के साधन बहुत कम थे। कोई शक्तिशाली केन्द्रीय शासन नहीं था। बाहर से सहायता लेने की संभावनाएं भी कम थीं। उस स्थिति में लगातार वर्षों तक अकाल होना कितनी भयंकर बात है। उस समय हजारों मुनि, जो श्रुत के पारगामी थे, अनशन कर दिवंगत हो गए। जैन संघ में बहुत बड़ी रिक्तता आ गई।

दूसरा कारण बना राजनैतिक उथल-पुथल। नंद वंश और उसके बाद मौर्यवंशी सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासनकाल में पाटलिपुत्र तथा मगध में जैन संघ के लिए जो अनुकूलता थी वह बाद में नहीं रही। श्रुतकेवली स्थूलिभद्र के प्रधान शिष्य महागिरि और सुहस्ती का विहार-क्षेत्र मालव प्रदेश हो गया। जैन श्रमणों का मुख्य विहार-क्षेत्र मगध और पाटलिपुत्र था, वह बदल गया। दक्षिण भारत और मालव प्रदेश—यह मुख्य बिहार-क्षेत्र बन गया। सम्राट् अशोक के शासनकाल में बौद्ध संघ प्रभावशाली हो गया। इस परिवर्तन ने साधना की चालू परम्परा में एक व्यवधान उत्पन्न कर दिया।

तीसरा कारण बना—संघ-रक्षा का प्रश्न। यह दो ओर से उपस्थित हुआ। दुष्काल में ज्ञानी मुनियों का स्वर्गवास संघ के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती बना। यह माना जाता था और उसमें वास्तविकता भी है कि श्रुत

है तो संघ है। उसके बिना संघ नहीं चल सकता। श्रुत-सम्पन्न मुनियों के अभाव में संघ कैसे चल सकता है ? जो थोड़े-बहुत श्रुत-सम्पन्न मुनि बचे थे, उनसे विशाल श्रुतराशि को ग्रहण करना और उस परम्परा को पूर्ववत्-समृद्धिशाली बनाना आवश्यक हो गया। इस आवश्यकता को ध्यान में रख-कर विशाल श्रुतराशि को अव्यवच्छिन्न रखने के लिए अनेक नियम बनाने पड़े जो आज भी छेद सूत्रों तथा समाचारी प्रकरण में देखे जा सकते हैं। उत्तराध्ययन के सामाचारी अध्ययन में वह व्यवस्था है कि श्रमण प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान (सूत्रार्थ चिन्तन), तीसरे प्रहर में आहार और चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय करे। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे प्रहर में फिर स्वाध्याय करे। दिन-रात के आठ प्रहरों में स्वाध्याय के लिए चार प्रहर निश्चित थे। ध्यान के लिए केवल दो प्रहर निश्चित थे और ध्यान का स्वरूप भी मुख्यतः उस श्रुत के अर्थ का चिन्तन करना था। श्रुत का विच्छेद न हो, इस दृष्टि से की गई इस व्यवस्था में ध्यान को गौणता मिली और स्वाध्याय को प्राथ-मिकता। वैसे ध्यान और स्वाध्याय—दोनों साधना के मुख्य अंग हैं। फिर भी ध्यान की अपेक्षा स्वाध्याय को अधिक महत्त्व मिला। इसने ध्यान के प्रति होने वाले आकर्षण में कमी ला दी। अन्य धर्म-संघ अपने-अपने धर्म-संघ के विस्तार के लिए दूसरे धर्म-संघों पर प्रहार करने लगे। जैन संघ पर बौद्ध आदि श्रमण-संघों तथा वैदिक धर्मों के तीव्र प्रहार होने लगे। इन आन्त-रिक और बाहरी चुनौतियों का सामना करने के लिए उसे अपनी दिशा बद-लनी पड़ी।

इन तीनों कारणों का दीर्घ-कालीन परिणाम यह हुआ कि जैन संघ, जो ध्यान-प्रधान था। वह स्वाध्याय-प्रधान हो गया। जो अध्यात्मवादी था वह संघ-प्रधान हो गया। वीर निर्वाण की चौथी-पांचवी शताब्दी में महर्षि गौतम का न्याय-दर्शन और महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन स्थापित हुआ। इन दर्शनों की स्थापना ने भारतीय चिन्तन के क्षितिज में नई क्रान्ति पैदा की। उनका विरोध भी हुआ। स्वयं वैदिकों ने उसका विरोध किया। 'ये नए ग्रन्थ या नए सूत्र बनाने वाले कौन होते हैं ?'—इस प्रकार अनेक प्रश्न खड़े किए गए। यह सब कुछ होने पर भी उनका प्रभाव कम नहीं हुआ और 'दर्शन युग' या 'सूत्र युग' का प्रारम्भ हो गया। उसे 'चर्चा युग' का प्रारम्भ कहा जा सकता है। बाद और विवाद को मान्यता प्राप्त हो गई। एक दार्शनिक

दूसरे दार्शनिक से चर्चा करने लगा। अपने मत की स्थापना और दूसरे मत का खंडन होने लगा। गौतम ने अपने 'न्याय सूत्र' में स्पष्ट व्यवस्था की कि धर्म की सुरक्षा के लिए वाद, जल्प, वितंडा, छल—इन सबका प्रयोग किया जा सकता है। धर्म के क्षेत्र में वितंडा और छल को स्थान मिल गया। परस्पर शास्त्रार्थ होने लगे। जब शास्त्रार्थ मुख्य हो जाता है तब ध्यान की बात अपने आप गौण हो जाती है। इन सब स्थितियों ने कुछ मिलाकर जैन मुनियों को, जो बहुत निवृत्ति में थे, लोक-संग्रह से भी दूर रहते थे, अपना अधिकांश समय ध्यान और प्रतिसंलीनता में बिताते थे, संघ के विकास की ओर प्रवृत्त कर दिया। जैन संघ की रक्षा का प्रश्न उनके सामने मुख्य हो गया। एक ओर भद्रबाहु के साथ जाने वाले हजारों-हजारों मुनि पूर्वीय समुद्र के तट पर फैल गए। उन्होंने तमिलनाडु, केरल और आन्ध्र के प्रदेशों में जैन धर्म का प्रसार प्रारम्भ कर दिया। दूसरी ओर आचार्य महागिरि और सुहस्ती को उज्जैनी के शासक संप्रति का योग मिला और उस योग से जैन धर्म महाराष्ट्र के सुदूर अंचलों तक पहुंच गया। शक्ति का अर्जन और प्रदर्शन—ये दोनों प्रतिष्ठित हो गए। फलतः संघ को शक्ति सम्पन्न करने वाले आचार्यों की परम्परा चल पड़ी। आचार्य कालक, पादलिप्त आदि उसी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। मध्यकालीन घटनाओं से पता चलता है कि ध्यान का स्थान शास्त्रीय ज्ञान, विद्या और मंत्रों ने ले लिया। शक्ति का प्रयोग राजों के प्रतिबोध देने और चमत्कार प्रदर्शित करने में होने लगा। राजसभाओं में शास्त्रार्थ करना और प्रतिवादी को परास्त करना धर्म-विजय का मुख्य लक्षण हो गया। छेद सूत्रों में इन घटनाओं पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न दृष्टिगत होता है। पर वह सफल नहीं हो सका। राज्याश्रय प्राप्त करने पर रायों की भावनाओं का आदर किए बिना नहीं रहा जा सकता। पादलिप्त सूरी का एक प्रसंग है—मथुरा का राजा मुरंड था। उसके सिर में भयंकर दर्द हो गया। वह औषधियों से शान्त नहीं हो रहा था। राजा ने आश्चर्य से कहा—'महाराज! आप ज्ञानी हैं, विद्याधर हैं। मेरे सिर में असह्य दर्द हो रहा है। कृपा कर उसे शान्त कर दें। उस समय पादलिप्त सूरी ने अपनी तर्जनी अंगुली से तीन बार अपने घुटने को थपथपाया। इधर घुटने पर तर्जनी अंगुली चली और उधर राजा का सिर-दर्द दूर हो गया। आचार्य प्रभाचंद्र ने लिखा है—'पादलिप्त सूरी के नाम की गाथा मंत्र-रूप है। उसका मंत्र की भांति पाठ करने

से आज भी शिरोवेदना को मिटाया जा सकता।'[१] इस प्रकार की घटनाओं से पता चलता है कि आत्मज्ञान, विपश्यना या निर्जरा की धारा चमत्कार की दिशा में मुड़ने लगी। मुझे लगता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय तप पर बहुत बल दिया। उसके पीछे भी एक रहस्य है। उनके सामने यह दिशा परिवर्तन प्रारम्भ हो गया था। जैन मुनि व्यवहार की ओर अधिक मुड़ रहे थे। संघ को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा था। यह माना जाने लगा था कि संघ रहेगा तो धर्म रहेगा, नहीं तो नहीं रहेगा। व्यवहार जब इतना प्रबल हो जाए कि संघ की सुरक्षा के लिए कुछ भी किया जा सकता है—चक्रवर्ती की सेना को भी चूर-चूर किया जा सकता है, तब धर्म मुख्य नहीं रहता। जब संघ मुख्य और धर्म या अध्यात्म गौण हो जाता है, उस समय निश्चित नय पर बल देना स्वाभाविक हो जाता है। अध्यात्म की दिशा में चिन्तन करने वाले आचार्यों का मत यह रहा—निर्जरा या परमार्थ का दृष्टिकोण यदि गौण हो जाए तो केवल विद्या और मंत्र के चमत्कार के द्वारा धर्म की रक्षा नहीं हो सकती। पर सचाई यह है कि व्यवहार के प्रति जितना आकर्षण होता है उतना परमार्थ के प्रति नहीं होता। वीर निर्वाण की चौथी-पांचवीं शताब्दी के बाद ध्यान का स्थान विद्याएं लेती गईं। विद्या साधना के रहस्य प्रकट होते गए और ध्यान की बात हाथ से छूटती गई। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि ध्यान की परम्परा लुप्त हो गई। कुछ महामुनि ध्यान की धारा पर भी बल देते रहे। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने 'ध्यानशतक' की रचना की। वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसमें ध्यान की मौलिक पद्धति सुरक्षित है। कोई मिश्रण नहीं है। पूज्यपाद ने 'समाधितंत्र' और 'इष्टोपदेश—ये दो ग्रंथ लिखे। आचार्य कुन्दकुन्द, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण और पूज्यपाद के ग्रन्थों में ध्यान की मौलिक परम्परा सुरक्षित है। वह किसी अन्य परम्परा से प्रभावित नहीं है।

---

१. प्रभावक चरित, पादलिप्त सूरी चरितम्, पृ० ३०; श्लोक ५८-६० :

- तर्जनों प्रभुरप्येष, त्रिः स्वजानावचालयत्।
  भूपतेर्वेदना शान्ता, तस्य किं दुष्करं प्रभोः॥
- जह जह पएसिणि, जाणुयंमि पालित्तउ भमाडेइ।
  तह तह ते सिखेयणा, पणस्सई मुरण्डरायस्स॥
- मन्त्ररूपामिमां गाथां, पठन् यस्य शिरः स्पृशेत्।
  शाम्येत वेदना तस्याद्यापि मूर्ध्नोऽतिदुर्धरा॥

विक्रम की आठवीं शताब्दी में हरिभद्र सूरी हुए। वे बहुत बड़े ज्ञानी और बहुत बड़े योगी थे। उन्होंने योग पर अनेक ग्रन्थ लिखे, जैसे—योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगविंशिका, योगदर्शन, षोडशक आदि। उनके योग-ग्रंथों ने जैन परम्परा में योग की नई धारा प्रवाहित की। ध्यान-पद्धति के सूत्र बचे थे। उनके रहस्य विस्मृत हो गए थे। महर्षि पतंजलि के योग-दर्शन की पद्धति प्रसार पा रही थी। उसकी अपनी कुछ विशेषताएं हैं—

१. वह बहुत व्यवस्थित ग्रन्थ है।

२. बहुत स्पष्ट और सरल।

३. निष्पक्ष भाव से लिखा हुआ और प्रारम्भ से अंत तक की साधना का एक साथ संकलन।

इन कुछ विशेषताओं के कारण वह लोकप्रिय होता चला गया। उसकी पद्धतियां साधकों को आकर्षित करती गईं। यह सांख्य दर्शन की साधना पद्धति का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। प्राचीन काल में सांख्य दर्शन श्रमण परम्परा का एक अंग था। श्रमकों के पांच मुख्य दर्शन थे—जैन, बौद्ध, आजीवक, परिव्राजक, और तापस 'परिव्राजक' सांख्य दर्शन का सूचक है।

हरिभद्र सूरी का दृष्टिकोण अनेकान्त-प्रधान था। उन्होंने अपने '**शास्त्र-वार्ता समुच्चय**' में विभिन्न दर्शनों का समन्वय किया। वैसे ही अपने योग-ग्रन्थों में विभिन्न साधना-पद्धतियों का समन्वय किया। इस समन्वय में उन्होंने जैन साधना पद्धति के सूत्रों (चौदह गुणस्थानों) का महर्षि पंतजलि तथा अन्य यौगिक पद्धतियों का तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया और अपने सर्व-ग्राही दृष्टिकोण से उन्हें स्वीकृत कर जैन साधना-पद्धति का नया रूप दिया। पंतजलि ने अष्टांग योग की पद्धति बतलाई। आचार्य हरिभद्र ने 'योगदृष्टि समुच्चय' में आठ दृष्टियों का निरूपण किया। और उनकी अष्टांग योग से तुलना की। पतंजलि के योगदर्शन में समाधि के दो प्रकार निरूपित हैं—सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। हरिभद्र ने योग के पांच प्रकार बतलाए—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय। प्रथम चार प्रकारों की तुलना संप्रज्ञात समाधि से और अंतिम प्रकार की तुलना असंप्रज्ञात समाधि से की। इस प्रकार उन्होंने पतंजलि के योगदर्शन की परिभाषाओं का जैनीकरण किया। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि उन्होंने यह बतलाने का प्रयत्न किया कि साधना-पद्धतियों में केवल परिभाषाओं का अन्तर है। तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। जैन-साधना-पद्धति और पतंजलि की साधना-पद्धति के तत्त्वों में कोई अन्तर नहीं है, केवल परिभाषाओं का अन्तर है।

यदि परिभाषा-भेद को मिटा दें तो तत्त्वतः दोनों एक हो जाएंगे इस दृष्टिकोण से उन्होंने पतंजलि के शब्दों के साथ तुलना करने के लिए नए शब्दों को गढ़ा और दोनों में सामंजस्य प्रदर्शित किया।

विसुद्धिमग्ग एवं अन्य योग सम्बन्धी बौद्ध सूत्रों तथा पतंजलि के योगदर्शन के सूत्रों में अद्भुत साम्य देखकर आश्चर्य होता है। यह पर्याप्त अनुसंधान के बाद ही कहा जा सकता है कि बौद्ध ने पतंजलि का अनुसरण किया या पतंजलि ने बौद्ध का ? किन्तु दोनों में से किसी ने एक का अनुसरण अवश्य ही किया है। अथवा यह भी हो सकता है कि श्रमणों की सामान्य साधना-पद्धति के जो सूत्र थे उनका बौद्ध ने पालि में और पतंजलि ने संस्कृत में संकलन किया। हरिभद्र सूरी ने पतंजलि का शब्दशः अनुसरण नहीं किया किन्तु तात्त्विक एकता का प्रतिपादन किया।

हरिभद्र सूरी से पहले वीर निर्माण तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक ध्यान की वही मौलिक पद्धति प्रतिपादित होती रही जो महावीर के युग में प्रचलित थी। उसके रहस्य विस्मृत हो गए थे और विस्तार कम हो गया था। पर जो चल रहा था, उसका नया संस्करण नहीं हुआ था। हरिभद्र सूरी ने जैन साधना-पद्धति का नया संस्करण कर दिया। यह साधना पद्धति के संक्रमण का प्रथम बिंदु है।

• जैन साधना-पद्धति की मौलिक धारा और आचार्य हरिभद्र सूरी द्वारा प्रस्तुत नयी धारा में अन्तर क्या है ?

इस नयी धारा के समागम से कायोत्सर्ग और विपश्यना की मूलधारा गौण हो गई। निर्जरा का लक्ष्य पहले ही कम हो चुका था, विद्या और मंत्र की साधना के कारण वह और भी कम पड़ गया। हरिभद्र सूरी ने लिखा कि धर्म का समूचा व्यापार योग है। इस परिभाषा के अनुसार प्रतिक्रमण करना भी योग है, स्वाध्याय करना भी योग है और आहार करना भी योग है। यह बात ठीक है, किन्तु लम्बे समय तक ध्यान की सूक्ष्मताओं में जीने की जो बात थी उसका आकर्षण कम हो गया। सब प्रवृत्तियों में योग की भावना आ जाने के कारण यह माना जाने लगा कि साधु अप्रमत्त भाव से जो भी प्रवृत्ति करता है वह सब योग है। इसे प्रथम भूमिका का ध्यान माना जा सकता है किन्तु ध्यान की अग्रिम भूमिकाओं का स्पर्श करने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है। हरिभद्र सूरी की उक्त परिभाषा आपत्तिजनक नहीं है, फिर भी उससे एक परिवर्तन जरूर आया कि ध्यान की सघनता योग की व्यापकता में विरल हो गई।

• पूज्यपाद का 'समाधिशतक' पतंजलि के 'योगदर्शन' से पहले लिखा गया या बाद में ? क्या उसकी समाधि योगदर्शन की समाधि से भिन्न है ?

महर्षि पतंजलि का समय ई० पू० दूसरी शताब्दी माना जाता है। पूज्यपाद का समय है विक्रम की छठी शताब्दी। अतः 'समाधिशतक' 'योगदर्शन' के सात-आठ सौ वर्ष पश्चात् लिखा गया। 'समाधि' शब्द जैन परम्परा में बहुत पहले से प्रचलित था। आगम सूत्रों में बहुत बार उसका प्रयोग हुआ। 'समाधि' और 'ध्यान' दोनों के पर्यायवाची शब्द है। 'समता' और 'सामायिक' उनमे भिन्न अर्थ वाले नहीं हैं। योगदर्शन में वर्णित समाधि की तुलना शुक्लध्यान से की जाती है।

• क्या जैन परम्परा में विपश्यना का उसी रूप में उल्लेख है जैसा बौद्ध परंपरा में है या किसी दूसरे रूप में ?

ध्यान शब्द 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से बना है। इसका आधुनिक अर्थ है—चिन्तन करना। प्राचीन रूढ़ि के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—देखना और चिंतन करना। देखना और विपश्यना एक ही बात है। देखने के दो रूप हो सकते हैं—बाहर को देखना और भीतर को देखना। भगवान् महावीर ध्यान करते समय एक पुद्गल या परमाणु पर दृष्टि टिकाते थे, अनिमिष-नयन रहते थे। आचारांग सूत्र में 'लोगविपस्सी' शब्द मिलता है। इसका अर्थ है—लोक की विपश्यना करने वाला, लोक को देखनेवाला। भगवान् महावीर ध्यान करते समय ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिरछे लोक को देखते थे। लोक का अर्थ जगत् भी हो सकता है और प्रकरणानुसार शरीर भी हो सकता है। शरीर के पक्ष में ध्यान करनेवाला ऊपर से नीचे तक, सिर से अंगुष्ठ तक शरीर की विपश्यना करता है। समूची ध्यान परम्परा में बाहर और भीतर देखने का क्रम मिलता है। उसका नाम चाहे कुछ भी रहा हो। आचार्य हेमचंद्र ने शरीर को ऊपर से नीचे तक देखने को, मन या प्राण के संक्रमण को 'उत्तर-अधर-प्राणायाम' कहा है। याज्ञवल्क्य गीता में भी उसका उल्लेख मिलता है। ध्यान की प्रक्रिया मुख्यतः दर्शन की प्रक्रिया है। सुनना और देखना—ये ध्यान के मुख्य तत्त्व हैं। शब्द पर मन को लगाना या अनाहत नाद सुनना—ये ध्यान के साथ जुड़े हुए हैं। संभवतः हठयोग का विकास होने के बाद ये जुड़े हैं। ध्यान का प्राचीन रूप देखना ही रहा है।

• महाप्राण ध्यान की प्रक्रिया क्या है ?

महाप्राण ध्यान की प्रक्रिया का वर्णन कहीं नहीं है। इसलिए उसके विषय

में विस्तार से कुछ नहीं कहा जा सकता है। जो कुछ संक्षेप में कहा जा सकता है वह यह है—महाप्राण ध्यान प्राण को सूक्ष्म करने की प्रक्रिया है। शरीर, वचन, मन और श्वास की क्रिया को क्रमशः सूक्ष्म करते चले जाना महाप्राण की साधना-पद्धति है। स्थूलता और सूक्ष्मता के अनेक स्तर हैं। वे क्रमिक अभ्यास से प्राप्त होते हैं। जब दरवाजे को बन्द कर देते हैं तो पशु या आदमी के लिए वह बंद हो गया। क्या उसमें सर्दी नहीं आती? उसके लिए वह दरवाजा खुला ही है। क्योंकि वे सूक्ष्म हैं। स्थूल और सूक्ष्म के अवरोध अलग-अलग होते हैं। सर्दी और गर्मी के परमाणुओं से भी मन और श्वास के परमाणु अधिक सूक्ष्म हैं। स्थूलता और सूक्ष्मता के अनेक स्तरों को पार करते-करते चरम कोटि की सूक्ष्मता में प्रवेश करना महाप्राण ध्यान का लक्ष्य है।

महाप्राण ध्यान करनेवाला बाहर से एक प्रकार की गहरी मूर्च्छा या अचेतनता की स्थिति में रहता है, और वह लम्बे काल तक ऐसे रहता है। लम्बे समय तक इस अवस्था में रहने के कारण उसकी गुप्त शक्तियां जागृत हो जाती हैं।

३

मनुष्य का स्वभाव है कि वह नवीन के प्रति आकर्षित होता है। और प्रभावशाली व्यक्तित्व का अनुकरण करता है। परम्परा के परिवर्तन में ये दोनों तथ्य बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

विक्रम की दसवीं शताब्दी में गोरखनाथ हुए। उन्होंने हठयोग का प्रवर्तन किया। हठयोग की पुरातन शाखा महर्षि मार्कण्डेय की थी। उसका प्रभाव कम हो रहा था। गोरखनाथ का व्यक्तित्व बहुत प्रभावी था। उसके साथ-साथ नई शाखा भी बहुत प्रभावशाली बन गई। योग की प्रत्येक शाखा का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ और हर शाखा ने उसे अपनाने का प्रयत्न किया। हठयोग की इस नई शाखा ने पतंजलि के द्वारा प्रतिपादित योग के आठ अंगों में से छह अंगों को मान्यता दी। वे थे—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि। यम और नियम को उसने मान्यता नहीं दी। उसका झुकाव तंत्रशास्त्र की ओर था। इसलिए ऐसा होना स्वाभाविक था। हठयोग के मुख्य अंग थे—छह चक्र, सोलह तत्त्व या लक्ष्य, पांच आधार आदि-आदि।

तंत्र की शाखा भारतवर्ष में बहुत पुरानी थी। हठयोग के विकास के साथ-साथ तंत्रशास्त्र के प्रति भी जनता का आकर्षण बढ़ रहा था। सच यह है कि जिस ओर जनता अधिक आकर्षित होती है, उस ओर सबका ध्यान आकृष्ट हो जाता है। इस आकर्षण का हेतु प्रवृत्ति की अपेक्षा जनता के आकर्षण को मानना सत्य के अधिक निकट होगा। जनता का झुकाव तंत्र, मंत्र और हठयोग की ओर अधिक होने लगा। इस स्थिति से बचना किसी भी परम्परा के लिए कठिन था। जैन परम्परा भी उससे नहीं बच सकी। उसकी ध्यान की मौलिक धारा निर्जरा या विशुद्ध अध्यात्म के लिए थी। वह धीरे-धीरे छूटती गई। उसमें नया प्रवेश होता चला गया। आचार्य हरिभद्र ने महर्षि पतंजलि के योगदर्शन की पद्धति को जैन साधना पद्धति के साथ जोड़ा। उससे बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ बातें नई जुड़ीं। उन्होंने 'योगविंशिका' में योग के पांच तत्त्व बतलाए। उनमें एक है 'ऊर्ण'। उसका अर्थ होता है स्वर, जप। जैन साधना पद्धति में भावना के लिए स्थान है।

षडावश्यक में स्तुति के लिए भी स्थान है, किन्तु जप के लिए कोई निर्देश नहीं मिलता। आचार्य हरिभद्र के पश्चात् जप की प्रतिष्ठा बढ़ गई। उनके उत्तर-काल में 'नमस्कार महामंत्र कल्प', 'पद्मावती कल्प', 'भैरव कल्प', 'शत्रुंजय कल्प' आदि अनेक कल्पों तथा जप-विधियों का निर्माण हुआ। 'पूर्व' शास्त्रों में विद्याओं और मंत्रों का विशद विवेचन था, किन्तु वह साधना पद्धति के साथ जुड़ा हुआ नहीं था। उसका उद्देश्य निर्वाण नहीं था। उसका उद्देश्य था लौकिक शक्तियों का विकास। लौकिक शक्ति चाहने वाले विद्या और मंत्रों का जप किया करते थे। किन्तु निर्वाण साधना के लिए जप निषिद्ध था।

विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में जैन परम्परा में योग के कुछ प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। उनमें आचार्य शुभचन्द्र, हेमचंद्र, सोमदेव, रत्नशेखर आदि उल्लेखनीय हैं। शुभचंद्र ने 'ज्ञानार्णव' और हेमचंद्र ने 'योगशास्त्र' की रचना की। सोमदेव ने 'यशस्तिलकचम्पू' में योग की विषद चर्चा की और उनका 'योगमार्ग' नाम का छोटा ग्रन्थ भी उपलब्ध होता है। रत्नशेखर ने 'गुणस्थान क्रमारोह' लिखा और उसकी सोपक्रम व्याख्या भी लिखी। उस व्याख्या में 'ध्यानदंडक' नाम का एक प्रकरण है। इन सबका अध्ययन करने पर जैन साधना-पद्धति में बहुत बड़े परिवर्तन का बोध होता है। ज्ञानार्णव और योगशास्त्र में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—इन चारों ध्यानों को धर्म्यध्यान के अवान्तर भेद के रूप में मुख्यता प्राप्त है। प्राचीन परम्परा में धर्म्यध्यान के मौलिक रूप आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय मिलते हैं। इनका स्थान पिंडस्थ आदि ध्यान-चतुष्टय ने ले लिया। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य भावना का स्थान पार्थिवी, आग्नेय, वायव्यी और मारुती—इन धारणाओं ने ले लिया। यह परिवर्तन हठयोग और तंत्रशास्त्र के प्रति जनता के आकर्षण को सूचित करता है और इससे इस बात की भी सूचना मिलती है कि भारत का मानस आध्यात्मिक विशिष्टता से हटकर शक्ति-उपासना और चमत्कार की ओर अधिक झुक रहा था। इस प्रवाह में जैन आचार्यों ने भी लौकिक ध्यान को पूर्णतः आत्मसात् कर लिया। उनके सामने लौकिक और लोकोत्तर ध्यान का विभाग स्पष्ट था। आचार्य सोमदेव ने लोकोत्तर ध्यान की चर्चा के बाद लौकिक ध्यान की चर्चा की है—

'उक्तं लोकोत्तरं ध्यानं, किंचिल्लौकिकमुच्यते।
प्रकीर्णक प्रपंचेन, दृष्टादृष्टफलाश्रयम्॥'

(उपासकाध्ययन, कल्प ३९, श्लोक ७०८)

आचार्य सोमदेव के अनुसार धर्म्य और शुल्क ध्यान लोकोत्तर ध्यान हैं। उन्होंने 'अर्हम्' के जप का भी लोकोत्तर साधना में उल्लेख किया है। लौकिक ध्यान में हठयोग की पद्धति का निरूपण है। आश्चर्य है कि कुछ जैन लेखकों के सामने यह विभाग स्पष्ट नहीं रहा। उन्होंने पिंडस्थ आदि ध्यानों का महावीर के द्वारा प्रतिपादित होने का उल्लेख कर दिया। इस उल्लेख के पीछे नई स्वीकृति को पुष्ट करने या ध्यान की विकासशील परम्परा का परिचय न होने का कारण ही प्रतीत होता है।

आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र—दोनों आचार्यों ने प्राणायाम, कालज्ञान और परकाय-प्रवेश का विस्तार से वर्णन किया है। यह सब उत्तरकालीन समावेश है।

पिंडस्थ ध्यान संस्थान-विचय ध्यान का एक प्रकार हो सकता है। इसलिए पिंडस्थ ध्यान को प्राचीन परम्परा में संस्थान-विचय के रूप में खोजा जा सकता है। किंतु पिंडस्थ आदि ध्यान-चतुष्टय का वर्गीकरण जैन परम्परा में नहीं मिलता। उसका मूल स्रोत संभवतः तंत्र-शास्त्र है। 'गुरु गीता', 'महेश्वर तंत्र' आदि अनेक ग्रन्थों में पिंडस्थ आदि ध्यान-चतुष्टय का वर्णन मिलता है। तंत्रशास्त्र में बतलाया गया है कि जो पिंडस्थ आदि ध्यानों को नहीं जानता वह वास्तव में गुरु ही नहीं होता। गुरु को शक्तिशाली होना चाहिए। शक्ति के लिए सिद्धि प्राप्त करना जरूरी है और सिद्धि-प्राप्ति के लिए पदस्थ ध्यान जरूरी है। इस जरूरत ने पदस्थ ध्यान को सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त कराया। जैन संघ का मध्यवर्ती एक हजार वर्ष का इतिहास मंत्र-सिद्ध आचार्यों का इतिहास है। इस अवधि में विशुद्ध अध्यात्म योगी मुनियों को खोजना पड़ेगा और मंत्रयोगी मुनि बड़ी सुलभता से प्राप्त होंगे। हरिभद्र सूरी से लेकर जिनविजय सूरी तक के प्रभावक आचार्यों का वर्णन करने वाला 'प्रभावक चरित्र' इस बात का साक्ष्य है।

प्राणायाम योगदर्शन से, पिंडस्थ आदि ध्यान-चतुष्टय तंत्र-शास्त्र से तथा पार्थिव आदि धारणा-चतुष्टय और चक्रों पर ध्यान करना आदि हठयोग से जैन साधना-पद्धति में लिए गए। इस प्रकार विक्रम की आठवीं शताब्दी से जैन साधना-पद्धति में अन्य साधना-पद्धतियों के तत्त्वों का समावेश प्रारम्भ हुआ और क्रमशः वह बढ़ता चला गया। इसीलिए आज यह प्रश्न पूछा जा रहा है कि जैन परम्परा की मौलिक ध्यान-पद्धति क्या है? और इसीलिए इस प्रश्न का उत्तर देना आज सरल नहीं है। बर्मा में ध्यान की एक पद्धति

प्रचलित है। उसका नाम है विपश्यना ध्यान। उस पद्धति से ध्यान करने वाले गौरव का अनुभव करते हैं कि उन्होंने भगवान् बुद्ध की ध्यान की मौलिक परम्परा को अक्षुण्ण रखा है। बौद्धों में ध्यान का बहुत विकास हुआ। उन्होंने उसकी अनेक पद्धतियां विकसित कीं। संभवतः विश्व में बौद्धों में ही ध्यान के आधार पर सम्प्रदाय बने। समूचे बौद्ध संघ को दो सम्प्रदाय में बांटा जा सकता है—एक उपदेश शाखा और दूसरी ध्यान शाखा। ध्यान शाखा के अठाईसवें आचार्य बोधिधर्म ने चीन में जाकर ध्यान का प्रचार किया। सामान्यतः समझा जाता है कि बौद्ध धर्म प्रचार के द्वारा विश्व में फैला। किन्तु गहराई में जाने पर यह ज्ञात होगा कि बौद्ध धर्म का विकास जितना प्रचार के द्वारा नहीं हुआ, उतना ध्यान के द्वारा हुआ।

जैन संघ में ध्यान की कोई स्वतन्त्र शाखा स्थापित नहीं हुई और ध्यान की जो मौलिक पद्धति थी उसका अभ्यास भी छूटता चला गया। इस पूरी सहस्त्राब्दी में कोई ऐसी घटना सुनने को नहीं मिलती कि किसी जैन मुनि ने आज्ञा-विचय और संस्थान-विचय के द्वारा वस्तु-सत्य का साक्षात्कार किया हो, जबकि चमत्कार की अनेक घटनाएं सुनी जाती हैं—अमुक मुनि पादुकाओं द्वारा आकाश में उड़ गए; अमुक मुनि ने अमावस्या के दिन में भी पूर्ण चंद्रमा को दिखाकर पूर्णिमा स्थापित कर दी; अमुक मुनि ने मकान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर संक्रामित कर दिया। इससे जाना जाता है कि मंत्र की साधना और विद्या की आराधना ने अध्यात्म योग के अभ्यास को गौण कर दिया। जब हम तत्काल लाभ पाना चाहते हैं, सरल मार्ग को खोजने लग जाते हैं तब आध्यात्मिक लाभ तथा आन्तरिक और गूढ़ पद्धतियों का मूल्य कम हो जाता है। और यही हुआ।

अभी एक विदेशी ने यह जिज्ञासा की कि हम जैनों के ध्यान की मौलिक पद्धति का अध्ययन करना चाहते हैं। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा है। हमें इस जिज्ञासा का उत्तर देना चाहिए और देने से पहले उसे खोजना चाहिए। अभी जो चल रहा है उसमें उत्तरकालीन स्वीकार अधिक है। मैं मानता हूं कि स्वीकार करना बुरी बात नहीं है। कोई अच्छी बात सामने आए उसे स्वीकार करने में कोई बुराई नहीं है। किन्तु बुरी बात यह हुई कि जो हमने स्वीकार किया उसका हमें बोध नहीं है। कम-से-कम यह ज्ञान तो होना ही चाहिए कि यह स्वीकृत है; उधार लिया हुआ है। इसका स्रोत जैन परम्परा में नहीं है, किसी दूसरी परम्परा में है। और हमारी मौलिक

पद्धति क्या थी, उसका भी स्पष्ट बोध होना चाहिए। ये दोनों बातें स्पष्ट हों तो स्वीकार करना, तुलना करना, समन्वय करना कोई बुरी बात नहीं है। किन्तु जहां ये दोनों बातें स्पष्ट नहीं होतीं तब निश्चित ही एक विकट स्थिति पैदा हो जाती है। और सचमुच ध्यान के क्षेत्र में यह स्थिति पैदा हुई है। हमारी साधना-पद्धति में ध्यान प्रधान था, वहां अब जप प्रधान हो गया। समूचे जैन समाज पर दृष्टि डाली जाए तो पता चलेगा कि जप करने वाले यदि दस प्रतिशत हैं तो ध्यान करने वाले एक प्रतिशत भी नहीं हैं। इसका कारण यह है कि ध्यान का महत्त्व हमारे सामने स्पष्ट नहीं है।

उक्त तथ्य को मैं एक घटना का उल्लेख कर स्पष्ट करना चाहूंगा। 'नासा' का एक वैज्ञानिक बर्मा में आया। उसने विपश्यना के महान् साधक 'ऊ बा खिन सियाजी' से भेंट की। उनसे मन की शांति के बारे में पूछा। उन्होंने उसे विपश्यना ध्यान सिखाया। वह धातु-शोधन का अधिकारी वैज्ञानिक था। उसने अनुभव किया कि ध्यान से शांति मिलती है, शारीरिक दोष भी मिटते हैं। पर ऐसा क्यों होता है ? उसने उसकी खोज प्रारम्भ की। फिर अपने गुरु के पास बर्मा आया। चर्चा के दौरान उसने बताया कि विपश्यना ध्यान की 'धातु-शोधन' की पद्धति से तुलना की जा सकती है। अंतरिक्ष-यान के लिए पूर्णतः शुद्ध धातु अपेक्षित होती है। यदि वह शुद्ध न हो तो अंतरिक्ष-यान मजबूत नहीं हो सकता, तेज गति से नहीं चल सकता। आप कल्पना करें कि धातु के एक दंड में एक अरब कण हैं। उनमें यदि एक कण भी अशुद्ध रह गया तो यान टूट जाएगा। उसके सारे के सारे कण शुद्ध होने चाहिए। धातु-शोधन की प्रक्रिया यह है—अशुद्ध धातु को शुद्ध करने के लिए अशुद्ध धातु के दंडे पर शुद्ध धातु के छल्ले घुमाए जाते हैं। उस दंडे में से विजातीय कण निकलते जाते हैं और वह दंड शुद्ध होता चला जाता है। स्पर्श की जरूरत नहीं। वे छल्ले ऊपर घूमते रहते हैं और धातु के विजातीय कण निकल-निकलकर बाहर जाते रहते हैं। उसने बताया—विपश्यना के द्वारा भी इसी प्रकार शोधन होता है। हम सिर से पैर तक शुद्ध चैतन्य की एक धारा को प्रवाहित करते हैं तब हमारी अशुद्ध चेतना में मिले हुए विजातीय तत्त्व बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार चेतना का शोधन होता है और उससे मन और शरीर के दोष भी दूर होते हैं। जैन साधना पद्धति की भाषा में यह निर्जरा की प्रक्रिया है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने इसे स्वर्ण और अग्नि के उदाहरण से समझाया है। जिस प्रकार मिट्टी मिला हुआ सोना अग्नि में

गलाकर शुद्ध किया जाता है, वैसे ही तपस्या या ध्यान के द्वारा कर्मों की निर्जरा की जाती है, चैतन्य का शोधन किया जाता है। निर्जरा के द्वारा शारीरिक और मानसिक सभी दुःखों का शोधन होता है। मानसिक ग्रन्थियों और कर्म-संस्कारों का भी शोधन होता है। इस प्रक्रिया को आचार्य कुन्दकुन्द ने 'शुद्ध उपयोग' कहा है। इसे संवर भी कहा जा सकता है। शुद्ध चैतन्य का क्षण संवर का क्षण है। उससे नए कर्मों का बंध नहीं होता और पुराने कर्मों की निर्जरा होती है। कितनी मूल्यवान् है यह प्रक्रिया। किन्तु जब इसकी विस्मृति हुई तो इसके मूल्य की भी विस्मृति हो गई। ध्यान से जो शक्ति प्राप्त होती थी उसका कोई दुरुपयोग नहीं होता था। उसके दुरुपयोग की कोई संभावना ही नहीं होती थी। मंत्र-तंत्र से प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग भी होने लगा, जैसे धन और सत्ता से प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग होता है। मंत्र की आराधना करने वाले मुनियों में प्रमाद बढ़ा, आराम की मनोवृत्ति बढ़ी और सुख-सुविधावादी मनोभाव ने मुनित्व की दिशा बदल दी। जब मंत्र-शक्ति का अतिमात्रा में उपयोग होने लगा तब उसके उपयोग पर भी नियन्त्रण किया जाने लगा। इन शताब्दियों में उसका भी प्रायः लोप-सा हो गया। ध्यान का रहस्य पहले ही हाथ से निकल गया था। इन दो-तीन शताब्दियों में मंत्र का रहस्य भी हाथ से निकल गया।

आज मंत्र के ग्रंथ सुलभ हैं पर ध्यान के ग्रन्थ उतने सुलभ नहीं हैं। और जो हैं उनके हार्द को पकड़ना भी बहुत कठिन है। इसलिए ध्यान की मूल पद्धति की खोज एक महान प्रयत्न की अपेक्षा रखती है।

• क्या ध्यान की परम्परा में दिगम्बर और श्वेताम्बर संघों में मतभेद रहा है?

सभी जैन संघों में धर्म्यध्यान और शुक्लाध्यान की अभ्यास पद्धति रही है। उसमें कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। उत्तरकालीन विकास-क्रम में हरिभद्र सूरी एक द्वीप की भांति अलग दीखते हैं। शेष सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों का विकास-क्रम एक जैसा रहा है।

• आपने विपश्यना की चर्चा की। वह क्या है? उसे थोड़ा स्पष्ट कीजिए।

विपश्यना का अर्थ है—विशिष्ट प्रकार से देखना। ध्यानकाल में बाहर भी देखा जाता है और भीतर भी किसी वस्तु को एकाग्रतापूर्वक देखना विपश्यना है, वैसे ही अपने आपको देखना भी विपश्यना है। जैसे जल की धारा नहर में प्रवाहित होती है वैसे ही चैतन्य की धारा को समूचे शरीर में, शरीर के

प्रत्येक अवयव में और अवयव के कण-कण में प्रवाहित करना और साथ-साथ उसका अनुभव करना तथा शरीर में होने वाले स्पंदनों को, संवेदनों को पकड़ना विपश्यना है।

• क्या भगवान् महावीर के समय में मुनि मंत्र-विद्या से अनभिज्ञ थे ?

चौदह पूर्वों में 'विद्या प्रवाद' नाम का एक पूर्व है। उसमें मंत्र और विद्या का विशद निरूपण है। चतुर्दश पूर्वधर मुनि मंत्र और विद्या के पारगामी होते थे। कुछ विशिष्ट मुनियों के लिए 'मंत्र-तंत्र विशारदा' विशेषण मिलता है। तात्पर्य यह है कि जो विशिष्ट ज्ञानी होते थे वे मंत्रों के ज्ञाता होते थे। सामान्य मुनियों के लिए मंत्रों का अधिकार नहीं था। विशेष परिस्थिति में कभी-कभी उसका उपयोग भी किया जाता था। मैंने जो कहा उसका आशय यह नहीं कि पहले जैन परम्परा में मंत्र विद्या का सर्वथा अभाव था। उसका तात्पर्य यह है—पहले मंत्र-साधना की बात गौण थी और अध्यात्म-साधना की बात मुख्य थी। किन्तु उत्तरवर्ती परम्परा में मंत्र-साधना की बात मुख्य हो गयी और अध्यात्म-साधना की बात गौण हो गयी।

आचार्य हेमचंद्र अपने गुरु के पास गए और स्वर्णसिद्धि की विद्या की मांग की। गुरु ने कहा—"बकरी का दूध तो हजम ही नहीं कर सकता और शेरनी का दूध हजम कर जाएगा ?" उन्होंने विद्या देना स्वीकार नहीं किया। कुछ विशिष्ट आचार्य थे। उनके पास विशिष्ट विद्याएं थीं। किन्तु वे जब सबके लिए हो गईं तब चमत्कार-प्रदर्शन का भाव बढ़ गया। इस परिवर्तन का प्रभाव अध्यात्म पर पड़ा और ध्यान-योग की विस्मृति होती गयी।

• समन्तभद्र के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अनेक विद्याओं का प्रदर्शन किया। क्या यह सही है ?

मन्त्र और विद्या प्रयोग के दो प्रयोजन हैं—संघ की सुरक्षा और बड़प्पन की भावना। सिद्धसेन, समन्तभद्र, हरिभद्र आदि आचार्यों ने मन्त्र-विद्या का प्रयोग किया। उनके पीछे बड़प्पन की भावना प्रतीत नहीं होती। उन्होंने संघ के अस्तित्व को सुरक्षित करने के लिए वैसा किया, किन्तु उनके उत्तरकाल में बड़प्पन और चमत्कार-प्रदर्शन के लिए वैसा किया जाने लगा। उस स्थिति में अध्यात्म मुख्य नहीं रह सका।

• लब्धि और मंत्र-साधना में क्या कोई अन्तर है ?

तपस्या के विधिवत् प्रयोग से विशिष्ट प्रकार की निर्जरा होती है। उससे लब्धियां प्राप्त होती हैं। मंत्र-विद्या की साधना किसी देव या देवी के जप

द्वारा या वर्ण समाम्नाय के जप द्वारा की जाती है। तपस्या के द्वारा लब्धियों की प्राप्ति सहज भाव से होती है। मंत्र-साधना प्रयत्नपूर्वक की जाती है।

४

इन विगत चार-पांच शताब्दियों में हमारी साधना-पद्धति पर भक्ति मार्ग का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। इसके उदाहरण के रूप में आनन्द-घनजी को प्रस्तुत किया जा सकता है। वे योगी थे। उन्होंने अनेक स्तवन लिखे। उन्हें देखकर जैन परम्परा के अभ्यासी को आश्चर्य होता है। आनन्द-घनजी ने भगवान् की प्रियतम के रूप में उपासना की है। यह जैन साधना-पद्धति में एक नया उन्मेष है। वे भक्तिमार्गी वैष्णव धारा से प्रभावित हुए हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मा के साथ अभेद स्थापित करने की साधना-पद्धति प्रस्तुत की थी। वह जैन साधना-पद्धति का मौलिक स्वरूप है। आनन्द-घनजी ने भेद-प्रणिधान की साधना-पद्धति को महत्त्व देकर भक्तिमार्ग को विकसित किया। भक्तिमार्ग के बीज आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में भी मिलते हैं। किन्तु उसका पल्लवित रूप विगत चार-पांच शताब्दियों में प्राप्त होता है।

दूसरे योगी चिदानन्दजी शैव साधना से प्रभावित थे। उन्होंने स्वरोदय का लम्बा वर्णन किया है। स्वरोदय और पवन-विजय उनकी साधना के मुख्य तत्त्व रहे हैं।

जैन साधना-पद्धति में आने वाले नए उन्मेषों को लक्ष्य में रखकर कुछ आचार्यों और साधकों के नामों की चर्चा मैंने की है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उल्लिखित शताब्दियों में अध्यात्मयोगी साधकों का अभाव रहा। समय-समय पर अनेक अध्यात्मयोगी साधक हुए हैं। उन्होंने अध्यात्म की विशिष्ट साधना की है। जैन शासन की सभी परम्पराओं में ऐसे अनेक व्यक्तित्व प्राप्त होते हैं। गृहस्थ साधकों में श्रीमद् राजचन्द्र जैसे महान् साधक हुए हैं। उनकी साधना के अनुभव आज भी अध्यात्म-चेतना के जागरण में महान् प्रेरणा देते हैं।

अब मैं उक्त ऐतिहासिक विहंगावलोकन पर पर्यालोचन की दृष्टि से विचार करना चाहता हूं। आगम साहित्य में अनेक प्रकार के मुनियों का वर्णन मिलता है। उनमें एक प्रकार के मुनि स्थितात्मा कहलाते हैं। जिन्होंने स्थूल

शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर को भेदकर चैतन्य की गहराई में जाने का प्रयत्न किया है वे स्थितात्मा होते हैं। दूसरे प्रकार के मुनि वादी कहलाते हैं। तीसरे प्रकार के मुनि विद्यामंत्र विशारद होते हैं।

भगवान् महावीर के समय में प्रचलित ध्यान की धारा स्थितात्मा होने की दिशा में प्रवाहित थी। फलस्वरूप सैकड़ों-सैकड़ों मुनि केवली, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी और विशिष्ट लब्धिधर बने। भगवान् महावीर के उत्तरकाल में दूसरे आचार्य जम्बू के बाद कोई केवली नहीं हुआ। क्रमशः अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान की परंपरा भी विच्छिन्न हो गई। पूर्वों का ज्ञान भी विच्छिन्न हो गया। इस विच्छेद के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैसे-जैसे स्थितात्मा या आत्मस्थता क्षीण होती गई वैसे-वैसे आन्तरिक ज्ञान का विकास अवरुद्ध होता चला गया। वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी के बाद बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक आदि दर्शनों का प्रभाव बढ़ा। एक दर्शन दूसरे दर्शन के खंडन में लगा, तब वाद और मंत्र की विशेष अपेक्षा प्रतीत हुई। इस अपेक्षा ने वाद को अधिक मूल्य दिया। जैन परंपरा में भी 'वादिवेताल' और 'वादिकेशरी' जैसी उपाधियां प्रचलित हुईं। 'वादनिपुण व्यक्ति ही जैन शासन की रक्षा कर सकता है'—यह विश्वास दृढ़ हो गया। 'जिसे अधिक मूल्य मिलता है उसका विकास अधिक होता है।' इस नियम के अनुसार स्थितात्मा मुनियों का स्थान वादी मुनि लेने लगे। 'प्रमेयकमलमार्तण्ड', 'प्रमाणनयतत्व' आदि ग्रन्थों में वाद का पूरा प्रकरण उपलब्ध होता है। वादि, प्रतिवादि, सभ्य और सभापति की व्यवस्था मिलती है। नैयायिकसम्मत वाद पद्धति का जैन आचार्यों ने परिमार्जन किया पर वाद आखिर वाद है। उसका सम्बन्ध बुद्धि से है। आत्मानुभूति का मार्ग उससे भिन्न है। वाद के साथ जय-पराजय की व्यवस्था जुड़ी हुई है। इसलिए प्रतिवाद को परास्त करने की दृष्टि से मंत्र का प्रयोग भी उसके साथ चलता था। जैन आचार्यों ने मंत्र-विद्या के प्रयोग में बहुत सावधानी बरती। अहिंसा को दृष्टि से ओझल नहीं किया। फिर भी आत्मानुभूति के मार्ग में वे प्रयोग बाधक बने।

तपस्या की आराधना के द्वारा सहजरूप में लब्धियां प्राप्त होती थीं, उससे अध्यात्म को क्षीण होने का मौका नहीं मिलता था। किन्तु वाद और मन्त्र के प्रयोग ने क्रमशः अध्यात्म भावना को गौण बना दिया। निश्चय नय की बात गौण तथा व्यवहार या शक्ति-अर्जन की बात मुख्य हो गई। वह शक्ति मस्तिष्कीय शक्ति का चमत्कार है। मंत्रशक्ति तैजस शरीर की शक्ति का

चमत्कार है। आत्मानुभूति या ध्यान आत्मा की आन्तरिक शक्ति का विकास है। प्रथम दोनों शक्तियों से तीसरी शक्ति अभिभूत हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि जिस जैन परम्परा ने वीतरागता पर सबसे अधिक बल दिया था वह बाहरी आचार और व्यवहार में उलझ गई। धर्म, साधुत्व और श्रावकत्व के मानदण्ड बदल गए। आज हम बाहरी आचार से सन्तुष्ट हैं, वीतरागता के प्रति उतने सजग नहीं हैं। भगवान् महावीर ने कहा था—'कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं'—दुःख कामनाओं से उत्पन्न होता है। कामना से उत्पन्न होने वाला दुःख कामना से नहीं मिटाया जा सकता। उसे मिटाया जा सकता है वीतरागता के द्वारा। भगवान् ने कहा है—'तस्संतगं गच्छइ वीयरागो'—वीतराग उस दुःख का पार पा जाता है। केवल वीतराग ही दुःख के सिन्धु का पार पाता है। हमने वीतराग को ही अपना पथ-दर्शक चुना है, किसी रागवान् को नहीं। वह वीतरागता अध्यात्म योग के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है—न वाद के द्वारा और न मंत्र के द्वारा। हमारी सारी साधना-पद्धति वीतरागता की उपलब्धि के लिए है। हमारा ध्यान भी उसी की सिद्धि के लिए है। आज उस ध्यान की शब्दावली और परिभाषा उपलब्ध है पर उसके रहस्य विस्मृत हो चुके हैं। भगवान् महावीर की पचीसवीं निर्वाण शताब्दी के इस अवसर पर उन विस्मृत रहस्यों को खोजना है, टूटी कड़ियों को फिर से जोड़ना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आज जैन परम्परा में एक समर्थ ध्यान शाखा की अपेक्षा है। हमें प्राचीन ध्यान-पद्धति का मनोविज्ञान के सन्दर्भ में मूल्यांकन करना है। मनोविज्ञान ने विकलन, विश्लेषण, निर्देशन तथा मार्गान्तरीकरण आदि तथ्यों का निरूपण किया है। उनका जैन ध्यान पद्धति के साथ बहुत अधिक सामंजस्य है। उनका तुलनात्मक अध्ययन होना चाहिए तथा नए अनुभवों का समावेश भी होना चाहिए। पूर्ववर्ती आचार्यों ने विभिन्न पद्धतियों का जो समावेश किया वह बिना सोचे-समझे नहीं किया। उन्होंने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ उनका समावेश किया। मैं उसका खंडन नहीं कर रहा हूं। मैंने जो कुछ कहा है उसका तात्पर्य यह है कि मौलिक और समावेश का भेद हमारे सामने स्पष्ट होना चाहिए। हमारी मौलिक पद्धति विपश्यना है, अन्तर्मुखी होना या आत्म-निरीक्षण है। इसे पुनर्जीवित कर हम साधना की नई दिशा उद्घाटित कर सकते हैं। आज जैन परम्परा में लगभग चार हजार साधु-साध्वियां हैं। सौ-दो सौ साधु-साध्वियां इस कार्य में लगें, जन सम्पर्क, प्रचार और उपदेश से मुक्त होकर केवल

आत्मा की गहराई में जाएं तो बहुत बड़ा काम हो सकता है। और इस प्रक्रिया से हम अपनी मौलिक ध्यान पद्धति के बारे में आने वाली जिज्ञासा का साधिकार समाधान दे सकते हैं। वीतरागता की कमी के कारण वर्तमान साधु-संस्था में तथा विश्व के समक्ष जो संकट उपस्थित हुआ है उसका निवारण वीतरागता के विकास द्वारा ही किया जा सकता है।

• कायोत्सर्ग, भावना और ध्यान—इनके अभ्यास का क्रम क्या है ?

सबसे पहले भावना का अभ्यास करना चाहिए। जब तक भावना के द्वारा मन भावित नहीं होता तब तक ध्यान करने की योग्यता नहीं आती। यह मनोविज्ञान के विलयन का सिद्धान्त है। विलयन के दो प्रकार हैं—योग और वियोग। यदि हम प्रवृत्ति (योग) का निरोध नहीं करते हैं तो वह बढ़ती चली जाती है। जिस प्रवृत्ति का निरोध कर देते हैं वह कम हो जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों और दार्शनिकों ने यह माना है कि जिस प्रवृत्ति को हम लम्बे समय तक नहीं दोहराते वह समाप्त हो जाती है। वही प्रवृत्ति जीवित रहती है जिसकी पुनरावृत्ति होती है। यह विरोध अर्थात् प्रतिपक्ष का सिद्धांत है। भगवान् महावीर की वाणी में मिलता है—'उपशम से क्रोध, मृदुता से मान, ऋजुता से माया और संतोष से लोभ को जीतो।' विरोध के सिद्धान्त का तात्पर्य है एक प्रवृत्ति को विरोधी प्रवृत्ति के द्वारा समाप्त कर देना। भावना का सिद्धान्त भी यही है। पुराने संस्कार को तोड़ने के लिए नए संस्कार का निर्माण भावना के द्वारा होता है। जब तक राग-द्वेष का संस्कार प्रबल होता है तब तक हमारी प्रीति दूसरी ओर जाती है, ध्यान की ओर नहीं जाती। भावना के द्वारा उस संस्कार को बलहीन करने पर ही ध्यान के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है। तृष्णा के स्थान पर वैराग्य की भावना, अज्ञान के स्थान पर ज्ञान की भावना, मिथ्यादृष्टि के स्थान पर सम्यग् दर्शन की भावना और रागात्मक प्रवृत्तियों के स्थान पर चारित्र की भावना का अभ्यास कर ध्यान की भूमिका का निर्माण किया जा सकता है। ध्यान के वातावरण की दृष्टि से कायोत्सर्ग का स्थान पहला हो सकता है किन्तु ध्यान के प्रति प्रीति उत्पन्न होने की दृष्टि से भावना का स्थान प्रथम है। ध्यान का वातावरण स्थिरता से निर्मित होता है। हमारी एकाग्रता में सबसे बड़ी बाधा है—शरीर की चंचलता। वह विसर्जित नहीं होती तब तक ध्यान की आंतरिक तैयारी पूर्ण नहीं होती। इस प्रकार अभ्यास का क्रम यह बनता है—भावना का अभ्यास, कायोत्सर्ग का अभ्यास, फिर ध्यान का अभ्यास।

• क्या आज ध्यान की आवश्यकता पहले से अधिक है ?

निश्चयनय (वास्तविकता) की दृष्टि से ध्यान की आवश्यकता जितनी पहले थी उतनी ही आज है। व्यवहार की दृष्टि से आज ध्यान की आवश्यकता पहले से अधिक है। जब प्रवृत्ति की बहुलता होती है तब निवृत्ति की अधिकता होती है। आज का युग प्रवृत्ति-बहुल युग है। इसलिए संतुलन की दृष्टि से निवृत्ति की अपेक्षा अधिक अनुभव हो रही है। यह निवृत्ति अकर्मण्यता नहीं है किन्तु एक विशेष प्रकार की कर्मण्यता है, जो मानवीय मन की अनेक समस्याओं का समाधान दे सकती है। मानसिक समस्याओं के समाधान के लिए ध्यान की अपेक्षा है। इस अपेक्षा की पूर्ति में जैन परम्परा का महत्त्व-पूर्ण योगदान हो, यह मेरी अपेक्षा है।

५ प्राणायाम : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

महर्षि पतंजलि के योगसूत्र में अष्टांग योग का व्यवस्थित निरूपण है। अष्टांगयोग में चौथा अंग प्राणायाम है।[१] जैन आगमों में योग के सात अंग नाम-भेद से प्राप्त हैं। जैसे—

पातंजल योगसूत्र—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्रत्याहार, ५. धारणा, ६. ध्यान, ७. समाधि।

जैन आगम—१. महाव्रत, २. नियम, ३. स्थानयोग (कायक्लेश), ४. प्रतिसंलीनता, ५. भावना, ६. धर्मध्यान, ७. शुक्लध्यान।

यहां एक विमर्श होता है कि जब योग के सातों अंग प्राप्त होते हैं तो केवल एक अंग अप्राप्त क्यों? प्राणायाम से वायु के जीवों की हिंसा की संभावना है, इस दृष्टि से उसे अस्वीकार किया गया या कोई दूसरा कारण हो सकता है? प्राणायाम का अर्थ तीव्रता से वायु का रेचन करना ही नहीं है। तीव्र प्राणायाम का निषेध जीव-हिंसा की दृष्टि से किया गया है,[२] किन्तु सूक्ष्म प्राणायाम का निषेध नहीं है। आवश्यक निर्युक्ति (विक्रम की ५-६ शती) में उच्छ्वास के निरोध का निषेध किया गया है।[३] उसके आधार पर आचार्य हेमचंद्र और उपाध्याय यशोविजयजी ने प्राणायाम को वर्जित माना है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार प्राणायाम से मन शान्त नहीं होता, किन्तु विलुप्त होता है।[४]

---

१. योग सूत्र २।२९ :
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावङ्गानि।

२. आवश्यक निर्युक्ति; आवश्यक चूर्णि १५२४ :
ततश्च सूक्ष्मोच्छ्वासमेव यतनया मुंचति, नोल्वणं मा भूत सत्वघातः।

३. आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति अवचूर्णि, गा० १५२४।

४. योगशास्त्र (क) ६।४ :
(क) तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं, प्राणायामैः कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा, तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः॥

(ख) वही, ५।५ :
पूरणे कुम्भने चैव, रेचने च परिश्रमः।
चित्त संक्लेशकरणात्, मुक्तेः प्रत्यूहकारणम्॥

उन्होंने प्राणायाम को ध्यान के लिए उपयोगी नहीं माना। शारीरिक दृष्टि से उसकी उपयोगिता मान्य की है।[1] उपाध्याय यशोविजयजी ने लिखा है—'प्राणायाम आदि हठ योग का अभ्यास चित्त-निरोध और परम इन्द्रिय-गेय का निश्चित उपाय नहीं है। आगम–(आवश्यक निर्युक्ति) निषिद्ध होने तथा योग समाधान का विघ्न होने के कारण उसका प्रायः निषेध किया गया है।[2] आवश्यक सूत्र के अनुसार कायोत्सर्ग में उच्छ्वास और निःश्वास विहित है। निर्युक्तिकार ने उस विधि का हेतु स्पष्ट किया है। उसका तात्पर्य यह है कि उच्छ्वास के निरोध से सद्योमरण हो सकता है, इसलिए उसका निरोध नहीं करना चाहिए। स्थानांग में अकाल-मृत्यु के सात कारण बतलाए गए हैं। उनमें एक कारण आन-प्राण का निरोध है।[3] निर्युक्तिकार ने उच्छ्वास के पूर्ण निरोध का निषेध किया है, किन्तु इससे समग्र प्राणायाम का निषेध प्राप्त नहीं होता। उन्होंने उच्छ्वास को सूक्ष्म करने का स्वयं उल्लेख किया है।[4]

प्राणायाम के तीन अंग हैं—रेचक, पूरक और कुम्भक। उच्छ्वास-निरोध का सम्बन्ध केवल कुंभक से है। आवश्यक निर्युक्तिकार को सामान्य कुम्भक का निषेध अभिप्रेत नहीं है। उन्हें दीर्घकालीन कुम्भक का निषेध अभिप्रेत है।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्राणायाम को मानसिक विलुप्ति का हेतु माना है। उस पर योगवाशिष्ठ का प्रभाव परिलक्षित होता है।[5] कायोत्सर्ग जैन साधना

१. योगवृत्ति, पत्र ३४१ :
न च प्राणायामो मुक्तिसाधने ध्याने उपयोगी, असौमनस्य कारित्वात्, यदाहु—'ऊसासं न निरूंभइ'—तथापि कायारोग्य कालज्ञानादौ स उपयोगीत्यस्माभिरपीहोपदर्श्यते।

२. जैन दृष्ट्यापरीक्षितं पातंजलयोगदर्शनम् २।५५ :
न च प्राणायामादि हठयोगाभ्यासश्चित्तनिरोधे परमेन्द्रियजये च निश्चित उपायोस्ति। 'ऊसासं ण णिरूं भइ' इत्याद्यागमेन योगसमाधानविघ्नत्वेन बहुलं तस्य निषिद्धत्वात्।

३. स्थानांग ७

४. आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक निर्युक्ति अवचूर्णि, गाथा १५२४ :
उस्सासं न निरूभइ, आभिग्गहिओवि किम् अ चिट्ठाउ।
सज्जमरणं निरोहे सुहुमुस्सासं तु जयणाए॥

५. योगवाशिष्ठ १०

की विशिष्टि प्रक्रिया है। मुनि के लिए वह दिन में अनेक बार करणीय है।[1] आचार्य अमितगति ने एक दिन-रात के कायोत्सर्ग की संख्या अट्ठाईस मानी है[2]—(१) स्वाध्याय काल में १२, (२) वंदनाकाल में ६, (३) प्रतिक्रमण काल में ८, और (४) योगभक्तिकाल में २।

एक दिन-रात में इतनी बार कायोत्सर्ग करनेवाला प्राणायाम से अपरिचित कैसे रह सकता है? कायोत्सर्ग का कालमान श्वासोच्छ्वास से किया जाता था। आवश्यक निर्युक्ति के अनुसार कायोत्सर्ग का उच्छ्वासमान इस प्रकार है[3]—

कायोत्सर्ग	उच्छ्वास	कायोत्सर्ग	उच्छ्वास
दैवसिक	१००	चातुर्मासिक	५००
रात्रिक	५०	सांवत्सरिक	१००८
पाक्षिक	३००		

अन्य अनेक प्रयोजनों में आठ, सोलह, पचीस सत्ताईस, एक सौ आठ उच्छ्वासमान कायोत्सर्ग का विधान प्राप्त है।[4] नमस्कार महामंत्र की नौ आवृत्तियां सत्ताईस श्वासोच्छ्वास में की जाती हैं।[5] उच्छ्वास का कालमान एक चरण के समान मान्य है।[6]

श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म प्रक्रियाओं की स्वीकृति प्राणायाम की स्वीकृति है। इस आधार पर यह तथ्य संपुष्ट होता है कि प्राणायाम जैन परम्परा में सम्मत रहा है। प्राणायाम शब्द महर्षि पतंजलि द्वारा आविष्कृत हो सकता है। प्राचीन उपनिषदों में प्राणायाम का उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि प्राणायाम के पुरस्कर्ता महर्षि पतंजलि हैं। हठयोग की परम्परा में वह योग-सूत्र से ही उद्धृत किया गया है।

बौद्ध साधना-पद्धति में आनापान स्मृति की प्रतिपत्ति है। वह प्राणायाम

---

१. 'दशवैकालिक, चूलिका २।७ :
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी

२. अमितगति श्रावकाचार, ८।६६, ६७।

३. आवश्यक निर्युक्ति, १५४४।

४. आवश्यक निर्युक्ति, १५४८, १५५२।

५. अमितगतिश्रावकाचार ८।६९।

६. व्यवहार भाष्य १२२ :
पायसमा ऊसासा, कालपमाणेण होंति नायव्वा।

का ही दूसरा पर्याय है। जैन-साधना पद्धति में कायोत्सर्ग प्राणायाम संयुक्त होता है।

जैन साधना में प्राणायाम की परम्परा बहुत प्राचीन है। जैन साहित्य के दो मौलिक विभाग हैं—पूर्व और अंग। इनमें अंगों की अपेक्षा पूर्व अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। पूर्व-श्रुत के चौदह विभाग हैं। उनमें बारहवां विभाग समवायांग[1] और नन्दी के अनुसार प्राणायु[2] और कषायापाहुड के अनुसार प्राणवायु है।[3] नन्दी चूर्णि के अनुसार प्राणायु पूर्व में आयु-प्राण तथा अन्य प्राणों का वर्णन है।[4] प्राण दस हैं—१. स्पर्शन इन्द्रिय प्राण, २. रसन इन्द्रिय प्राण, ३. घ्राण इन्द्रिय प्राण, ४. चक्षु इन्द्रिय प्राण, ५. श्रोत्र इन्द्रिय प्राण ६. मन प्राण, ७. वचन प्राण, ८. काय प्राण, ९. श्वासोच्छ्वास प्राण, १०. आयुष्य प्राण।

वीर सेनाचार्य के अनुसार प्राणवायु पूर्व दस प्राणों की हानि और वृद्धि का वर्णन करता है[5] तथा मनुष्य पशु आदि से सम्बन्धित अष्टांग आयुर्वेद का निरूपण करता है।[6]

धवला में जयधवला जैसा ही वर्णन है। केवल एक बात पर विशेष बल दिया गया है कि प्राणावाय पूर्व में प्राण और अपान का विभाग विस्तार से

---

१. समवायांग, समवाय १४।

२. नंदी, सूत्र ५६।

३. कषाय पाहुड, जयधवला, भाग १, पृ० २६।

४. नंदी चूर्णि, पृ० ५८, हारिभद्रीया वृत्ति, पृ० १०८ :
बारसमं पाणाउं, तत्थ आउं प्राणविधानं सव्वं सन्नेयं अन्ने य प्राणा वन्निता।
मलयगिरि वृत्ति पत्र २४१ :
द्वादश प्राणायुः प्राणाः पंचेन्द्रियाणि त्रीणि मानसादीनि बलानि उच्छ्वास-निश्वासौचायुश्च प्रतीतम्, ततो यत्र प्राणा आयुश्च सप्रभेदमुपवर्ण्यन्ते, तदुपचारतः प्राणायुरित्युच्यते।

५. कषाय पाहुड़, जयधवला, भाग १, पृ० १४६ :
पाणावायपवादो दसविइ पाणाणं हाणिवड्ढीओ वण्णेदि।

६. कषाय पाहुड़, जयधवला, पृ० १४६-१४७ :
करि-तुरय-णारायि-संबद्ध मठ्ठंगमाउव्वेदं भणदि त्ति वृत्तं होदि।

वर्णित है।[1] आचार्य अकलंक ने भी इसी वाक्य को उद्धृत किया है।[2] प्राणायु या प्राणावाय पूर्व के विषय-वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि जैन आचार्य प्राणापान से पूर्ण परिचित थे। योग-निरोध की प्रक्रिया में आनापान निरोध की चर्चा से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।[3]

प्राणायाम की प्रक्रिया से परिचित होना और उसका प्रचलित होना एक बात नहीं है। क्या जैन-मुनियों में प्राणायाम की साधना प्रचलित थी? इस प्रश्न का उत्तर हकार की भाषा में दिया जा सकता है। इसकी पुष्टि के लिए महाप्राण-ध्यान प्रस्तुत किया जा रहा है।

महाप्राण ध्यान

ध्यान विचार में ध्यान मार्ग के चौबीस प्रकार बतलाए गए हैं। उनमें से पांचवां प्रकार कला और छठा प्रकार महाकला है।[4] ये दोनों समाधि के प्रकार हैं। इनमें प्राण सूक्ष्म हो जाता है। कला में प्राण अपने आप चढ़ जाता है, किन्तु उसे उतारने के लिए दूसरे व्यक्ति का सहयोग लेना होता है। आचार्य पुष्यभूति ने महाप्राण का ध्यान प्रारम्भ किया। इस ध्यान में प्रवेश करते समय योग-निरोध (मन, वचन और शरीर का निरोध) किया जाता है। उसमें बाह्य संवेदन समाप्त हो जाता है। पुष्यमित्र नाम का शिष्य उनका सहयोग कर रहा था। अब हुश्रुत शिष्यों के दबाव के कारण पुष्यमित्र को समय से पहले ही आचार्य की समाधि का भंग करना पड़ा। उन्होंने आचार्य के पैर के अंगूठे का स्पर्श किया और उनकी कला जागृत हो गई। महाप्राण ध्यान को ध्यान संवर योग भी कहा जाता है।[5] महाकाल में प्राण अपने आप चढ़ जाता है और अपने आप उतर जाता है। भद्रबाहु स्वामी ने महाप्राण

---

१. षट्खण्डागम, खण्ड ४, भाग १, पुस्तक ९ पृ० २२३-२२४ :
कायचिकित्साद्यष्टांगः आयुवदः भूतिकर्मजाङ्गलिप्रक्रमः प्राणापान—विभागो यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम्। अत्रोपयोगी गाहा—
उस्सासा उ अपाणा इंदियपाणा परोकम्मो प्राणा।
एदेंसि पाणाणं वड्ढी हाणीओ वण्णेदि॥

२. राजवार्तिक १।२०।

३. उत्तराध्ययन २९।७३।

४. ध्यानविचार, नमस्कार स्वाध्याय, पृ० २२७।

५. आवश्यक, हारिभद्रीया वृत्ति, पृ० ७२२।

ध्यान की साधना की थी। यह ध्यान बारह वर्षों से सिद्ध होता है।[1] महाप्राण ध्यान के सिद्ध हो जाने पर प्राण इतना सूक्ष्म हो जाता है कि चौदह पूर्वों की विशाल ज्ञान-राशि का (सूत्र और अर्थ दोनों दृष्टियों से) एक मुहूर्त्त में पुनरावर्तन किया जा सकता है।[2] महाप्राण ध्यान से सूक्ष्म आन-प्राणलब्धि प्राप्त हो जाती है, उससे पुनरावर्तन की कल्पनातीत क्षमता विकसित हो जाती है।[3]

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जैन परम्परा में महाप्राण ध्यान प्रचलित रहा है। यह ध्यान प्राणायाम के साथ ही किया जाता है। चित्त और श्वास का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जहां चित्त है वहां श्वास है और जहां श्वास है वहां चित्त है। चित्त और श्वास में दूध और पानी जैसी व्याप्ति है।[4]

भस्त्रिका आदि तीव्र श्वास वाले प्राणायामों का ध्यान से सम्बन्ध नहीं है। वे शरीर-सम्बद्ध हैं। उनसे नाड़ी-शोधन होता है, इसलिए परोक्षतः वे ध्यान में सहायक हो सकते हैं, किन्तु उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध शरीर से ही है। प्राण को सूक्ष्म करने वाले प्राणायाम ध्यान से सम्बन्धित हैं। अतः ध्यान का अभ्यास करने वाला कोई भी व्यक्ति प्राणायाम की उपेक्षा नहीं कर सकता।

ध्यान और प्राणायाम की परस्पर संवादिता है। चित्त एकाग्र होता है, और प्राण अपने आप सूक्ष्म हो जाता है। तब चित्त अपने आप एकाग्र हो जाता है। आचार्य हेमचन्द्र मन को चंचल बनाने वाले प्राणायाम के पक्ष में

---

१. परिशिष्ट पर्व ९।६१ :

सौप्युवाच महाप्राणं, ध्यानमारब्धमस्ति यत् ।
साध्यं द्वादशभिर्वर्षैः, नागमिष्याम्यहं ततः ॥

२. परिशिष्ट पर्व ९।६२ :

महाप्राणे हि निष्पन्ने, कार्ये कस्मिंश्चिदागते ।
सर्वपूर्वाणि गुण्यन्ते, सूत्रार्थाभ्यां मुहूर्त्ततः ॥

३. ओघनिर्युक्ति ५२१, वृत्ति :

मुहूर्त्तमात्रं करोति जघन्यतो गाथात्रयं पठति, उत्कृष्टतश्चतुर्दशापि पूर्वाणि सूक्ष्माणप्राणलब्धिसंपन्न परावर्तयति ।

४. योगशास्त्र ५।२ :

मनो यत्र मरुत्तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः ।
अतस्तुल्यक्रियावेतौ, संवीतौ क्षीरनीरवत् ॥

नहीं हैं, किन्तु सूक्ष्म प्राणायाम के पक्ष में हैं। उन्होंने पवन-रोध की स्थिति को ध्यान के लिए आवश्यक माना है।[1] उन्होंने अपने अनुभव सूत्र में लिखा है कि मन का गतिरोध स्वयं हो जाता है, फिर उसके लिए रेचक, पूरक और कुम्भक का अभ्यास करने वाले की आवश्यकता नहीं रहती। चिर-कालीन प्रयत्नों से स्थिर नहीं होने वाला प्राण मनोनिरोध की दशा में तत्काल निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार योगी उन्मूलित श्वास या श्वास-विहीन हो जाता है।[2]

श्वास के निरोध या मन्दीकरण की स्थिति जैन आचार्यों को निरन्तर मान्य रही है। 'पासनाहचरियं' में कुछ ध्यान सम्बन्धी गाथाएं उद्धृत हैं। उनमें ध्यान की प्रक्रिया बतलाई गई है। एक गाथा का आशय यह है—पर्यंक आसन, मन, वचन और शरीर की चेष्टा का निरोध, नासाग्र पर दृष्टि और श्वास-निश्वास का मन्दीकरण करने वाला ध्याता होता है।[3]

सोमदेव सूरि ने ध्याता को सूक्ष्मप्राण होने का परामर्श दिया है। उन्होंने लिखा है—साधक मन्दगति से श्वास ले और छोड़े। न तो वायु को रोके और न शीघ्रता से छोड़े। उनके अनुसार जो प्राणायाम के प्रयोग में निपुण होता

---

१. प्राकृत द्वयाश्रय महाकाव्य ७।५७ :
सन्धिअकरणं, रूम्मिअपवणं, रुज्झियमणं अपडिएहिं ।
झायव्यवाणमुणीहिं, अरहंताणं नमो ताणं ॥

२. योगशास्त्र १२ :
रेचकपूरककुम्भकरणाभ्यासक्रमं विनापि खलु ।
स्वयमेव नश्यति मरुत् विमनस्के सत्ययत्नेन ।४४॥
चिरमाहितप्रयत्नैरपि धर्तुं यो हि शक्यते नैव ।
सत्यमनस्के तिष्ठति ससमीरस्तत्क्षणादेव ॥४५॥
मुक्त इव भाति योगी, समूलमुन्मूलितश्वासः ४६॥
यो जाग्रदवस्थायां, स्वस्थः सुप्त इव तिष्ठति लयस्य ।
श्वासोच्छ्वासविहीनः स हीयते न खलु मुक्तिजुषः ॥४७॥

३. पासानाहचरियं, पृ० ३०४ :
पलियंकं बंधेउं, निरुद्धमणवयणकायवावारो ।
नासाग्गनिमियनयणो, मंदीकयसासनीसासो ॥

है, वह सम्यक्सिद्ध को प्राप्त करता है।[1]

मनोविज्ञान के अनुसार श्वास नैसर्गिक प्रवृत्ति है। वह प्रयत्न किए बिना ही आता-जाता है। किन्तु चित्त के अभाव में यह स्थिति नहीं रहती। ध्याता जब निश्चितीकरण की भूमिका में आरूढ़ होता है तब चित्त का अभाव हो जाता है। उसके अभाव में श्वास का भी अभाव हो जाता है।[2] वह प्राणायाम की विशिष्ट भूमिका है।

चर्चित विषय को निष्कर्ष की भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. जैन आचार्य तीव्र प्राणायाम के समर्थक नहीं थे। वे उसे मानसिक एकाग्रता का हेतु नहीं मानते थे।

२. सूक्ष्म प्राणायाम का समर्थन ही नहीं, अभ्यास भी करते थे।

३. सूक्ष्म प्राणायाम की परम्परा उत्तरवर्ती ग्रन्थों में ही नहीं, आगमतुल्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है। भद्रबाहु स्वामी ने सूक्ष्म प्राणायाम के साथ धर्म्य और शुक्लध्यान करने की विधि का निर्देश किया है।[3]

४. श्वास की सामान्य प्रक्रिया का अभ्यास कुछेक मुनि नहीं करते थे। किन्तु प्रायः सभी करते थे और विशिष्ट प्रक्रियाओं का अभ्यास विशिष्ट ज्ञानी मुनि करते थे।

५. दीर्घकालीन कुम्भक या उच्छ्वासनिरोध सामान्य भूमिका में निषिद्ध था। चतुर्दश पूर्वी मुनि या वैसे शक्ति-संपन्न मुनि ही उसके लिए अधिकारी होते थे। आवश्यक निर्युक्तिगत उच्छ्वास-निरोध का निषेध साधारण शक्ति वाले अधिकारी तथा चामत्कारिक प्रलोभनों में फंस जाने वाले अल्पश्रुत मुनियों के लिए ही किया गया प्रतीत होता है।

इन निष्कर्षों के आधार पर हम जैन परम्परा में प्राणायाम की आज विस्मृत किन्तु चिरंतन पद्धति को अस्वीकृति नहीं दे सकते।

---

१. यशस्तिलकचंपू ३६ :
मन्दं मन्दं क्षिपेद् वायुं, मन्दं मन्दं विनिक्षिपेद् ॥
न क्वचिद् वार्यते वायुः, न च शीघ्रं प्रमुच्यते ॥७१६॥
पवन-प्रयोग-निपुणः, सम्यक्-सिद्धो भवेदशेषज्ञः ॥६०३॥

२. ध्यानविचार, नमस्कार स्वाध्याय, पृ० २४३ :
चित्तं त्रिकालविषयं, चिंतनं तदभाव उच्छ्वासाभावहेतुः।

३. आवश्यक निर्युक्ति १५१४ : आवश्यक निर्युक्ति अवचूर्णि, पृ० २२१ :
ताव सुहुमाणुपाणू, धम्मं सुक्कं च झाइज्जा ॥